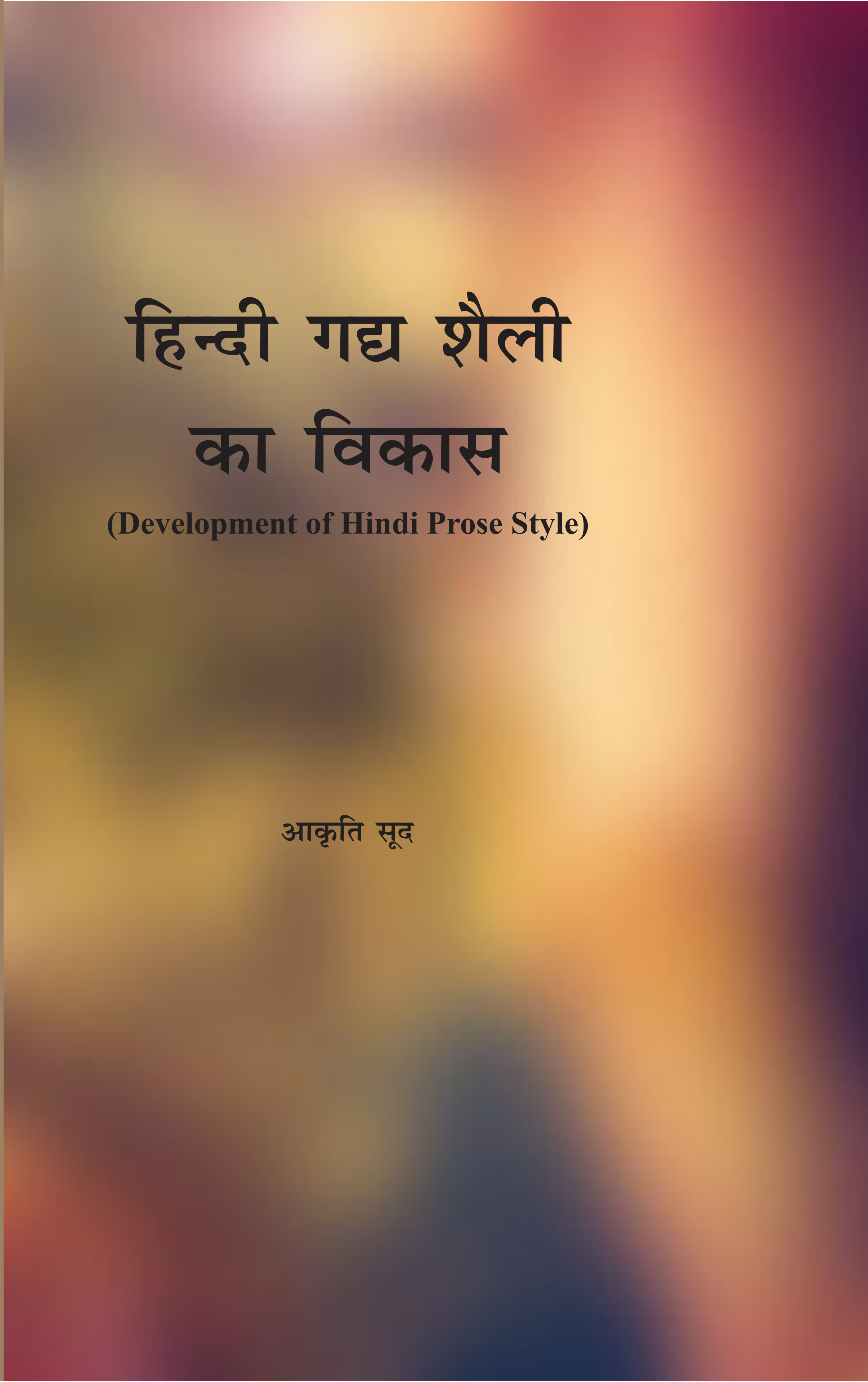

हिन्दी गद्य शैली का विकास

(Development of Hindi Prose Style)

आकृति सूद

हिन्दी गद्य शैली का विकास

हिन्दी गद्य शैली का विकास

(Development of Hindi Prose Style)

आकृति सूद

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली – 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5621-9

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002
द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

गद्य का प्रारंभ इतिहास, विज्ञान, सौंदर्यशास्त्र इत्यादि की भाषा के रूप में हुआ। बाद में वह उपयोग से कला की ओर प्रवृत्त हुआ। रूपों के विकास के आधार पर उसकी तीन स्थूल कोटियाँ बनी हैं-वर्णनात्मक, जिसमें कथा, इतिहास, जीवनी, यात्रा इत्यादि आते हैं। विवेचनात्मक, जिसमें विज्ञान, सौंदर्यशास्त्र, आलोचना, दर्शन, धर्म और नीतिशास्त्र, विधि, राजनीति इत्यादि आते हैं, एवं भावात्मक, जिसमें ऊपर के अनेक विषयों के अतिरिक्त आत्मपरक निबंध और नाटक आते हैं।

विषयों के अनुसार गद्य में प्रवाह, स्पष्टता, चित्रमयता, लय, व्यक्तिगत अनुभूति, अलंकरण इत्यादि की मात्राओं में हेर फेर का होना आवश्यक हैं, किंतु गद्य की कोटियों के बीच दीवारें नहीं खड़ी की जा सकती। लेखक की रुचि और प्रयोजन के अनुसार वे एक दूसरे में अंत:प्रविष्ट होती रहती हैं।

आधुनिक युग में उपन्यास गद्य की विशेष प्रयोगशाला बन गया है। कविता रह रहकर काफी दिनों तक शब्दों के पथ्य पर रहती है, गद्य में नए-पुराने, सूखे-चिकने सभी प्रकार के शब्दों को पचाने की अद्‌भुत शक्ति होती है। बोनामी डाब्री के अनुसार सारा अच्छा जीवित गद्य प्रयोगात्मक होता है। उपन्यास गद्य की इस क्षमता का पूरा उपयोग कर सकता है। ऐसे प्रयोग इंग्लैंड की अपेक्षा अमरीका में अधिक हुए हैं और विंढम लिविस, हेमिंग्वे, स्टीन, फाकनर, ऐंडर्सन इत्यादि ने अपने प्रयोगों के द्वारा अंग्रेजी गद्य को नया रक्त दिया है।

गद्य में तेजी से केंचुल बदलने की शक्ति का अनुमान हिंदी गद्य के तेज विकास से भी किया जा सकता है, हालाँकि उसका इतिहास बहुत पुराना नहीं। भविष्य में गद्य के विकास की ओर संकेत करते हुए एक अंग्रेज आलोचक मिडिलटन मरी ने लिखा है–'गद्य की विस्तार सीमा अनंत है और शायद कविता की उपेक्षा उसकी संभावनाओं की कम खोज हुई है।'

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है, मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ। आशा करती हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

–लेखक

अनुक्रम

प्रस्तावना *v*

1. **विषय बोध** **1**
   - भारतेंदु पूर्व युग 5
   - भारतेंदु युग 5
   - अद्यतन काल 7
   - 'हिंदी' शब्द की व्युत्पत्ति 8
   - आधुनिक काल (1800 से अब तक) 11
   - भाषा-क्षेत्र एवं हिन्दी भाषा 14
   - भाषा क्षेत्र 17
2. **भारतेंदु पूर्व हिंदी गद्य शैली का विकास** **38**
   - सदल मिश्र का योगदान 43
   - प्रमुख साहित्य 45
   - सत्यार्थ प्रकाश 48
   - सत्यार्थ प्रकाश का प्रयोजन 49
   - सत्यार्थ प्रकाश की संरचना 50
   - शाब्दिक अर्थ 54
3. **भारतेंदु युग में हिन्दी गद्य शैली का विकास** **56**
   - जीवन एवं योगदान 60

हिंदी साहित्य को आधुनिक बनाया 60
हिंदी साहित्य के भारतेंदु युग में मूल्य 66
भारतेन्दु मण्डल 72
समालोचना 76
पंडित बालकृष्ण भट्ट 76
साहित्य सेवा और स्थान 80
ठाकुर जगमोहन सिंह 83
राधाचरण गोस्वामी 85
भारतेन्दु-युगीन नाटक 91
अनूदित और रूपान्तरित नाटक 93
भारतेन्दु युग में निबंध 97
4. द्विवेदी युग में हिन्दी गद्य शैली का विकास 100
नामकरण 101
द्विवेदीजी का योगदान 101
साहित्य 102
नाट्य साहित्य 103
रचनाएँ 103
नाट्य लेखन 103
रामचन्द्र शुक्ल की विवेचना 105
साहित्य के लिए रचनात्मक संघर्ष 106
द्विवेदी युगीन निबंध 111
द्विवेदीयुगीन नाटक 113
पौराणिक नाटक 115
ऐतिहासिक नाटक 115
सामाजिक-राजनैतिक समस्यापरक नाटक 116
व्यावसायिक दृष्टि से लिखे नाटक 116
प्रहसन 117
अनूदित नाटक 117
बाबू मैथिलीशरण गुप्त 119
पंडित रामचरित उपाध्याय 120

पंडित लोचन प्रसाद पांडेय 120
पंडित राम नरेश त्रिपाठी 122
व्याकरण ग्रंथ–हिंदी व्याकरण 126
श्रीधर पाठक 127
5. शुक्ल युग में हिन्दी गद्य शैली का विकास 129
जीवन परिचय 129
प्रेमचंद 138
प्रेमचंद के जीवन संबंधी विवाद 145
मुंशी के विषय में विवाद 146
भगवती चरण वर्मा और हिन्दी साहित्य 149
बाबू गुलाबराय 152
वर्ण्य विषय 152
भाषा-शैली 153
भारतीय डाकटिकट पर बाबू गुलाबराय 154
ग्रन्थावली एवं ऐतिहासिक व्याकरण 165
रचनात्मक वैशिष्ट्य 166
महत्त्वपूर्ण कार्य 168
कृतियाँ 170
रामकुमार वर्मा 174
आलोचक 180
हिंदी एकांकी के जनक 180
आलोचकों का दृष्टिकोण 181
6. शुक्लोत्तर युग में हिन्दी गद्य शैली का विकास 183
जैनेंद्र कुमार 183
जीवन परिचय 183
प्रकाशित कृतियाँ 184
समालोचन 185
जीवनी 190
राहुल सांकृत्यायन 206
आरंभिक जीवन 207

बौद्ध–धर्म की ओर झुकाव 208
साहित्यिक रुझान 209
व्यक्तितत्त्व के आयाम 214
लेखन और पत्रकारिता 221
उच्च शिक्षा संघ 222
रचनाएँ 224
उपन्यास 'परती परिकथा' 228

1

विषय बोध

सामान्यतः मनुष्य की बोलने या लिखने पढ़ने की छंदरहित साधारण व्यवहार की भाषा को गद्य (prose) कहा जाता है। इसमें केवल आंशिक सत्य है, क्योंकि इसमें गद्यकार के रचनात्मक बोध की अवहेलना है। साधारण व्यवहार की भाषा भी गद्य तभी कही जा सकती है, जब यह व्यवस्थित और स्पष्ट हो। रचनात्मक प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए गद्य को मनुष्य की साधारण, किंतु व्यस्थित भाषा या उसकी विशिष्ट अभिव्यक्ति कहना अधिक समीचीन होगा।

मनुष्य की सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति का रूप गद्य है। कविता और गद्य में बहुत-सी बातें समान हैं। दोनों के उपकरण शब्द हैं, जो अर्थ परिवर्तन के बिना एक ही भंडार से लिए जाते है, दोनों के व्याकरण और वाक्यरचना के नियम एक ही हैं (कविता के वाक्यों में कभी-कभी शब्दों का स्थानांतरण, वाक्यरचना के आधारभूत नियमों का खंडन नहीं), दोनों ही लय और चित्रमय उक्ति का सहारा लेते हैं। वर्डस्वर्थ के अनुसार गद्य और पद्य (या कविता) की भाषा में कोई मूलभूत अंतर न तो है और न हो सकता है।

लेकिन इन सारी समानताओं के बावजूद कविता और गद्य अभिव्यक्ति के दो भिन्न रूप हैं। समान उपकरणों के प्रति भी उनके दृष्टिकोणों की असमानता प्रायः स्तर पर उभर आती है। लेकिन उनमें केवल स्तरीय नहीं, बल्कि तात्विक या गुणात्मक भेद है, जिसका कारण यह हैं कि कविता और गद्य जगत और जीवन के विषय में मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया के दो भिन्न रूपों की अभिव्यक्ति हैं। उनके

उदय और विकास के इतिहास में इसके प्रमाण मौजूद है। अपनी पुस्तक 'इल्यूजन ऐंड रिएलिटी' में कॉडवेल ने कविता की उत्पत्ति, सामाजिक उपादेयता और तकनीक का विस्तृत विवेचन करते हुए लिखा है कि साहित्य के सबसे प्रारंभिक रूप में कविता मनुष्य की साधारण भाषा का उन्मेषीकरण थी। उस काल कविता केवल रागात्मक न होकर इतिहास, धर्म, दर्शन, तंत्र, मंत्र, ज्योतिषि, नीति और भेषज संबंधी ज्ञान का भी वहन करती थी। उसे उन्मेष प्रदान करने के लिए संगीत, छंद, तुक, मात्र या स्वराघात, अनुप्रास, पुनरावृत्ति, रूपक इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। कालांतर में सभ्यता के विकास, समाज के वर्गीकरण, श्रमविभाजन और उद्‌बुद्ध साहित्यिक चेतना के कारण पहले की उन्मेषपूर्ण भाषा भी विभक्त हो गई। कविता ने अपने को रागों की उन्मेषपूर्ण भाषा के रूप में सीमित कर लिया और विज्ञान, दर्शन, इतिहास, धर्मशास्त्र, नीति, कथा और नाटक ने साधारण व्यवहार, अर्थात् कथ्य की भाषा को अपनाया। आवश्यकतानुसार प्रत्येक शाखा ने अपनी विशिष्ट शैली की विधि का विकास किया, उनमें आदान-प्रदान हुआ और उनसे स्वयं साधारण व्यवहार की भाषा भी प्रभावित हुई। मनुष्य का मानसिक जगत अपने को भाषा के दो विशिष्ट रूपों-कविता और गद्य-में प्रतिबिंबित करने लगा।

कविता और गद्य के उद्देश्यों में भेद और भाषा के उपकरण शब्दों के प्रति उनके दृष्टिकोण में भेद का गहरा संबंध है। कविता की उत्पत्ति मनुष्य के सामूहिक श्रम के साथ हुई। शब्द अनिवार्य: संगीत और प्राय: नृत्य के सहारे पूरे समूह के आवेगों को एक बिंदु पर संगठित कर कार्य संपन्न करने की प्रेरणा देते थे। फसल सामने नहीं थी, बीज बोना था। शब्दों का कार्य था लहराती फसल का मायावी चित्र उपस्थित कर पूरे समूह को बीज बोने के लिए प्रेरित करना। कॉडवेल के अनुसार इस मायावी सृष्टि के द्वारा शब्द शक्ति बन जाते थे। कविता सामूहिक भावों और आंकाक्षाओं का प्रतिबिंब थी और उन्हें सुद्‌बुद्ध और संगठित करने का अस्त्र थी। इसलिए कविता का सूक्ष्म कथ्य-उसके तथ्यों की वस्तु-नहीं, बल्कि समाज में उसकी गद्यात्मक भूमिका-उसके सामूहिक भावों की वस्तु-कविता का सत्य है।

सामाजिक जीवन में शब्द वस्तुनिष्ठ जगत के शुष्क प्रतीक मात्र नहीं रह जाते, बल्कि उनके साथ जीवन के अनुभव से उत्पन्न सरल से जटिल होते हुए भावात्मक संदर्भ जुड़ जाते हैं। कविता शब्दों के शुद्ध प्रतीकात्मक अर्थ की उपेक्षा नहीं कर सकती, लेकिन उसका मुख्य उद्देश्य शब्दों के भावात्मक संदर्भों को अर्थपूर्ण संगठन है। कविता शब्दों की नई सृष्टि है। हर्बर्ट रीड के शब्दों में कविता में चिंतन के दौरान शब्द बार-बार नया जन्म लेते हैं। अनेक भाषाओं में कवि के

लिये प्रयुक्त शब्द का अर्थ स्रष्टा है। गद्य शब्दों के भावात्मक संदर्भों के स्थान पर उनके वस्तुनिष्ठ प्रतीकात्मक अर्थ को ग्रहण करता है। गद्य में शब्दों के इस प्रकार के प्रयोग को ध्यान में रखकर हर्बर्ट रीड ने गद्य को निर्माणात्मक अभिव्यक्ति कहा है, ऐसी अभिव्यक्ति जिसमें शब्द निर्माता के चारों ओर प्रयोग के लिए ईंट गारे की तरह बने बनाए तैयार करते हैं।

स्पष्ट है कि शब्द के वस्तुनिष्ठ अर्थ और उसके भावात्मक संदर्भ को पूर्णतया विभक्त करना संभव है। यही कारण है कि कविता सर्वथा कथ्यशून्य नहीं हो सकती और गद्य सर्वथा भावशून्य नहीं हो सकता। कविता और गद्य की तकनीकों में पास्परिक आदान प्रदान स्वाभाविक है। किंतु जहाँ उनके विशिष्ट धर्मों का बोध नहीं होता, वहाँ हमें कविता के स्थान पर फूहड़ गद्य और पद्य के स्थान पर फूहड़ कविता के दर्शन होते हैं।

वस्तुनिष्ठ सत्य की भाषा कहने का अर्थ यह नहीं कि गद्य कविता से हेय है, या उसका सामाजिक प्रयोजन कविता से कम है, या वह भाषा की कलाशून्य अभिव्यक्ति है। वास्तव में बहुत से ऐसे कार्य जो कविता की शक्ति के बाहर है, गद्य द्वारा संपन्न होते हैं। बहुत पहले यह अनुभव किया गया कि कविता की छंदमय भाषा में विचारों का तर्कमय विकास संभव नहीं। कविता से कम विकसित अवस्था में भी गद्य की विशष्ट शक्ति को पहचानकर अरस्तु ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ रेटॉरिक में उसे प्रतीति परसुएशन, दूसरों को अपने विचारों से प्रभावित करने की भाषा कहा था, जिसके मुख्य तत्त्व हैं-विचारों का तर्कसंगत क्रम, वर्णन की सजीवता, कल्पना, चित्रयोजना, सहजता, लय, व्यक्तिवैचित्र्य, उक्ति-सौंदर्य, ओज, संयम। इनमें से प्रत्येक बिंदु पर कविता और गद्य की सीमाएँ मिलती हुई जान पड़ती हैं, किंतु दोनों में इनके प्रयोग की अलग अलग रीतियाँ हैं।

उदाहरणार्थ, उनके दो तत्त्व, लय और चित्रयोजना, लिए जा सकते हैं जिनकी बहुत चर्चा होती है। गद्य की लय में कविता की लय से अधिक लोच या विविधता होती है, क्योंकि गद्य में लय वाक्यरचना की नहीं बल्कि विचारों की इकाई होती है। कविता में प्राय:। लय को वाक्य रचना की इकाई बनाकर पुनरावृत्ति से प्रभाव को तीव्रता दी जाती है। कविता से कहीं ज्यादा गद्य में लय अनुभूति की वाणी है। प्राय: लय के माध्यम से ही गद्यकार के व्यक्तिव का उद्घाटन होता है।

कविता के प्राण चित्रयोजना में बसते हैं, जबकि गद्य में उसका प्रयोग अत्यंत संयम के साथ विचार को आलोकित करने के लिये ही किया जाता है। अंग्रेजी गद्य के महान शैलीकर स्विफ्ट के विषय में डॉ. जान्सन ने कहा था-यह दुष्ट कभी एक

रूपक का भी खतरा मोल नहीं लेता। मुख्य वस्तु यह है कि गद्य में भाषा की सारी क्षमताएँ विचार की अचूक अभिव्यक्ति के अधीन रहती हैं। कविता में भाषा को अलंकृत करने की स्वतंत्रता अक्सर शब्दों के प्रयोग और वाक्य रचना के प्रति असावधान रहने की प्रवृत्ति का कारण है। विशेषणों का जितना दुरुपयोग कविता में संभव है उतना गद्य में नहीं। कविता में संगीत को अक्सर सस्ती भावुकता का आवरण बना दिया जाता है। गद्य में कथ्य का महत्त्व उसपर अंकुश का काम करता है। इसलिये गद्य का अनुशासन भाषा के रचना सौंदर्य के बोध का उत्तम साधन है। टी. एस. इलियट के शब्दों में अच्छे गद्य के गुणों को होना अच्छी कविता की पहली और कम से कम आवश्यकता है।

गद्य का प्रारंभ इतिहास, विज्ञान, सौंदर्यशास्त्र इत्यादि की भाषा के रूप में हुआ। बाद में वह उपयोग से कला की ओर प्रवृत्त हुआ। रूपों के विकास के आधार पर उसकी तीन स्थूल कोटियाँ बनी हैं–वर्णनात्मक, जिसमें कथा, इतिहास, जीवनी, यात्रा इत्यादि आते हैं। विवेचनात्मक, जिसमें विज्ञान, सौंदर्यशास्त्र, आलोचना, दर्शन, धर्म और नीतिशास्त्र, विधि, राजनीति इत्यादि आते हैं, एवं भावात्मक, जिसमें ऊपर के अनेक विषयों के अतिरिक्त आत्मपरक निबंध और नाटक आते हैं। विषयों के अनुसार गद्य में प्रवाह, स्पष्टता, चित्रमयता, लय, व्यक्तिगत अनुभूति, अलंकरण इत्यादि की मात्राओं में हेर फेर का होना आवश्यक हैं, किंतु गद्य की कोटियों के बीच दीवारें नहीं खड़ी की जा सकती। लेखक की रुचि और प्रयोजन के अनुसार वे एक दूसरे में अंत:प्रविष्ट होती रहती है।

आधुनिक युग में उपन्यास गद्य की विशेष प्रयोगशाला बन गया है। कविता रह रहकर काफी दिनों तक शब्दों के पथ्य पर रहती है, गद्य में नए पुराने, सूखे चिकने सभी प्रकार के शब्दों को पचाने की अद्‌भुत शक्ति होती है। बोनामी डाब्री के अनुसार सारा अच्छा जीवित गद्य प्रयोगात्मक होता है। उपन्यास गद्य की इस क्षमता का पूरा उपयोग कर सकता है। ऐसे प्रयोग इंग्लैंड की अपेक्षा अमरीका में अधिक हुए हैं और विंढम लिविस, हेमिंग्वे, स्टीन, फाकनर, ऐंडर्सन इत्यादि ने अपने प्रयोगों के द्वारा अंग्रेजी गद्य को नया रक्त दिया है। गद्य में तेजी से केंचुल बदलने की शक्ति का अनुमान हिंदी गद्य के तेज विकास से भी किया जा सकता है, हालाँकि उसका इतिहास बहुत पुराना नहीं। भविष्य में गद्य के विकास की और संकेत करते हुए एक अंग्रेज आलोचक मिडिलटन मरी ने लिखा है–गद्य की विस्तार सीमा अनंत है और शायद कविता की उपेक्षा उसकी संभावनाओं की कम खोज हुई है।

भारतेंदु पूर्व युग

हिन्दी में गद्य का विकास 19वीं शताब्दी के आस-पास हुआ। इस विकास में कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इस कॉलेज के दो विद्वानों लल्लूलाल जी तथा सदल मिश्र ने गिलक्राइस्ट के निर्देशन में क्रमश: प्रेमसागर तथा नासिकेतोपाख्यान नामक पुस्तकें तैयार की। इसी समय सदासुखलाल ने सुखसागर तथा मुंशी इंशा अल्ला खां ने 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की इन सभी ग्रंथों की भाषा में उस समय प्रयोग में आनेवाली खडी बोली को स्थान मिला। ये सभी कृतियाँ सन् 1803 में रची गयी थीं।

आधुनिक खडी बोली के गद्य के विकास में विभिन्न धर्मों की परिचयात्मक पुस्तकों का खूब सहयोग रहा जिसमें ईसाई धर्म का भी योगदान रहा। बंगाल के राजा राम मोहन राय ने 1815 ईस्वी में वेदांत सूत्र का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवाया। इसके बाद उन्होंने 1829 में बंगदूत नामक पत्र हिन्दी में निकाला। इसके पहले ही 1826 में कानपुर के पं जुगल किशोर ने हिन्दी का पहला समाचार पत्र उदंतमार्तंड कलकत्ता से निकाला। इसी समय गुजराती भाषी आर्य समाज संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश हिन्दी में लिखा।

भारतेंदु युग

भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1885) को हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग का प्रतिनिधि माना जाता है। उन्होंने कविवचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन और हरिश्चंद्र पत्रिका निकाली। साथ ही अनेक नाटकों की रचना की। उनके प्रसिद्ध नाटक हैं–चंद्रावली, भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी। ये नाटक रंगमंच पर भी बहुत लोकप्रिय हुए। इस काल में निबंध नाटक उपन्यास तथा कहानियों की रचना हुई। इस काल के लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, राधा चरण गोस्वामी, उपाध्याय बदरीनाथ चौधरी प्रेमघन, लाला श्रीनिवास दास, बाबू देवकी नंदन खत्री और किशोरी लाल गोस्वामी आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश लेखक होने के साथ साथ पत्रकार भी थे।

श्रीनिवासदास के उपन्यास परीक्षागुरू–को हिन्दी का पहला उपन्यास कहा जाता है। कुछ विद्वान श्रद्धाराम फुल्लौरी के उपन्यास भाग्यवती को हिन्दी का पहला उपन्यास मानते हैं। बाबू देवकीनंदन खत्री का चंद्रकांता तथा चंद्रकांता

संतति आदि इस युग के प्रमुख उपन्यास हैं। ये उपन्यास इतने लोकप्रिय हुए कि इनको पढने के लिये बहुत से अहिंदी भाषियों ने हिंदी सीखी। इस युग की कहानियों में शिवप्रसाद सितारे हिन्द की राजा भोज का सपना महत्त्वपूर्ण है।

बलदेव अग्रहरि की सन 1887 में प्रकाशित नाट्य पुस्तक 'सुलोचना सती' में सुलोचना की कथा के साथ आधुनिक कथा को भी स्थान दिया गया हैं, जिसमे संपादको और देश सुधारको पर व्यंग्य किया गया हैं। कई नाटको में मुख्य कथानक ही यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करते हैं। बलदेव अग्रहरि की सुलोचना सती में भिन्नतुकांत छंद का आग्रह भी दिखाई देता हैं।

द्विवेदी युग

पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर ही इस युग का नाम द्विवेदी युग रखा गया। सन 1903 ईस्वी में द्विवेदी जी ने सरस्वती पत्रिका के संपादन का भार संभाला। उन्होंने खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को स्थिर किया और पत्रिका के माध्यम से रचनाकारों के एक बडे समुदाय को खड़ी बोली में लिखने को प्रेरित किया। इस काल में निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक एवं समालोचना का अच्छा विकास हुआ।

इस युग के निबंधकारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, श्याम सुंदर दास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बाल मुकंद गुप्त और अध्यापक पूर्ण सिंह आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबंध गंभीर, ललित एवं विचारात्मक हैं। किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू गोपाल राम गहमरी के उपन्यासों में मनोरंजन और घटनाओं की रोचकता है।

हिंदी कहानी का वास्तविक विकास द्विवेदी युग से ही शुरू हुआ। किशोरी लाल गोस्वामी की इंदुमती कहानी को कुछ विद्वान हिंदी की पहली कहानी मानते हैं। अन्य कहानियों में बंग महिला की दुलाई वाली, शुक्ल जी की ग्यारह वर्ष का समय, प्रसाद जी की ग्राम और चंद्रधर शर्मा गुलेरी की उसने कहा था महत्त्वपूर्ण हैं। समालोचना के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा उल्लेखनीय हैं। हरिऔध, शिवनंदन सहाय तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण द्वारा कुछ नाटक लिखे गए। इस युग ने कई सम्पादकों जन्म दिया। पन्डित ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने आधा दर्जन से अधिक पत्रों का सम्पादन किया। शिव पूजन सहाय उनके योग्य शिष्यों में शुमार हुए। इस युग में हिन्दी आलोचना को एक दिशा मिली। इस युग ने हिन्दी के विकास की नींव रखी। यह कई मायनों में नई मान्यताओं की स्थापना करने वाला युग रहा।

रामचंद्र शुक्ल एवं प्रेमचंद युग

गद्य के विकास में इस युग का विशेष महत्त्व है। पं रामचंद्र शुक्ल (1884-1941) ने निबंध, हिन्दी साहित्य के इतिहास और समालोचना के क्षेत्र में गंभीर लेखन किया। उन्होंने मनोविकारों पर हिंदी में पहली बार निबंध लेखन किया। साहित्य समीक्षा से संबंधित निबंधों की भी रचना की। उनके निबंधों में भाव और विचार अर्थात् बुद्धि और हृदय दोनों का समन्वय है। हिंदी शब्दसागर की भूमिका के रूप में लिखा गया उनका इतिहास आज भी अपनी सार्थकता बनाए हुए है। जायसी, तुलसीदास और सूरदास पर लिखी गयी उनकी आलोचनाओं ने भावी आलोचकों का मार्गदर्शन किया। इस काल के अन्य निबंधकारों में जैनेन्द्र कुमार जैन, सियारामशरण गुप्त, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और जयशंकर प्रसाद आदि उल्लेखनीय हैं।

कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद ने क्रांति ही कर डाली। अब कथा साहित्य केवल मनोरंजन, कौतूहल और नीति का विषय ही नहीं रहा बल्कि सीधे जीवन की समस्याओं से जुड़ गया। उन्होंने सेवा सदन, रंगभूमि, निर्मला, गबन एवं गोदान आदि उपन्यासों की रचना की। उनकी तीन सौ से अधिक कहानियाँ मानसरोवर के आठ भागों में तथा गुप्तधन के दो भागों में संग्रहित हैं। पूस की रात, कफन, शतरंज के खिलाडी, पंच परमेश्वर, नमक का दरोगा तथा ईदगाह आदि उनकी कहानियां खूब लोकप्रिय हुई। इसकाल के अन्य कथाकारों में विश्वंभर शर्मा कौशिक, वृंदावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, जयशंकर प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

नाटक के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद का विशेष स्थान है। इनके चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी जैसे ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास और कल्पना तथा भारतीय और पाश्चात्य नाट्य पद्धतियों का समन्वय हुआ है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, जगदीशचंद्र माथुर आदि इस काल के उल्लेखनीय नाटककार हैं।

अद्यतन काल

इस काल में गद्य का चहुंमुखी विकास हुआ। पं हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेंद्र कुमार, अज्ञेय, यशपाल, नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेंद्र, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा डॉ. रामविलास शर्मा आदि ने विचारात्मक निबंधों की रचना की है। हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कुबेर नाथ राय, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, विवेकी

राय, ने ललित निबंधों की रचना की है। हरिशंकर परसांई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवींन्द्रनाथ त्यागी, तथा के पी सक्सेना, के व्यंग्य आज के जीवन की विद्रूपताओं के उद्घाटन में सफल हुए हैं। जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचंद्र जोशी, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव और भगवती चरण वर्मा ने उल्लेखनीय उपन्यासों की रचना की। नागार्जुन, फणीश्वर नाथ रेणु, अमृतराय, तथा राही मासूम रजा ने लोकप्रिय आंचलिक उपन्यास लिखे हैं। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, भैरव प्रसाद गुप्त, आदि ने आधुनिक भाव बोध वाले अनेक उपन्यासों और कहानियों की रचना की है। अमरकांत, निर्मल वर्मा तथा ज्ञानरंजन आदि भी नए कथा साहित्य के महत्त्वपूर्ण स्तंभ हैं।

प्रसादोत्तर नाटकों के क्षेत्र में लक्ष्मीनारायण लाल, लक्ष्मीकांत वर्मा, मोहन राकेश तथा कमलेश्वर के नाम उल्लेखनीय हैं। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा बनारसीदास चतुर्वेदी आदि ने संस्मरण रेखाचित्र व जीवनी आदि की रचना की है। शुक्ल जी के बाद पं हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा तथा नामवर सिंह ने हिंदी समालोचना को समृद्ध किया। आज गद्य की अनेक नयी विधाओं जैसे यात्रा वृत्तांत, रिपोर्ताज, रेडियो रूपक, आलेख आदि में विपुल साहित्य की रचना हो रही है और गद्य की विधाएं एक दूसरे से मिल रही हैं।

'हिंदी' शब्द की व्युत्पत्ति

हिन्दी शब्द का सम्बंध संस्कृत शब्द सिंधु से माना जाता है। 'सिंधु' सिंध नदी को कहते थे और उसी आधार पर उसके आस-पास की भूमि को सिन्धु कहने लगे। यह सिंधु शब्द ईरानी में जाकर 'हिंदू', हिंदी और फिर 'हिंद' हो गया। बाद में ईरानी धीरे-धीरे भारत के अधिक भागों से परिचित होते गए और इस शब्द के अर्थ में विस्तार होता गया तथा हिंद शब्द पूरे भारत का वाचक हो गया। इसी में ईरानी का ईक प्रत्यय लगने से (हिन्द+ईक) 'हिंदीक' बना जिसका अर्थ है 'हिन्द का'। यूनानी शब्द 'इन्दिका' या अंग्रेजी शब्द 'इंडिया' आदि इस 'हिंदीक' के ही विकसित रूप हैं। हिंदी भाषा के लिए इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग शरफुद्दीन यज्दी' के 'जफरनामा' (1424) में मिलता है।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने अपने ' हिंदी एवं उर्दू का अद्वैत ' शीर्षक आलेख में हिंदी की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए कहा है कि ईरान की प्राचीन भाषा अवेस्ता में 'स' ध्वनि नहीं बोली जाती थी। 'स' को 'ह' रूप में बोला जाता

था। जैसे संस्कृत के 'असुर' शब्द को वहाँ 'अहुर' कहा जाता था। अफगानिस्तान के बाद सिंधु नदी के इस पार हिंदुस्तान के पूरे इलाके को प्राचीन फारसी साहित्य में भी 'हिंद', 'हिंदुश' के नामों से पुकारा गया है तथा यहाँ की किसी भी वस्तु, भाषा, विचार को 'एडजेक्टिव' के रूप में 'हिन्दीक' कहा गया है, जिसका मतलब है 'हिन्द का'। यही 'हिन्दीक' शब्द अरबी से होता हुआ ग्रीक में 'इन्दिके', 'इन्दिका', लैटिन में 'इन्दिया' तथा अंग्रेजी में 'इण्डिया' बन गया। अरबी एवं फारसी साहित्य में भारत (हिंद) में बोली जाने वाली भाषाओं के लिए 'जबान-ए-हिन्दी', पद का उपयोग हुआ है। भारत आने के बाद अरबी-फारसी बोलने वालों ने 'जबान-ए-हिंदी', 'हिंदी जबान' अथवा 'हिंदी' का प्रयोग दिल्ली-आगरा के चारों ओर बोली जाने वाली भाषा के अर्थ में किया। भारत के गैर-मुस्लिम लोग तो इस क्षेत्र में बोले जाने वाले भाषा-रूप को 'भाखा' नाम से पुकारते थे, 'हिंदी' नाम से नहीं।

हिन्दी भाषा का इतिहास लगभग एक हजार वर्ष पुराना माना गया है। सामान्यत: प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव स्वीकार किया जाता है। उस समय अपभ्रंश के कई रूप थे और उनमें सातवीं-आठवीं शताब्दी से ही 'पद्य' रचना प्रारम्भ हो गयी थी। हिन्दी भाषा व साहित्य के जानकार अपभ्रंश की अंतिम अवस्था 'अवहट्ट' से हिन्दी का उद्‌भव स्वीकार करते हैं। चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने इसी अवहट्ट को 'पुरानी हिन्दी' नाम दिया। साहित्य की दृष्टि से पद्यबद्ध जो रचनाएँ मिलती हैं वे दोहा रूप में ही हैं और उनके विषय, धर्म, नीति, उपदेश आदि प्रमुख हैं। राजाश्रित कवि और चारण नीति, शृंगार, शौर्य, पराक्रम आदि के वर्णन से अपनी साहित्य-रुचि का परिचय दिया करते थे। यह रचना-परम्परा आगे चलकर शौरसेनी अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी में कई वर्षों तक चलती रही। पुरानी अपभ्रंश भाषा और बोलचाल की देशी भाषा का प्रयोग निरन्तर बढ़ता गया। इस भाषा को विद्यापति ने 'देसी भाषा' कहा है, किन्तु यह निर्णय करना सरल नहीं है कि 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग इस भाषा के लिए कब और किस देश में प्रारम्भ हुआ। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग विदेशी मुसलमानों ने किया था। इस शब्द से उनका तात्पर्य 'भारतीय भाषा' का था।

आदिकाल–(1000–1500)

अपने प्रारंभिक दौर में हिंदी सभी बातों में अपभ्रंश के बहुत निकट थी इसी अपभ्रंश से हिंदी का जन्म हुआ है। आदि अपभ्रंश में अ, आ, ई, उ, उ ऊ, ऐ, औ

केवल यही आठ स्वर थे। ई, औ, स्वर इसी अवधि में हिंदी में जुड़े। प्रारंभिक, 1000 से 1100 ईसवी के आस-पास तक हिंदी अपभ्रंश के समीप ही थी। इसका व्याकरण भी अपभ्रंश के सामान काम कर रहा था। धीरे-धीरे परिवर्तन होते हुए और 1500 ईसवी आते-आते हिंदी स्वतंत्र रूप से खड़ी हुई। 1460 के आस-पास देश भाषा में साहित्य सर्जन प्रारंभ हो चुका हो चुका था। इस अवधि में दोहा, चौपाई, छप्पय दोहा, गाथा आदि छंदों में रचनाएं हुई है। इस समय के प्रमुख रचनाकार गोरखनाथ, विद्यापति, नरपति नालह, चंदवरदाई, कबीर आदि है।

मध्यकाल–(1500-1800 तक)

इस अवधि में हिंदी में बहुत परिवर्तन हुए। देश पर मुगलों का शासन होने के कारन उनकी भाषा का प्रभाव हिंदी पर पड़ा। परिणाम यह हुआ की फारसी के लगभग 3500 शब्द, अरबी के 2500 शब्द, पश्तों से 50 शब्द, तुर्की के 125 शब्द हिंदी की शब्दावली में शामिल हो गए। यूरोप के साथ व्यापार आदि से संपर्क बढ़ रहा था। परिणाम स्वरूप पुर्तगाली, स्पेनी, फ्रांसीसी और अंग्रेजी के शब्दों का समावेश हिंदी में हुआ। मुगलों के आधिपत्य का प्रभाव भाषा पर दिखाई पड़ने लगा था। मुगल दरबार में फारसी पढ़े-लिखे विद्वानों को नौकरियां मिली थी, परिणामस्वरूप पढ़े-लिखे लोग हिंदी की वाक्य रचना फारसी की तरह करने लगे। इस अवधि तक आते-आते अपभ्रंश का पूरा प्रभाव हिंदी से समाप्त हो गया, जो आंशिक रूप में जहां कहीं शेष था वह भी हिंदी की प्रकृति के अनुसार ढलकर हिंदी का हिस्सा बन रहा था।

इस अवधि में हिंदी के स्वर्णिम साहित्य का सृजन हुआ। भक्ति आंदोलन ने देश की जनता की मनोभावना को प्रभावित किया। भक्ति कवियों में अनेक विद्वान थे जो तत्सम मुक्त भाषा का प्रयोग कर रहे थे। राम और कृष्ण जन्म स्थान की ब्रज भाषा में काव्य रचना की गई, जो इस काल के साहित्य की मुख्यधारा मानी जाती हैं। इसी अवधि में दखिनी हिंदी का रूप सामने आया। पिंगल, मैथिली और खड़ी बोली में भी रचनाएँ लिखी जा रही थी। इस काल के मुख्य कवियों में महाकवि तुलसीदास, संत सूरदास, संत मीराबाई, मलिक मोहम्मद जायसी, बिहारी, भूषण हैं। इसी कालखंड में रचा गया 'रामचरितमानस' जैसा ग्रन्थ विश्व में विख्यात हुआ।

हिंदी में क, ख, ग, ज, फ, ये पांच नई ध्वनियां, जिनके उच्चारण प्राय: फारसी पढ़े-लिखे लोग ही करते थे। इस काल के भक्त निर्गुण और सगुन उपासक

थे। कवियों को रामाश्रयी और कृष्णाश्रयी शाखाओं में बांटा गया। इसी अवधि में रीतिकालीन काव्य भी लिखा गया।

आधुनिक काल (1800 से अब तक)

हिंदी का आधुनिक काल देश में हुए अनेक परिवर्तनों का साक्षी है। परतंत्र में रहते हुए देशवासी इसके विरुद्ध खड़े होने का प्रयास कर रहे थे। अंग्रेजी का प्रभाव देश की भाषा और संस्कृति पर दिखाई पड़ने लगा। अंग्रेजी शब्दों का प्रचलन हिंदी के साथ बढ़ने लगा। मुगलकालीन व्यवस्था समाप्त होने से अरबी, फारसी के शब्दों के प्रचलन में गिरावट आई। फारसी से स्वीकार क, ख, ग, ज, फ ध्वनियों का प्रचलन हिंदी में समाप्त हुआ। अपवादस्वरूप कहीं-कहीं ज और फ ध्वनि शेष बची। क, ख, ग ध्वनियां क, ख, ग में बदल गई। इस पूरे कालखंड को 1800 से 1850 तक और फिर 1850 से 1900 तक तथा 1900 का 1910 तक और 1950 से 2000 तक विभाजित किया जा सकता है।

संवत 1830 में जन्मे मुंशी सदासुख लाल नियाज ने हिंदी खड़ी बोली को प्रयोग में लिया। खड़ी बोली उस समय भी अस्तित्त्व में थी। खड़ी बोली या कौरवी का उद्‌भव शौरसेनी अपभ्रंश के उत्तरी रूप से हुआ है। इसका क्षेत्र देहरादून का मैदानी भाग, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरुत, दिल्ली बिजनौर, रामपुर, मुरादाबाद है। इस बोली में पर्याप्त लोक गीत और लोक कथाएं मौजूद हैं। खड़ी बोली पर ही उर्दू, हिन्दुस्तानी और दक्खनी हिंदी निर्भर करती है। मुंशी सदा सुखलाल नियाज के आलावा इंशा अल्लाह खान इसी अवधि के लेखक है। इनकी रानी केतकी की कहानी पुस्तक प्रसिद्ध है। लल्लूलाल, इस काल खंड के एक और प्रसिद्ध लेखक हैं। इनका जन्म संवत 1820 में हुआ था कोलकाता के फोर्ट विलियम कॉलेज के अध्यापक जॉन गिलक्रिस्ट के अनुरोध पर लल्लूलाल जी ने पुस्तक 'प्रेम सागर' खड़ी बोली में लिखी थी।

प्रेम सागर के आलावा सिंहासन बत्तीसी, बेताल पचीसी, शकुंतला नाटक भी इनकी पुस्तकें हैं, जो खड़ी बोली में, ब्रज और उर्दू के मिश्रित रूप में हैं। इसी कालखंड के एक और लेखक सदल मिश्र हैं। इनकी नचिकेतोपाख्यान पुस्तक प्रसिद्ध है। सदल मिश्र ने अरबी और फारसी के शब्दों का प्रयोग न के बराबर किया है। खड़ी बोली में लिखी गई इस पुस्तक में संस्कृत के शब्द अधिक हैं। संवत 1860 से 1914 के बीच के समय में कालजयी कृतियाँ प्राय: नहीं मिलती। 1860 के आसपास तक हिंदी गद्य प्राय: अपना निश्चित स्वरुप ग्रहण कर चुका था।

इसका लाभ लेने के लिए अंग्रेजी पादरियों ने ईसाई धर्म के प्रचार–प्रसार के लिए बाईबल का अनुवाद खड़ी बोली में किया यद्यपि इनका लक्ष्य अपने धर्म का प्रचार–प्रसार करना था। तथापि इसका लाभ हिंदी को मिला देश की साधारण जनता अरबी–फारसी मिश्रित भाषा में अपने पौराणिक आख्यानों को कहती और सुनती थी। इन पादरियों ने भी भाषा के इसी मिश्रित रूप का प्रयोग किया। अब तक 1857 का पहला स्वतंत्रता युद्ध लड़ा चुका था अतः अंग्रेजी शासकों की कूटनीति के सहारे हिंदी के माध्यम से बाइबिल के धर्म उपदेशों का प्रचार–प्रसार खूब हो रहा था। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी नवजागरण की नींव रखी। उन्होंने अपनें नाटकों, कविताओं, कहावतों और किस्सागोई के माध्यम से हिंदी भाषा के उत्थान के लिए खूब काम किया। अपने पत्र 'कविवचनसुधा' के माध्यम से हिंदी का प्रचार–प्रसार किया।

गद्य में सदल मिश्र, सदासुखलाल, लल्लू लाल आदि लेखकों ने हिंदी खड़ीबोली को स्थापित करने का काम किया। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कविता को ब्रज भाषा से मुक्त किया उसे जीवन के यथार्थ से जोड़ा।

सन 1866 की अवधि के लेखकों में पंडित बद्रीनारायण चौधरी, पंडित प्रताप नारायण मिश्रल बाबू तोता राम, ठाकुर जगमोहन सिंह, पंडित बाल कृष्ण भट्ट, पंडित केशवदास भट्ट,पंडित अम्बिकादत्त व्यास, पंडित राधारमण गोस्वामी आदि आते हैं। हिंदी भाषा और साहित्य को परमार्जित करने के उद्देश्य से इस कालखंड में अनेक पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इनमें हरिश्चन्द्रचन्द्रिका, हिन्दी बंगभाषी, उचितवक्ता, भारत मित्र, सरस्वती, दिनकर प्रकाश आदि।

इंटरनेट युग में हिन्दी

हिंदी भाषा की जितनी माँग है, इंटरनेट पर उतनी उपलब्धता नहीं है। लेकिन जिस रफ्तार से भारत में इंटरनेट का विकास हुआ है उसी तरह से हिंदी भी इंटरनेट पर छा रही है। समाचारपत्र से लेकर हिंदी ब्लॉग तक अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहा है। साधुवाद तो गूगल को भी जाता है जिसने हिंदी में खोज करने की जगह उपलब्ध कराई। इतना ही नहीं विकिपीडिया ने भी हिंदी की महत्ता को समझते हुए कई सारी सामग्री का सॉफ्टवेयर अनुवाद हिंदी में प्रदान करना शुरू कर दिया जिससे हिंदी भाषी को किसी भी विषय की जानकरी सुलभ हुई। आजकल हिंदी भी इंटरनेट की एक अहम् लोकप्रिय भाषा बन कर उभरी है। मेरा मानना है जब लोग अपने विचार और लेखन हिंदी भाषा में इंटरनेट पर ज्यादा करेंगे तो वह दिन दूर नहीं की सारी सामग्री हिंदी में भी इंटरनेट पर मिलने लगेगीद्ये धरती मेरी माँ हैं।

सूचना प्रौद्योगिकी के संदर्भ में हिन्दी की प्रगति एवं विकास

सूचना प्रौद्योगिकी के संदर्भ में हिन्दी की प्रगति एवं विकास के लिए लेखक एक बात की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता है। व्यापार, तकनीकी और चिकित्सा आदि क्षेत्रों की अधिकांश बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपने माल की बिक्री के लिए सम्बंधित सॉफ्टवेयर ग्रीक, अरबी, चीनी सहित संसार की लगभग 30 से अधिक भाषाओं में बनाती हैं मगर वे हिन्दी भाषा का पैक नहीं बनाती। उनके प्रबंधक इसका कारण यह बताते हैं कि हम यह अनुभव करते हैं कि हमारी कम्पनी को हिन्दी के लिए भाषा पैक की जरूरत नहीं है। हमारे प्रतिनिधि भारतीय ग्राहकों से अंग्रेजी में आराम से बात कर लेते हैं अथवा हमारे भारतीय ग्राहक अंग्रेजी में ही बात करना पसंद करते हैं। यह स्थिति कुछ उसी प्रकार की है। जैसी लेखक तब अनुभव करता था जब वह रोमानिया के बुकारेस्त विश्वविद्यालय में हिन्दी का विजिटिंग प्रोफेसर था। उसकी कक्षा के हिन्दी पढ़ने वाले विद्यार्थी बड़े चाव से भारतीय राजदूतावास जाते थे मगर वहाँ उनको हिन्दी नहीं अपितु अंग्रेजी सुनने को मिलती थी। हमने अंग्रेजी को इतना ओढ़ लिया है जिसके कारण न केवल हिन्दी का अपितु समस्त भारतीय भाषाओं का अपेक्षित विकास नहीं हो पा रहा है। जो कम्पनी ग्रीक एवं अरबी में सॉफ्टवेयर बना रही हैं वे हिन्दी में सॉफ्टवेयर केवल इस कारण नहीं बनाती, क्योंकि उसके प्रबंधकों को पता है कि भारतीय उच्च वर्ग अंग्रेजी मोह से ग्रसित है। इसके कारण भारतीय भाषाओं में जो सॉफ्टवेयर स्वाभाविक ढंग से सहज बन जाते, वे नहीं बन रहे हैं। भारतीय भाषाओं की भाषिक प्रौद्योगिकी पिछड़ रही है।

इस मानसिकता में जिस गति से बदलाव आएगा उसी गति से हमारी भारतीय भाषाओं की भाषिक प्रौद्योगिकी का भी विकास होगा। हम हिन्दी के संदर्भ में, इस बात को दोहराना चाहते हैं कि हिन्दी में काम करने वालों को अधिक से अधिक सामग्री इन्टरनेट पर डालनी चाहिए। लेखक ने मशीनी अनुवाद के संदर्भ में, यह निवेदित किया था कि मशीनी अनुवाद को सक्षम बनाने के लिए यह जरूरी है कि इन्टरनेट पर हिन्दी में प्रत्येक विषय की सामग्री उपलब्ध हो। यह हिन्दी की भाषिक प्रौद्योगिकी के विकास के व्यापक संदर्भ में भी उतनी ही सत्य है। जब प्रयोक्ता को हिन्दी में डॉटा उपलब्ध होगा तो उसकी अंग्रेजी के प्रति निर्भरता में कमी आएगी तथा अंग्रेजी के प्रति हमारे उच्च वर्ग की अंध भक्ति में भी कमी आएगी।

वर्तमान की स्थिति भले ही उत्साहवर्धक न हो किन्तु हिन्दी प्रौद्योगिकी का भविष्य निराशाजनक नहीं है। हिन्दी की प्रगति एवं विकास को अब कोई ताकत रोक नहीं पाएगी। वर्तमान में, कम्प्यूटरों के कीबोर्ड रोमन वर्णों में हैं तथा उनका विकास अंग्रजी भाषा को ध्यान में रखकर किया गया है। आम आदमी को इसी कारण कम्प्यूटर पर अंग्रेजी अथवा रोमन लिपि में काम करने में सुविधा का अनुभव होता है। निकट भविष्य में कम्प्यूटर संसार की लगभग तीस चालीस भाषाओं के लिखित पाठ को भाषा में बोलकर सुना देगा तथा उन भाषाओं के प्रयोक्ता की भाषा को सुनकर उसे लिखित पाठ में बदल देगा। ऐसी स्थिति में, कम्प्यूटर पर काम करने में भाषा की कोई बाधा नहीं रह जाएगी। एक भाषा के पाठ को मशीनी अनुवाद से दूसरी भाषा में भी बदला जा सकेगा, उन भाषाओं में परस्पर वाक से पाठ तथा पाठ से वाक में अंतरण बहुत सहज हो जाएगा। भाषा विशेष के ज्ञान का रुतबा समाप्त हो जाएगा।

इस दिशा में प्रक्रिया को तेज बनाने के लिए यह उचित होगा कि भारतीय सॉफ्टवेयरों का निर्माण करने वाले उपक्रम तथा संगठन गूगल जैसी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के साथ मिलकर काम करें। भारतीय जनमानस में जागरूकता की रफ्तार को बढ़ाने की भी जरूरत हैं। कितने आम भारतीय हैं जिन्हें सी-डेक जैसे संगठनों तथा उनके द्वारा निर्मित सॉफ्टवेयरों का ज्ञान है। कितने हिन्दी प्रेमी हैं, जो हिन्दी प्रौद्योगिकी के सॉफ्टवेयरों से अनजान हैं। उनको यह ज्ञान भी नहीं है कि यूनिकोड में हिन्दी में काम करना कितना आसान और सुगम है।

भाषा-क्षेत्र एवं हिन्दी भाषा

प्रत्येक भाषा के अनेक भेद होते हैं। किसी भी भाषा-क्षेत्र में एक ओर भाषा-क्षेत्र की क्षेत्रगत भिन्नताओं के आधार पर अनेक भेद होते हैं (यथा-बोली और भाषा) तो दूसरी ओर सामाजिक भिन्नताओं के आधार पर भाषा की वर्गगत बोलियाँ होती हैं। भाषा-व्यवहार अथवा भाषा-प्रकार्य की दृष्टि से भी भाषा के अनेक भेद होते हैं। (यथा-मानक भाषा, उपमानक भाषा अथवा शिष्टेतर भाषा, अपभाषा, विशिष्ट वाग्व्यवहार की शैलियाँ, साहित्यिक भाषा आदि)। विशिष्ट प्रयोजनों की सिद्धि के लिए प्रयोजनमूलक भाषा के अनेक रूप होते हैं जिनकी चर्चा लेखक ने प्रकार्यात्मक भाषाविज्ञान के संदर्भ में की है।1

जब भिन्न भाषाओं के बोलने वाले एक ही क्षेत्र में निवास करने लगते हैं तो भाषाओं के संसर्ग से विशिष्ट भाषा प्रकार विकसित हो जाते हैं। (यथा-पिजिन,

क्रिओल)। भाषा के असामान्य रूपों के उदाहरण गुप्त भाषा एवं कृत्रिम भाषा आदि हैं।

इस आलेख का उद्देश्य भाषा–क्षेत्र की अवधारणा को स्पष्ट करना तथा हिन्दी भाषा–क्षेत्र के विविध क्षेत्रीय भाषिक–रूपों के सम्बंध में विवेचना करना है। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि इस सम्बंध में न केवल सामान्य व्यक्ति के मन में अनेक भ्रामक धारणाएँ बनी हुई हैं प्रत्युत हिन्दी भाषा के कतिपय अध्येताओं, विद्वानों तथा प्रतिष्ठित आलोचकों का मन भी तत्सम्बंधित भ्रांतियों से मुक्त नहीं है। हिन्दी कभी अपने भाषा–क्षेत्र की सीमाओं में नहीं सिमटी। यह हिमालय से लेकर कन्याकुमारी और द्वारका से लेकर कटक तक भारतीय लोक चेतना की संवाहिका रही। सम्पर्क भाषा हिन्दी की एक अन्य विशिष्टता यह रही कि यह किसी बँधे बँधाए मानक रूप की सीमाओं में नहीं जकड़ी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि केवल बोलचाल की भाषा में ही यह प्रवृत्ति नहीं है, साहित्य में प्रयुक्त हिन्दी में भी यह प्रवृत्ति मिलती है।

हिन्दी साहित्य की समावेशी एवं संश्लिष्ट परम्परा रही है, हिन्दी साहित्य के इतिहास की समावेशी एवं संश्लिष्ट परम्परा रही है और हिन्दी साहित्य के अध्ययन और अध्यापन की भी समावेशी एवं संश्लिष्ट परम्परा रही है। हिन्दी की इस समावेशी एवं संश्लिष्ट परम्परा को जानना बहुत जरूरी है तथा इसे आत्मसात करना भी बहुत जरूरी है तभी हिन्दी क्षेत्र की अवधारणा को जाना जा सकता है और जो ताकतें हिन्दी को उसके अपने ही घर में तोड़ने का कुचक्र रच रही हैं तथा हिन्दी की ताकत को समाप्त करने के षड़्यंत्र कर रही हैं उन ताकतों के षड़्यंत्रों को बेनकाब किया जा सकता है तथा उनके कुचक्रों को ध्वस्त किया जा सकता है।

वर्तमान में हम हिन्दी भाषा के इतिहास के बहुत महत्त्वपूर्ण मोड़ पर खड़े हुए हैं। आज बहुत सावधानी बरतने की जरूरत है। आज हिन्दी को उसके अपने ही घर में तोड़ने के जो प्रयत्न हो रहे हैं सबसे पहले उन्हे जानना और पहचानना जरूरी है और इसके बाद उनका प्रतिकार करने की जरूरत है। यदि आज हम इससे चूक गए तो इसके भयंकर परिणाम होंगे। मुझे सन् 1993 के एक प्रसंग का स्मरण आ रहा है। मध्य प्रदेश के तत्कालीन शिक्षा मंत्री ने भारत सरकार के मानव संसाधन मंत्री को मध्य प्रदेश में 'मालवी भाषा शोध संस्थान' खोलने तथा उसके लिए अनुदान का प्रस्ताव भेजा था। उस समय भारत सरकार के मानव संसाधन मंत्री श्री अर्जुन सिंह थे, जिनके प्रस्तावक से निकट के सम्बंध थे।

मंत्रालय ने उक्त प्रस्ताव केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के निदेशक होने के नाते लेखक के पास टिप्पण देने के लिए भेजा। लेखक ने सोच समझकर टिप्पण लिखा, "भारत सरकार को पहले यह सुनिश्चित करना चाहिए कि मध्य प्रदेश हिन्दी भाषी राज्य है अथवा बुन्देली, बघेली, छत्तीसगढ़ी, मालवी, निमाड़ी आदि भाषाओं का राज्य है"। मुझे पता चला कि उक्त टिप्पण के बाद प्रस्ताव को ठंढे बस्ते में डाल दिया गया।

एक ओर हिन्दीतर राज्यों के विश्वविद्यालयों और विदेशों के लगभग 176 विश्वविद्यालयों एवं संस्थाओं में हजारों की संख्या में शिक्षार्थी हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन और शोध कार्य में समर्पण-भावना तथा पूरी निष्ठा से प्रवृत्त तथा संलग्न हैं वहीं दूसरी ओर हिन्दी भाषा-क्षेत्र में ही अनेक लोग हिन्दी के विरुद्ध साजिश रच रहे हैं। सामान्य व्यक्ति ही नहीं, हिन्दी के तथाकथित विद्वान भी हिन्दी का अर्थ खड़ी बोली मानने की भूल कर रहे हैं। हिन्दी साहित्य को जिंदगी भर पढ़ाने वाले, हिन्दी की रोजी, खाने वाले रोटी हिन्दी की कक्षाओं में हिन्दी पढ़ने वाले विद्यार्थियों को विद्यापति, जायसी, तुलसीदास, सूरदास जैसे हिन्दी के महान साहित्यकारों की रचनाओं को पढ़ाने वाले अध्यापक तथा इन पर शोध एवं अनुसंधान करने एवं कराने वाले आलोचक भी न जाने किस लालच में या आँखों पर पट्टी बाँधकर यह घोषणा कर रहे हैं कि हिन्दी का अर्थ तो केवल खड़ी बोली है। भाषा विज्ञान के भाषा-भूगोल एवं बोली विज्ञान के सिद्धांतों से अनभिज्ञ ये लोग ऐसे वक्तव्य जारी कर रहे हैं जैसे वे इन विषयों के विशेषज्ञ हों। क्षेत्रीय भावनाओं को उभारकर एवं भड़काकर ये लोग हिन्दी की समावेशी एवं संश्लिष्ट परम्परा को नष्ट करने पर आमादा हैं।

जब लेखक जबलपुर के विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर हिन्दी एवं भाषाविज्ञान विभाग का प्रोफेसर था, उसके पास विभिन्न विश्वविद्यालयों से हिन्दी की उपभाषाओं/बोलियों पर पी-एच. डी. एवं डी. लिट्. उपाधियों के लिए प्रस्तुत शोध प्रबंध जाँचने के लिए आते थे। लेखक ने ऐसे अनेक शोध प्रबंध देखें जिनमें एक ही पृष्ठ पर एक पैरा में विवेच्य बोली को उपबोली का दर्जा दिया दिया गया, दूसरे पैरा में उसको हिन्दी की बोली निरुपित किया गया तथा तीसरे पैरा में उसे भारत की प्रमुख भाषा के अभिधान से महिमामंडित कर दिया गया।

इससे यह स्पष्ट है कि शोध छात्रों अथवा शोध छात्राओं को तो जाने ही दीजिए उन शोध छात्रों अथवा शोध छात्राओं के निर्देशक महोदय भी भाषा-भूगोल एवं बोली विज्ञान के सिद्धांतों से अनभिज्ञ थे।

सन् 2009 में, लेखक ने नामवर सिंह का यह वक्तव्य पढ़ा

"हिंदी समूचे देश की भाषा नहीं है वरन वह तो अब एक प्रदेश की भाषा भी नहीं है। उत्तर प्रदेश, बिहार जैसे राज्यों की भाषा भी हिंदी नहीं है। वहाँ की क्षेत्रीय भाषाएँ यथा अवधी, भोजपुरी, मैथिल आदि हैं"। इसको पढ़कर मैने नामवर सिंह के इस वक्तव्य पर असहमति के तीव्र स्वर दर्ज कराने तथा हिन्दी के विद्वानों को वस्तुस्थिति से अवगत कराने के लिए लेख लिखा। हिन्दी के प्रेमियों से लेखक का यह अनुरोध है कि इस लेख का अध्ययन करने की अनुकंपा करें जिससे हिन्दी के कथित बड़े विद्वान एवं आलोचक डॉ. नामवर सिंह जैसे लोगों के हिन्दी को उसके अपने ही घर में तोड़ डालने के मंसूबे ध्वस्त हो सकें तथा ऐसी ताकतें बेनकाब हो सकें। जो व्यक्ति मेरे इस कथन को विस्तार से समझना चाहते हैं, वे मेरे 'क्या उत्तर प्रदेश एवं बिहार हिन्दी भाषी राज्य नहीं हैं' शीर्षक लेख का अध्ययन कर सकते हैं।2

भाषा क्षेत्र

एक भाषा का जन-समुदाय अपनी भाषा के विविध भेदों एवं रूपों के माध्यम से एक भाषिक इकाई का निर्माण करता है। विविध भाषिक भेदों के मध्य सम्भाषण की सम्भाव्यता से भाषिक एकता का निर्माण होता है। एक भाषा के समस्त भाषिक-रूप जिस क्षेत्र में प्रयुक्त होते हैं उसे उस भाषा का 'भाषा-क्षेत्र' कहते हैं। प्रत्येक 'भाषा क्षेत्र में भाषिक भिन्नताएँ प्राप्त होती हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भाषा की भिन्नताओं का आधार प्राय: वर्णगत एवं धर्मगत नहीं होता। एक वर्ण या एक धर्म के व्यक्ति यदि भिन्न भाषा क्षेत्रों में निवास करते हैं तो वे भिन्न भाषाओं का प्रयोग करते हैं। हिन्दू मुसलमान आदि सभी धर्मावलम्बी तमिलनाडु में तमिल बोलते हैं तथा केरल में मलयालम। इसके विपरीत यदि दो भिन्न वर्णो या दो धर्मा के व्यक्ति एक भाषा क्षेत्र में रहते हैं तो उनके एक ही भाषा को बोलने की सम्भावनाएँ अधिक होती हैं। हिन्दी भाषा क्षेत्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व आदि सभा वर्णो के व्यक्ति हिन्दी का प्रयोग करते हैं। यह बात अवश्य है कि विशिष्ट स्थितियों में वर्ण या धर्म के आधार पर भाषा में बोलीगत अथवा शैलगत प्रभेद हो जाते हैं। कभी-कभी ऐसी भी स्थितियाँ विकसित हो जाती हैं जिनके कारण एक भाषा के दो रूपों को दो भिन्न भाषाएँ समझा जाने लगता है।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हम यह किस प्रकार निर्धारित करें कि उच्चारण के कोई दो रूप एक ही भाषा के भिन्न रूप हैं अथवा अलग-अलग भाषाएँ हैं ? इसका एक प्रमुख कारण यह है कि भाषिक भिन्नताएँ सापेक्षिक होती हैं तथा दो भिन्न भाषा क्षेत्रों के मध्य कोई सीधी एवं सरल विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। यही कारण है कि भाषिक-भूगोल पर कार्य करते समय बहुधा कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। भारत का भाषा-सर्वेक्षण करते समय इसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव ग्रियर्सन को हुआ था। उन्होंने लिखा है कि '' सर्वेक्षण का कार्य करते समय यह निश्चित करने में कठिनाई पड़ी कि वास्तव में एक कथित भाषा स्वतंत्र भाषा है, अथवा अन्य किसी भाषा की बोली है। इस सम्बन्ध में इस प्रकार का निर्णय देना जिसे सब लोग स्वीकार कर लेंगे, कठिन है। भाषा और बोली में प्राय: वही सम्बन्ध है, जो पहाड़ तथा पहाड़ी में है। यह नि:संकोच रूप से कहा जा सकता है कि एवरेस्ट पहाड़ है और हालबर्न एक पहाड़ी, किन्तु इन दोनों के बीच की विभाजक रेखा को निश्चित रूप से बताना कठिन है। सच तो यह है कि दो बोलियों अथवा भाषाओं में भेदीकरण केवल पारस्परिक वार्ता सम्बन्ध पर ही निर्भर नहीं करता। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस सम्बन्ध में विचार करने के लिए अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों को भी दृष्टि में रखना आवश्यक है।

व्यावहारिक दृष्टि से जिस क्षेत्र में भाषा के विभिन्न भेदों में पारस्परिक बोधगम्यता होती है, वह क्षेत्र उस भाषा के विभिन्न भेदों का 'भाषा-क्षेत्र' कहलाता है। भिन्न भाषा-भाषी व्यक्ति परस्पर विचारों का आदान-प्रदान नहीं कर पाते। इस प्रकार जब एक व्यक्ति अपनी भाषा के माध्यम से दूसरे भाषा-भाषी को भाषा के स्तर पर अपने विचारों, भावनाओं, कल्पनाओं, संवेदनाओं का बोध नहीं करा पाता, तब ऐसी स्थिति में उन दो व्यक्तियों के भाषा रूपों को अलग-अलग भाषाओं के नाम से अभिहित किया जाता है। इस बात इस तथ्य से समझा जा सकता है कि जब कोई ऐसा तमिल-भाषी व्यक्ति जो पहले से हिन्दी नहीं जानता, हिन्दी-भाषी व्यक्ति से बात करता है, तो वह हिन्दी-भाषा व्यक्ति द्वारा कही गई बात को भाषा के माध्यम से नहीं समझ पाता, भले ही वह कही गई बात का आशय संकेतो, मुख मुद्राओं, भाव-भंगिमाओं के माध्यम से समझ जाए। इसके विपरीत यदि कन्नौजी बोलने वाला व्यक्ति अवधी बोलने वाले से बातें करता है, तो दोनों को विचारों के आदान-प्रदान करने में कठिनाइयाँ तो होती हैं, किन्तु फिर भी वे किसी न किसी मात्र में विचारों का आदान-प्रदान

कर लेते हैं। भाषा रूपों की भिन्नता अथवा एकता का यह व्यावहारिक आधार है।भिन्न भाषा रूपों को एक ही भाषा के रूप में अथवा अलग अलग भाषाओं के रूप में मान्यता दिलाने में ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक एवं उन भाषिक रूपों की संरचना एवं व्यवस्था आदि कारण एवं तथ्य अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं तथा कभी-कभी 'पारस्परिक बोधगम्यता' अथवा 'एक तरफा बोधगम्यता' के व्यावहारिक सिद्धांत की अपेक्षा अधिक निर्णायक हो जाते हैं। इस दृष्टि से कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।ऐतिहासिक कारणों से वैनिशन (Venetian) तथा सिसिली (Sicily) को इटाली भाषा की बोलियाँ माना जाता है, यद्यपि इनमें पारस्परिक बोधगम्यता का प्रतिशत बहुत कम है। इसी प्रकार लैपिश (Lappish) को एक ही भाषा माना जाता है। इसके अन्तर्गत परस्पर अबोधगम्य भाषिक रूप समाहित हैं। इसके विपरीत राजनैतिक कारणों से डेनिश, नार्वेजियन एवं स्वेडिश को अलग-अलग भाषाएँ माना जाता है। इनमें पारस्परिक बोधगम्यता का प्रतिशत वैनिशन (Venetian) तथा सिसिली (Sicily) के पारस्परिक बोधगम्यता के प्रतिशत से कम नहीं है। भारतवर्ष के संदर्भ में हिन्दी भाषा के पश्चिमी वर्ग की उप-भाषाओं तथा बिहारी वर्ग की उप-भाषाओं के मध्य बोधगम्यता का प्रतिशत कम है। 'बिहारी वर्ग' की उप-भाषाओं पर कार्य करने वाले भाषा-वैज्ञानिकों ने उनमें संरचनात्मक भिन्नताएँ भी पर्याप्त मानी हैं। इतना होने पर भी सांस्कृतिक, राष्ट्रीय एवं ऐतिहासिक कारणों से भोजपुरी एवं मगही बोलने वाले अपने को हिन्दी भाषा-भाषी मानते हैं। ये भाषिक रूप हिन्दी भाषा-क्षेत्र के अन्तर्गत समाहित हैं। इसके विपरीत यद्यपि असमिया एवं बांग्ला में पारस्परिक बोधगम्यता एवं संरचनात्मक साम्यता का प्रतिशत कम नहीं है तथापि ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक कारणों से इनके बोलने वाले इन भाषा रूपों को भिन्न भाषाएँ मानते हैं। इसी कारण कुछ विद्वानों का मत है कि भाषा-क्षेत्र उस क्षेत्र के प्रयोक्ताओं की मानसिक अवधारणा है। भाषा-क्षेत्र में बोली जाने वाली विभिन्न बोलियों के प्रयोक्ता अपने अपने भाषिक-रूप की पहचान उस भाषा के रूप में करते हैं। विशेष रूप से जब वे किसी भिन्न भाषा-भाषी-क्षेत्र में रहते हैं तो वे अपनी अस्मिता की पहचान उस भाषा के प्रयोक्ता के रूप में करते हैं।

यदि दो भाषा-क्षेत्रों के मध्य कोई पर्वत या सागर जैसी बड़ी प्राकृतिक सीमा नहीं होती अथवा उन क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियों के अलग अलग क्षेत्रों में उनके सामाजिक सम्पर्क को बाधित करने वाली राजनैतिक सीमा नहीं होती

तो उन भाषा क्षेत्रों के मध्य कोई निश्चित एवं सरल रेखा नहीं खींची जा सकती। प्रत्येक दो भाषाओं के मध्य प्राय: ऐसा 'क्षेत्र' होता है, जिसमें निवास करने वाले व्यक्ति उन दोनों भाषाओं को किसी न किसी रूप में समझ लेते हैं। ऐसे क्षेत्र को उन भाषाओं का 'संक्रमण-क्षेत्र कहते हैं।

जिस प्रकार अपभ्रंश और हिन्दी के बीच किसी एक वर्ष की 'काल रेखा' निर्धारित नहीं की जा सकती, फिर भी एक युग 'अपभ्रंश-युग' कहलाता है और दूसरा हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि 'नव्यतर भारतीय आर्य भाषाओं का युग' कहलाता है उसी प्रकार यद्यपि हिन्दी और मराठी के बीच (अथवा अन्य किन्हीं दो भाषाओं के बीच) हम किलोमीटर या मील की कोई रेखा नहीं खींच सकते फिर भी एक क्षेत्र हिन्दी का कहलाता है और दूसरा मराठी का। ऐतिहासिक दृष्टि से अपभ्रंश और हिन्दी के बीच एव 'सन्धि-युग' है, जो इन दो भाषाओं के काल-निर्धारण का काम करता है। संकालिक दृष्टि से दो भाषाओं के बीच 'संक्रमण-क्षेत्र' होता है, जो उन भाषाओं के क्षेत्र को निर्धारित करता है।

प्रत्येक भाषा-क्षेत्र में भाषिक भेद होते हैं। हम किसी ऐसे भाषा क्षेत्र की कल्पना नहीं कर सकते जिसके समस्त भाषा-भाषी भाषा के एक ही रूप के माध्यम से विचारों का आदान-प्रदान करते हों। यदि हम वर्तमानकाल में किसी ऐसे भाषा-क्षेत्र का निर्माण कर भी लें जिसकी भाषा में एक ही बोली हो तब भी कालान्तर में उस क्षेत्र में विभिन्नताएँ विकसित हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि किसी भाषा का विकास सम्पूर्ण क्षेत्र में समरूप नहीं होता। परिवर्तन की गति क्षेत्र के अलग-अलग भागों में भिन्न होती है। विश्व के भाषा-इतिहास में ऐसा कोई भी उदाहरण प्राप्त नहीं है जिसमें कोई भाषा अपने सम्पूर्ण क्षेत्र में समान रूप से परिवर्तित हुई हो।

भाषा और बोली के युग्म पर विचार करना सामान्य धारणा है। सामान्य व्यक्ति भाषा को विकसित और बोली को अविकसित मानता है। सामान्य व्यक्ति भाषा को शिक्षित,शिष्ट, विद्वान एवं सुजान प्रयोक्ताओं से जोड़ता है और बोली को अशिक्षित, अशिष्ट, मूर्ख एवं गँवार प्रयोक्ताओं से जोड़ता है। भाषाविज्ञान इस धारणा को अतार्किक और अवैज्ञानिक मानता है। भाषाविज्ञान भाषा को निम्न रूप से परिभाषित करता है–'भाषा अपने भाषा-क्षेत्र में बोली जाने वाली समस्त बोलियों की समष्टि का नाम है'।

व्यक्ति बोलियाँ

एक भाषा क्षेत्र में 'एकत्व' की दृष्टि से एक ही भाषा होती है, किन्तु 'भिन्नत्व' की दृष्टि से उस भाषा क्षेत्र में जितने बोलने वाले निवास करते हैं उसमें उतनी ही भिन्न व्यक्ति-बोलियाँ होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति भाषा के द्वारा समाज के व्यक्तियों से सम्प्रेषण-व्यवहार करता है। भाषा के द्वारा अपने निजी व्यक्ति्व का विकास एवं विचार की अभिव्यक्ति करता है। प्रत्येक व्यक्ति के निजी व्यक्तित्त्व का प्रभाव उसके अभिव्यक्तिकरण व्यवहार पर भी पड़ता है।

प्रत्येक व्यक्ति के अनुभवों, विचारों, आचरण पद्धतियों, जीवन व्यवहारों एवं कार्यकलापों की निजी विशेषताएँ होती हैं। समाज के सदस्यों के व्यक्तित्त्व की भेदक भिन्नताओं का प्रभाव उनके व्यक्ति-भाषा-रूपों पर पड़ता है और इस कारण प्रत्येक व्यक्ति बोली में निजी भिन्नताएँ अवश्य होती हैं। व्यक्ति बोली के धरातल पर एक व्यक्ति जिस प्रकार बोलता है, ठीक उसी प्रकार दूसरा कोई व्यक्ति नहीं बोलता। यही कारण है कि हम किसी व्यक्ति भले ही न देखें मगर मात्र उसकी आवाज को सुनकर उसको पहचान लेते हैं।

यदि भिन्नताओं को और सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो यह बात कही जा सकती है कि स्वनिक स्तर पर कोई भी व्यक्ति एक ध्वनि को उसी प्रकार दोबारा उच्चारित नहीं कर सकता। यदि एक व्यक्ति 'प', ध्वनि का सौ बार उच्चारण करता है तो वे 'ए' ध्वनि के सौ स्वन होते हैं। इन स्वनों की भिन्नताओं को हमारे कान नहीं पहचान पाते। जब भौतिक ध्वनि विज्ञान के अन्तर्गत ध्वनि-यन्त्रों की सहायता से इसका अध्ययन किया जाता है तो ध्वनि यन्त्र इनके सूक्ष्म अन्तरों को पकड़ पाने की क्षमता रखते हैं। 'स्वनिक स्तर' पर प्रत्येक ध्वनि का प्रत्येक उच्चारण एक अलग स्वन होता है।

जिस प्रकार दार्शनिक धरातल पर बौद्ध दर्शन के अनुसार इस संसार के प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण परिवर्तन होता है उसी प्रकार भाषा के प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक ध्वनि का प्रत्येक उच्चार यत्किंचित भिन्नताएँ लिए होता है तथा जिस प्रकार अद्वैतवादी के अनुसार इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक ही परमात्म-तत्त्व की सत्ता है उसी प्रकार एक भाषा क्षेत्र में व्यवहृत होने वाले समस्त भाषिक रूपों को एक ही भाषा के नाम से पुकारा जाता है।

यदि उच्चारण की स्वनिक भिन्नताओं को छोड़ दें तो एक भाषा-क्षेत्र में उस भाषा-जन-समुदाय के जितने सदस्य होते हैं उतनी ही उसमें व्यक्ति-बोलियाँ होती हैं। उन समस्त व्यक्ति-बोलियों के समूह का नाम भाषा है।

बोली

भाषा-क्षेत्र की समस्त व्यक्ति-बोलियों एवं उस क्षेत्र की भाषा के मध्य प्राय: बोली का स्तर होता है। भाषा की क्षेत्रगत एवं वर्गगत भिन्नताओं को क्रमश: क्षेत्रगत एवं वर्गगत बोलियों के नाम से पुकारा जाता है। इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि भाषा की संरचक बोलियाँ होती हैं, तथा बोली की संरचक व्यक्ति बोलियाँ।

इस प्रकार तत्त्वत: बोलियों की समष्टि का नाम भाषा है। 'भाषा क्षेत्र' की क्षेत्रगत भिन्नताओं एवं वर्गगत भिन्नताओं पर आधारित भाषा के भिन्न रूप उसकी बोलियाँ हैं। बोलियाँ से ही भाषा का अस्तित्त्व है। इस प्रसंग में, यह सवाल उठाया जा सकता है कि सामान्य व्यक्ति अपने भाषा-क्षेत्र में प्रयुक्त बोलियों से इतर जिस भाषिक रूप को सामान्यत: 'भाषा' समझता है वह फिर क्या है। वह असल में उस भाषा क्षेत्र की किसी क्षेत्रीय बोली के आधार पर विकसित 'उस भाषा का मानक भाषा रूप' होता है।

इस दृष्टि के कारण ऐसे व्यक्ति 'मानक भाषा' या 'परिनिष्ठित भाषा' को मात्र 'भाषा' नाम से पुकारते हैं तथा अपने इस दृष्टिकोण के कारण 'बोली' को भाषा का भ्रष्ट रूप, अपभ्रंश रूप तथा 'गँवारू भाषा' जैसे नामों से पुकारते हैं। वस्तुत: बोलियाँ अनौपचारिक एवं सहज अवस्था में अलग-अलग क्षेत्रों में उच्चारित होने वाले रूप हैं जिन्हें संस्कृत में 'देश भाषा' तथा अपभ्रंश में 'देसी भाषा' कहा गया है। भाषा का 'मानक' रूप समस्त बोलियों के मध्य सम्पर्क सूत्र का काम करता है। भाषा की क्षेत्रगत एवं वर्गगत भिन्नताएँ उसे बोलियों के स्तरों में विभाजित कर देती हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बोलियों के स्तर पर विभाजित भाषा के रूप निश्चित क्षेत्र अथवा वर्ग में व्यवहृत होते हैं जबकि प्रकार्यात्मक धरातल पर विकसित भाषा के मानक रूप, उपमानक रूप, विशिष्ट रूप (अपभाषा, गुप्त भाषा आदि) पूरे भाषा क्षेत्र में प्रयुक्त होते हैं, भले ही इनके बोलने वालों की संख्या न्यूनाधिक हो।

प्रत्येक उच्चारित एवं व्यवहृत भाषा की बोलियाँ होती हैं। किसी भाषा में बोलियों की संख्या दो या तीन होती है तो किसी में बीस-तीस भी होती है। कुछ भाषाओं में बोलियों का अन्तर केवल कुछ विशिष्ट ध्वनियों के उच्चारण की भिन्नताओं तथा बोलने के लहजे मात्र का होता है जबकि कुछ भाषाओं में बोलियों की भिन्नताएँ भाषा के समस्त स्तरों पर प्राप्त हो सकती हैं। दूसरे शब्दों में,

बोलियों में ध्वन्यात्मक, ध्वनिग्रामिक, रूपग्रामिक, वाक्यविन्यासीय, शब्दकोषीय एवं अर्थ सभी स्तरों पर अन्तर हो सकते हैं। कहीं-कहीं ये भिन्नताएँ इतनी अधिक होती हैं कि एक सामान्य व्यक्ति यह बता देता है कि अमुक भाषिक रूप का बोलने वाला व्यक्ति अमुक बोली क्षेत्र का है।

किसी-किसी भाषा में क्षेत्रगत भिन्नताएँ इतनी व्यापक होती हैं तथा उन भिन्न भाषिक-रूपों के क्षेत्र इतने विस्तृत होते हैं कि उन्हें सामान्यतः भाषाएँ माना जा सकता है। इसका उदाहरण चीन देश की मंदारिन भाषा है, जिसकी बोलियों के क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हैं तथा उनमें से बहुत-सी परस्पर अबोधगम्य भी हैं। जब तक यूगोस्लाविया एक देश था तब तक क्रोएशियाई और सर्बियाई को एक भाषा की दो बोलियाँ माना जाता था। यूगोस्लाव के विघटन के बाद से इन्हें भिन्न भाषाएँ माना जाने लगा है। ये उदाहरण इस तथ्य को प्रतिपादित करते हैं कि पारस्परिक बोधगम्यता के सिद्धांत की अपेक्षा कभी-कभी सांस्कृतिक एवं राजनैतिक कारण अधिक निर्णायक भूमिका अदा करते हैं।

हिन्दी भाषा क्षेत्र में भी 'राजस्थानी' एवं 'भोजपुरी' के क्षेत्र एवं उनके बोलने वालों की संख्या संसार की बहुत सी भाषाओं के क्षेत्र एवं बोलने वालों की संख्या से अधिक है। 'हिन्दी भाषा-क्षेत्र' में, सामाजिक-सांस्कृतिक समन्वय के प्रतिमान के रूप में मानक अथवा व्यावहारिक हिन्दी सामाजिक जीवन में परस्पर आश्रित सहसम्बन्धों की स्थापना करती है। सम्पूर्ण हिन्दी भाषा क्षेत्र में मानक अथवा व्यावहारिक हिन्दी के उच्च प्रकार्यात्मक सामाजिक मूल्य के कारण ये भाषिक रूप 'हिन्दी भाषा' के अन्तर्गत माने जाते हैं। इस सम्बंध में आगे विस्तार से चर्चा की जाएगी।

भाषा-क्षेत्र की क्षेत्रगत भिन्नताओं के सम्भावित स्तर–

अभी तक हमने किसी भाषा-क्षेत्र में तीन भाषिक स्तरों की विवेचना की है–

(1) व्यक्ति-बोली
(2) बोली
(3) भाषा

व्यक्ति-बोलियों के समूह को 'बोली' तथा बोलियों के समूह को 'भाषा' कहा गया है। जिस प्रकार किसी भाषा के व्याकरण में शब्द एवं वाक्य के बीच अनेक व्याकरणिक स्तर हो सकते हैं। उसी प्रकार भाषा एवं बोली एवं

व्यक्ति-बोली के बीच अनेक भाषा स्तर हो सकते हैं। इन अनेक स्तरों के निम्न में से कोई एक अथवा अनेक आधार हो सकते हैं–

1. भाषा क्षेत्र का विस्तार एवं फैलाव
2. उस भाषा क्षेत्र के विविध उपक्षेत्रों की भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक स्थितियाँ
3. भाषा-क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों के पारस्परिक सामाजिक और भावात्मक सम्बन्ध

उपभाषा

यदि किसी भाषा में बोलियों की संख्या बहुत अधिक होती है तथा उस भाषा का क्षेत्र बहुत विशाल होता है तो पारस्परिक बोधगम्यता अथवा अन्य भाषेतर कारणों से बोलियों के वर्ग बन जाते हैं। इनको 'उप भाषा' के स्तर के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

उपबोली

यदि एक बोली का क्षेत्र बहुत विशाल होता है तो उसमें क्षेत्रगत अथवा वर्गगत भिन्नताएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। इनको बोली एवं व्यक्ति-बोली के बीच 'उपबोली' का स्तर माना जाता है। उपबोली को कुछ भाषा वैज्ञानिकों ने पेटवा, जनपदीय बोली अथवा स्थान-विशेष की बोली के नाम से पुकारना अधिक संगत माना हैं।

इसको इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है कि किसी भाषा क्षेत्र में भाषा की संरचक उपभाषाएँ, उपभाषा के संरचक बोलियाँ, बोली के संरचक उपबोलियाँ तथा उपबोली के संरचक व्यक्ति बोलियाँ हो सकती हैं। व्यक्ति-बोली से लेकर भाषा तक अनेक वर्गीकृत स्तरों का अधिक्रम हो सकता है।

हिन्दी भाषा-क्षेत्र के क्षेत्रीय भाषिक-रूप

हिन्दी भाषा के संदर्भ में विचारणीय है कि अवधी, बुन्देली, छत्तीसगढ़ी, ब्रज, कन्नौजी, खड़ी बोली को बोलियाँ माने या उपभाषाएँ ?

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि इनके क्षेत्र तथा इनके बोलने वालों की संख्या काफी विशाल है तथा इनमें बहुत अधिक भिन्नताएँ हैं जिनके कारण इनको बोली की अपेक्षा उपभाषा मानना अधिक संगत है। उदाहरण के रूप में यदि बुन्देली

को उपभाषा के रूप में स्वीकार किया जाता है तो पंवारी, लोधान्ती, खटोला, भदावरी, सहेरिया तथा 'छिन्दवाड़ा बुन्देली' आदि रूपों को बुन्देली उपभाषा की बोलियाँ माना जा सकता है। इन बोलियों में एक या एक से अधिक बोलियों की अपनी उपबोलियाँ हैं। उदाहरण के रूप में बुन्देली उपभाषा की 'छिन्दवाड़ा बुन्देली' बोली की पोवारी, गाओंली, राघोबंसी, किरारी आदि उपबोलियाँ है। इस प्रकार बुन्देली के संदर्भ में व्यक्तिगत बोली, उपबोली, बोली, एवं उपभाषा रूप प्राप्त हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार बुन्देली में बोलियाँ एवं उनकी उपबोलियाँ मिलती हैं उसी प्रकार कन्नौजी की बोलियाँ एवं उनकी उपबोलियाँ अथवा हरियाणवी की बोलियाँ एवं उपबोलियाँ प्राप्त नहीं होती। किन्तु हरियाणवी एवं कन्नौजी को भी वही दर्जा देना पड़ेगा जो हम बुन्देली को देंगे। यदि हम बुन्देली को हिन्दी की एक उपभाषा के रूप में स्वीकार करते हैं तो कन्नौजी एवं हरियाणवी भी हिन्दी की उपभाषाएँ हैं। इस दृष्टि से हिन्दी के क्षेत्रगत रूपों के स्तर वर्गीकरण में कहीं उपभाषा एवं बोली के अलग-अलग स्तर हैं तथा कहीं उपभाषा एवं बोली का एक ही स्तर हैं। यह बहुत कुछ इसी प्रकार है जिस प्रकार मिश्र एवं संयुक्त वाक्यों में वाक्य एवं उपवाक्य के स्तर अलग-अलग होते हैं, किन्तु सरल वाक्य में एक ही उपवाक्य होता है।

हिन्दी भाषा के संदर्भ में विचारणीय है कि क्या उपभाषा एवं भाषा के बीच भी कोई स्तर स्थापित किया जाना चाहिए अथवा नहीं।इसका कारण यह है कि जिन भाषा रूपों को हमने उपभाषाएँ कहा है उन उपभाषाओं को ग्रियर्सन ने भाषा-सर्वेक्षण में ऐतिहासिक सम्बंधों के आधार पर 05 वर्गों में बाँटा है तथा प्रत्येक वर्ग में एकाधिक उपभाषाओं को समाहित किया है। ये पाँच वर्ग निम्नलिखित है-

(1) पश्चिमी हिन्दी
(2) पूर्वी हिन्दी
(3) राजस्थानी
(4) बिहारी
(5) पहाड़ी।

इस सम्बंध में लेखक का मत है कि संकालिक भाषावैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रकार के वर्गीकरण की आवश्यकता नहीं है। जो विद्वान ग्रियर्सन के ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से इन वर्गों को कोई नाम देना ही चाहते हैं तो वे हिन्दी के सन्दर्भ में उपभाषा एवं भाषा के बीच उपभाषा की समूह गत

इकाइयों को अन्य किसी नाम के अभाव में 'उपभाषावर्ग' के नाम से पुकार सकते हैं।

इस प्रकार जिस भाषा का क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा होता है वहाँ भाषा के केवल 3 क्षेत्रगत स्तर होते हैं–

1. व्यक्ति बोली
2. बोली
3. भाषा

हिन्दी जैसे विस्तृत भाषा–क्षेत्र में निम्नलिखित क्षेत्रगत स्तर हो सकते हैं–

व्यक्ति बोली
उपबोली
बोली
उपभाषा
उपभाषावर्ग

भाषा

जो विद्वान हिन्दी भाषा की कुछ उपभाषाओं को हिन्दी भाषा से भिन्न भाषाएँ मानने के मत एवं विचार प्रस्तुत कर रहे हैं उनके निराकरण के लिए तथा जिज्ञासु पाठकों के अवलोकनार्थ एवं विचारार्थ निम्न टिप्पण प्रस्तुत हैं–

'हिन्दी भाषा क्षेत्र' के अन्तर्गत भारत के निम्नलिखित राज्य एवं केन्द्र शासित प्रदेश समाहित हैं–

उत्तर प्रदेश
उत्तराखंड
बिहार
झारखंड
मध्यप्रदेश
छत्तीसगढ़
राजस्थान
हिमाचल प्रदेश
हरियाणा
दिल्ली
चण्डीगढ़।

भारत के संविधान की दृष्टि से यही सथिति है।भाषाविज्ञान का प्रत्येक विद्‌यार्थी जानता है कि प्रत्येक भाषा क्षेत्र में भाषिक भिन्नताएँ होती हैं। हम यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि प्रत्येक 'भाषा क्षेत्र' में क्षेत्रगत एवं वर्गगत भिन्नताएँ होती हैं तथा बोलियों की समष्टि का नाम ही भाषा है। किसी भाषा की बोलियों से इतर व्यवहार में सामान्य व्यक्ति भाषा के जिस रूप को 'भाषा' के नाम से अभिहित करते हैं वह तत्वत: भाषा नहीं होती। भाषा का यह रूप उस भाषा क्षेत्र के किसी बोली अथवा बोलियों के आधार पर विकसित उस भाषा का 'मानक भाषा रूपश्ध्श्व्यावहारिक भाषा रूप' होता है। भाषा विज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति इसी को 'भाषा' कहने लगते हैं तथा 'भाषा क्षेत्र' की बोलियों को अविकसित, हीन एवं गँवारू कहने, मानने एवं समझने लगते हैं।

हम इस संदर्भ में, इस तथ्य को रेखांकित करना चाहते हैं कि भारतीय भाषिक परम्परा इस दृष्टि से अधिक वैज्ञानिक रही है। भारतीय परम्परा ने भाषा के अलग अलग क्षेत्रों में बोले जाने वाले भाषिक रूपों को 'देस भाखा' अथवा 'देसी भाषा' के नाम से पुकारा तथा घोषणा की कि देसी वचन सबको मीठे लगते हैं–' देसिल बअना सब जन मिट्ठा।'

हिन्दी भाषा क्षेत्र में हिन्दी की मुख्यत: 20 बोलियाँ अथवा उपभाषाएँ बोली जाती हैं। इन 20 बोलियों अथवा उपभाषाओं को ऐतिहासिक परम्परा से पाँच वर्गों में विभक्त किया जाता है–पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी हिन्दी, बिहारी हिन्दी और पहाड़ी हिन्दी।

पश्चिमी हिन्दी–1. खड़ी बोली 2. ब्रजभाषा 3. हरियाणवी 4. बुन्देली 5. कन्नौजी

पूर्वी हिन्दी–1. अवधी 2. बघेली 3. छत्तीसगढ़ी

राजस्थानी–1. मारवाड़ी 2. मेवाती 3. जयपुरी 4.मालवी

बिहारी–1. भोजपुरी 2. मैथिली 3. मगही 4. अंगिका 5. बज्जिका

पहाड़ी–1. कूमाऊँनी 2. गढ़वाली 3. हिमाचल प्रदेश में बोली जाने वाली हिन्दी की अनेक बोलियाँ जिन्हें आम बोलचाल में ' पहाड़ी ' नाम से पुकारा जाता है।

टिप्पण–

मैथिली

मैथिली को अलग भाषा का दर्जा दे दिया गया है, हॉलाकि हिन्दी साहित्य के पाठ्‌यक्रम में अभी भी मैथिली कवि विद्‌यापति पढ़ाए जाते हैं तथा जब नेपाल

में मैथिली आदि भाषिक रूपों के बोलने वाले मधेसी लोगों पर दमनात्मक कार्रवाई होती है तो वे अपनी पहचान 'हिन्दी भाषी' के रूप में उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार मुम्बई में रहने वाले भोजपुरी, मगही, मैथिली एवं अवधी आदि बोलने वाले अपनी पहचान 'हिन्दी भाषी' के रूप में करते हैं।

छत्तीसगढ़ी एवं भोजपुरी

जबसे मैथिली एवं छत्तीसगढ़ी को अलग भाषाओं का दर्जा मिला है तब से भोजपुरी को भी अलग भाषा का दर्जा दिए जाने की माँग प्रबल हो गई है। हिन्दी को उसके अपने ही घर में तोड़ने का सिलसिला मैथिली एवं छत्तीसगढ़ी से आरम्भ हो गया है। मैथिली पर टिप्पण लिखा जा चुका है। छत्तीसगढ़ी एवं भोजपुरी के सम्बंध में कुछ विचार प्रस्तुत हैं। जब तक छत्तीसगढ़ मध्य प्रदेश का हिस्सा था तब तक छत्तीसगढ़ी को हिन्दी की बोली माना जाता था। रायपुर विश्वविद्यालय के भाषा विज्ञान के प्रोफेसर डॉ. रमेश चन्द्र महरोत्र का सन् 1976 में एक आलेख रायपुर से भाषिकी प्रकाशन से प्रकाशित हुआ जिसमें हिन्दी की 22 बोलियों के अंतर्गत छत्तीसगढ़ी समाहित है।

लेखक भोजपुरी के सम्बंध में भी कुछ निवेदन करना चाहता है। लेखक को जबलपुर के विश्वविद्यालय में डॉ. उदय नारायण तिवारी जी के साथ काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। भोजपुरी की भाषिक स्थिति को लेकर अकसर हमारे बीच विचार विमर्श होता था। उनके जामाता डॉ. शिव गोपाल मिश्र उनकी स्मृति में प्रतिवर्ष व्याख्यानमाला आयोजित करते हैं। दिनांक 26 जून, 2013 को मुझे हिन्दुस्तानी एकाडमी, इलाहाबाद के श्री बृजेशचन्द्र का 'डॉ. उदय नारायण तिवारी व्याख्यानमाला' निमंत्रण पत्र प्राप्त हुआ। व्याख्यान का विषय था–'भोजपुरी भाषा'। लेखक ने उसी दिन व्याख्यान के सम्बंध में डॉ. शिव गोपाल मिश्र को जो पत्र लिखा उसका व्याख्यान के विषय से सम्बंधित अंश पाठको के अवलोकनार्थ अविकल प्रस्तुत हैं–

डॉ. उदय नारायण तिवारी जी ने भोजपुरी का भाषावैज्ञानिक अध्ययन किया। उनके अध्ययन का वही महत्त्व है, जो सुनीति कुमार चटर्जी के बांग्ला पर सम्पन्न कार्य का है। इस विषय पर हमारे बीच अनेक बार संवाद हुए। कई बार मत भिन्नता भी हुई। जब लेखक भाषा-भूगोल एवं बोली-विज्ञान के सिद्धांतों के आलोक में हिन्दी भाषा-क्षेत्र की विवेचना करता था तो डॉ. तिवारी जी इस

मत से सहमत हो जाते थे कि हिन्दी भाषा–क्षेत्र के अंतर्गत भारत के जितने राज्य एवं केन्द्र शासित प्रदेश समाहित हैं, उन समस्त क्षेत्रों में, जो भाषिक रूप बोले जाते हैं, उनकी समष्टि का नाम हिन्दी है। खड़ी बोली ही हिन्दी नहीं है अपितु यह भी हिन्दी भाषा–क्षेत्र का उसी प्रकार एक क्षेत्रीय भेद है जिस प्रकार हिन्दी भाषा–क्षेत्र के अन्य अनेक क्षेत्रीय भेद हैं। मगर कभी–कभी उनका तर्क होता था कि खड़ी बोली बोलने वाले और भोजपुरी बोलने वालों के बीच बोधगम्यता बहुत कम होती है। इस कारण भोजपुरी को यदि अलग भाषा माना जाता है तो इसमें क्या हानि है। जब लेखक कहता था कि भाषाविज्ञान का सिद्धांत है कि संसार की प्रत्येक भाषा के 'भाषा–क्षेत्र' में भाषिक भिन्नताएँ होती हैं। हम ऐसी किसी भाषा की कल्पना नहीं कर सकते जिसके भाषा–क्षेत्र में क्षेत्रगत एवं वर्गगत भिन्नताएँ न हों। इस पर डॉ. तिवारी जी असमंजस में पड़ जाते थे। अनेक वर्षों के संवाद के अनन्तर एक दिन डॉ. तिवारी जी ने मुझे अपने मन के रहस्य से अवगत कराया। उनके शब्द थे–

"जब मैं ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के अपने अध्ययन के आधार पर विचार करता हूँ तो मुझे भोजपुरी की स्थिति हिन्दी से अलग भिन्न भाषा की लगती है मगर जब मैं संकालिक भाषाविज्ञान के सिद्धांतों की दृष्टि से सोचता हूँ तो पाता हूँ कि भोजपुरी भी हिन्दी भाषा–क्षेत्र का एक क्षेत्रीय रूप है"।

बहुत से विद्वान यह तर्क देते हैं कि डॉ. उदय नारायण तिवारी ने 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' शीर्षक ग्रंथ में 'भोजपुरी' को भाषा माना है। इस सम्बंध में, लेखक विद्वानों को इस तथ्य से अवगत करना चाहता है कि हिन्दी में प्रकाशित उक्त ग्रंथ उनके डी. लिट् उपाधि के लिए स्वीकृत अंग्रेजी भाषा में लिखे गए शोध–प्रबंध का हिन्दी रूपांतर है। डॉ. उदय नारायण तिवारी ने कलकत्ता में सन् 1941 ईस्वी में पहले 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' में एम. ए. की परीक्षा पास की तथा सन् 1942 ईस्वी में डी. लिट्. उपाधि के लिए शोध–प्रबंध पूरा करके इलाहाबाद लौट आए तथा उसे परीक्षण के लिए इलाहाबाद विश्वविद्यालय में जमा कर दिया। आपने अपना शोध–प्रबंध अंग्रेजी भाषा में डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के निर्देशन में सम्पन्न किया तथा डी. लिट्. की उपाधि प्राप्त होने के बाद इसका प्रकाशन 'एशियाटिक सोसाइटी' से हुआ। इस शोध–प्रबंध का शीर्षक है–'ए डाइलेक्ट ऑफ भोजपुरी'। डॉ. उदय नारायण तिवारी ने इस तथ्य को स्वयं अपने एक लेख अभिव्यक्त किया है।

राजस्थानी

"श्रीमद्‌जवाहराचार्य स्मृति व्याख्यानमाला" के अन्तर्गत "विश्व शान्ति एवं अहिंसा" विषय पर व्याख्यान देने सन् 1987 ईस्वी में लेखक का कलकत्ता (कोलकोता) जाना हुआ था। वहाँ श्री सरदारमल जी कांकरिया के निवास पर लेखक का संवाद राजस्थानी भाषा की मान्यता के लिए आन्दोलन चलाने वाले तथा राजस्थानी में "धरती धौरां री" एवं "पातल और पीथल" जैसी कृतियों की रचना करने वाले कन्हैया लाल सेठिया जी से हुआ। उनका आग्रह था कि राजस्थानी को स्वतंत्र भाषा का दर्जा मिलना चाहिए। लेखक ने उनसे अपने आग्रह पर पुनर्विचार करने की कामना व्यक्त की और मुख्यतः निम्न मुद्दों पर विचार करने का अनुरोध किया–

(1) ग्रियर्सन ने ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया है। स्वाधीनता आन्दोलन में हमारे राष्ट्रीय नेताओं के कारण हिन्दी का जितना प्रचार प्रसार हुआ उसके कारण हमें ग्रियर्सन की दृष्टि से नहीं अपितु डॉ. धीरेन्द्र वर्मा आदि भाषाविदों की दृष्टि से विचार करना चाहिए।

(2) राजस्थानी भाषा जैसी कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है। राजस्थान में निम्न क्षेत्रीय भाषिक-रूप बोले जाते हैं–

1. मारवाड़ी
2. मेवाती
3. जयपुरी
4. मालवी (राजस्थान के साथ-साथ मध्य-प्रदेश में भी) राजस्थानी जैसी स्वतंत्र भाषा नहीं है। इन विविध भाषिक रूपों को हिन्दी के रूप मानने में क्या आपत्ति हो सकती है।

(3) यदि आप राजस्थानी का मतलब केवल मारवाड़ी से लेंगे तो क्या मेवाती, जयपुरी, मालवी, हाड़ौती, शेखावाटी आदि अन्य भाषिक रूपों के बोलने वाले अपने अपने भाषिक रूपों के लिए आवाज नहीं उठायेंगे।

(4) भारत की भाषिक परम्परा रही है कि एक भाषा के हजारों भूरि भेद माने गए हैं मगर अंतरक्षेत्रीय सम्पर्क के लिए एक भाषा की मान्यता रही है।

(5) हिन्दी साहित्य की संश्लिष्ट परम्परा रही है। इसी कारण हिन्दी साहित्य के अंतर्गत रास एवं रासो साहित्य की रचनाओं का भी अध्ययन किया जाता है।

(6) राजस्थान की पृष्ठभूमि पर आधारित हिन्दी कथा साहित्य एवं हिन्दी फिल्मों में जिस राजस्थानी मिश्रित हिन्दी का प्रयोग होता है उसे हिन्दी भाषा क्षेत्र के प्रत्येक भाग का रहने वाला समझ लेता है।

(7) मारवाड़ी लोग व्यापार के कारण भारत के प्रत्येक राज्य में निवास करते हैं तथा अपनी पहचान हिन्दी भाषी के रूप में करते हैं। यदि आप राजस्थानी को हिन्दी से अलग मान्यता दिलाने का प्रयास करेंगे तो राजस्थान के बाहर रहने वाले मारवाड़ी व्यापारियों के हित प्रभावित हो सकते हैं।

(8) भारतीय भाषाओं के अस्तित्त्व एवं महत्त्व को अंग्रेजी से खतरा है। संसार में अंग्रेजी भाषियों की जितनी संख्या है उससे अधिक संख्या केवल हिन्दी भाषियों की है। यदि हिन्दी के उपभाषिक रूपों को हिन्दी से अलग मान लिया जाएगा तो भारत की कोई भाषा अंग्रेजी से टक्कर नहीं ले सकेगी और धीरे धीरे भारतीय भाषाओं के अस्तित्त्व का संकट पैदा हो जाएगा।

पहाड़ी–

डॉ. सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने 'पहाड़ी' समुदाय के अन्तर्गत बोले जाने वाले भाषिक रूपों को तीन शाखाओं में बाँटा–

(अ) पूर्वी पहाड़ी अथवा नेपाली

(आ) मध्य या केन्द्रीय पहाड़ी

(इ) पश्चिमी पहाड़ी।

हिन्दी भाषा के संदर्भ में वर्तमान स्थिति यह है कि हिन्दी भाषा के अन्तर्गत मध्य या केन्द्रीय पहाड़ी की उत्तराखंड में बोली जाने वाली 1. कूमाऊँनी 2. गढ़वाली तथा पश्चिमी पहाड़ी की हिमाचल प्रदेश में बोली जाने वाली हिन्दी की अनेक बोलियाँ हैं जिन्हें आम बोलचाल में ' पहाड़ी ' नाम से पुकारा जाता है।

हिन्दी भाषा के संदर्भ में विचारणीय है कि अवधी, बुन्देली, ब्रज, भोजपुरी, मैथिली आदि को हिन्दी भाषा की बोलियाँ माना जाए अथवा उपभाषाएँ माना जाए। सामान्य रूप से इन्हें बोलियों के नाम से अभिहित किया जाता है किन्तु लेखक ने अपने ग्रन्थ ' भाषा एवं भाषाविज्ञान' में इन्हें उपभाषा मानने का प्रस्ताव किया है। 'क्षेत्र, बोलने वालों की संख्या तथा परस्पर भिन्नताओं के कारण इनको बोली की अपेक्षा उपभाषा मानना अधिक संगत है। इसी ग्रन्थ में लेखक ने पाठकों का ध्यान इस ओर भी आकर्षित किया कि हिन्दी की कुछ उपभाषाओं के भी

क्षेत्रगत भेद हैं जिन्हें उन उपभाषाओं की बोलियों अथवा उपबोलियों के नाम से पुकारा जा सकता है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इन उपभाषाओं के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है। प्रत्येक दो उपभाषाओं के मध्य संक्रमण क्षेत्र विद्यमान है।

विश्व की प्रत्येक भाषा के विविध बोली अथवा उपभाषा क्षेत्रों में से विभिन्न सांस्कृतिक कारणों से जब कोई एक क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है तो उस क्षेत्र के भाषा रूप का सम्पूर्ण भाषा क्षेत्र में प्रसारण होने लगता है। इस क्षेत्र के भाषारूप के आधार पर पूरे भाषाक्षेत्र की 'मानक भाषा' का विकास होना आरम्भ हो जाता है। भाषा के प्रत्येक क्षेत्र के निवासी इस भाषारूप को 'मानक भाषा' मानने लगते हैं। इसको मानक मानने के कारण यह मानक भाषा रूप 'भाषा क्षेत्र' के लिए सांस्कृतिक मूल्यों का प्रतीक बन जाता है। मानक भाषा रूप की शब्दावली, व्याकरण एवं उच्चारण का स्वरूप अधिक निश्चित एवं स्थिर होता है एवं इसका प्रचार, प्रसार एवं विस्तार पूरे भाषा क्षेत्र में होने लगता है। कलात्मक एवं सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम एवं शिक्षा का माध्यम यही मानक भाषा रूप हो जाता है। इस प्रकार भाषा के 'मानक भाषा रूप' का आधार उस भाषाक्षेत्र की क्षेत्रीय बोली अथवा उपभाषा ही होती है, किन्तु मानक भाषा होने के कारण चूँकि इसका प्रसार अन्य बोली क्षेत्रों अथवा उपभाषा क्षेत्रों में होता है इस कारण इस भाषारूप पर 'भाषा क्षेत्र' की सभी बोलियों का प्रभाव पड़ता है तथा यह भी सभी बोलियों अथवा उपभाषाओं को प्रभावित करता है। उस भाषा क्षेत्र के शिक्षित व्यक्ति औपचारिक अवसरों पर इसका प्रयोग करते हैं। भाषा के मानक भाषा रूप को सामान्य व्यक्ति अपने भाषा क्षेत्र की 'मूल भाषा', केन्द्रक भाषा', 'मानक भाषा' के नाम से पुकारते हैं। यदि किसी भाषा का क्षेत्र हिन्दी भाषा की तरह विस्तृत होता है तथा यदि उसमें 'हिन्दी भाषा क्षेत्र' की भाँति उपभाषाओं एवं बोलियों की अनेक परतें एवं स्तर होते हैं तो 'मानक भाषा' के द्वारा समस्त भाषा क्षेत्र में विचारों का आदान प्रदान सम्भव हो पाता है। भाषा क्षेत्र के यदि आंशिक अबोधगम्य उपभाषी अथवा बोली बोलने वाले परस्पर अपनी उपभाषा अथवा बोली के माध्यम से विचारों का समुचित आदान प्रदान नहीं कर पाते तो इसी मानक भाषा के द्वारा संप्रेषण करते हैं। भाषा विज्ञान में इस प्रकार की बोधगम्यता को 'पारस्परिक बोधगम्यता' न कहकर 'एकतरफा बोधगम्यता' कहते हैं। ऐसी स्थिति में अपने क्षेत्र के व्यक्ति से क्षेत्रीय बोली में बातें होती हैं,

किन्तु दूसरे उपभाषा क्षेत्र अथवा बोली क्षेत्र के व्यक्ति से अथवा औपचारिक अवसरों पर मानक भाषा के द्वारा बातचीत होती हैं। इस प्रकार की भाषिक स्थिति को फर्गुसन ने बोलियों की परत पर मानक भाषा का अध्यारोपण कहा है। 12 गम्पर्ज ने इसे 'बाइलेक्टल' के नाम से पुकारा है।13

हिन्दी भाषा क्षेत्र में अनेक क्षेत्रगत भेद एवं उपभेद तो है हीं, प्रत्येक क्षेत्र के प्रायः प्रत्येक गाँव में सामाजिक भाषिक रूपों के विविध स्तरीकृत तथा जटिल स्तर विद्यमान हैं और यह हिन्दी भाषा-क्षेत्र के सामाजिक संप्रेषण का यथार्थ है जिसको जाने बिना कोई व्यक्ति हिन्दी भाषा के क्षेत्र की विवेचना के साथ न्याय नहीं कर सकता। ये हिन्दी पट्टी के अन्दर सामाजिक संप्रेषण के विभिन्न नेटवर्कों के बीच संवाद के कारक हैं। इस हिन्दी भाषा क्षेत्र अथवा पट्टी के गावों के रहनेवालों के वाग्व्यवहारों का गहराई से अध्ययन करने पर पता चलता है कि ये भाषिक स्थितियाँ इतनी विविध, विभिन्न एवं मिश्र हैं कि भाषा व्यवहार के स्केल के एक छोर पर हमें ऐसा व्यक्ति मिलता है, जो केवल स्थानीय बोली बोलना जानता है तथा जिसकी बातचीत में स्थानीयेतर कोई प्रभाव दिखाई नहीं पड़ता वहीं दूसरे छोर पर हमें ऐसा व्यक्ति मिलता है, जो ठेठ मानक हिन्दी का प्रयोग करता है तथा जिसकी बातचीत में कोई स्थानीय भाषिक प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। स्केल के इन दो दूरतम छोरों के बीच बोलचाल के इतने विविध रूप मिल जाते हैं कि उन सबका लेखा जोखा प्रस्तुत करना असाध्य हो जाता है। हमें ऐसे भी व्यक्ति मिल जाते हैं, जो एकाधिक भाषिक रूपों में दक्ष होते हैं। जिसका व्यवहार तथा चयन वे संदर्भ, व्यक्ति, परिस्थियों को ध्यान में रखकर करते हैं। सामान्य रूप से हम पाते हैं कि अपने घर के लोगों से तथा स्थानीय रोजाना मिलने जुलने वाले घनिष्ठ मित्रों से व्यक्ति जिस भाषा रूप में बातचीत करता है उससे भिन्न भाषा रूप का प्रयोग वह उनसे भिन्न व्यक्तियों एवं परिस्थितियों में करता है। सामाजिक संप्रेषण के अपने प्रतिमान हैं। व्यक्ति प्रायः वाग्व्यवहारों के अवसरानुकूल प्रतिमानों को ध्यान में रखकर बातचीत करता है।

हम यह कह चुके हैं कि किसी भाषा क्षेत्र की मानक भाषा का आधार कोई बोली अथवा उपभाषा ही होती है किन्तु कालान्तर में उक्त बोली एवं मानक भाषा के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। सम्पूर्ण भाषा क्षेत्र के शिष्ट एवं शिक्षित व्यक्तियों द्वारा औपचारिक अवसरों पर मानक भाषा का प्रयोग किए जाने के कारण तथा साहित्य का माध्यम बन जाने के कारण स्वरूपगत परिवर्तन स्वाभाविक है। प्रत्येक भाषा क्षेत्र में किसी क्षेत्र विशेष के भाषिक रूप के आधार

पर उस भाषा का मानक रूप विकसित होता है, जिसका उस भाषा–क्षेत्र के सभी क्षेत्रों के पढ़े–लिखे व्यक्ति औपचारिक अवसरों पर प्रयोग करते हैं। हम पाते हैं कि इस मानक हिन्दी अथवा व्यावहारिक हिन्दी का प्रयोग सम्पूर्ण हिन्दी भाषा क्षेत्र में बढ़ रहा है तथा प्रत्येक हिन्दी भाषी व्यक्ति शिक्षित, सामाजिक दृष्टि से प्रतिष्ठित तथा स्थानीय क्षेत्र से इतर अन्य क्षेत्रों के व्यक्तियों से वार्तालाप करने के लिए इसी को आदर्श, श्रेष्ठ एवं मानक मानता है। गाँव में रहने वाला एक सामान्य एवं बिना पढ़ा लिखा व्यक्ति भले ही इसका प्रयोग करने में समर्थ तथा सक्षम न हो फिर भी वह इसके प्रकार्यात्मक मूल्य को पहचानता है तथा वह भी अपने भाषिक रूप को इसके अनुरूप ढालने की जुगाड़ करता रहता है। जो मजदूर शहर में काम करने आते हैं वे किस प्रकार अपने भाषा रूप को बदलने का प्रयास करते हैं–इसको देखा परखा जा सकता है।

सन् 1960 में लेखक ने बुलन्द शहर एवं खुर्जा तहसीलों (ब्रज एवं खड़ी बोली का संक्रमण क्षेत्र) के भाषिक रूपों का संकालिक अथवा एककालिक भाषावैज्ञानिक अध्ययन करना आरम्भ किया। सामग्री संकलन के लिए जब लेखक गाँवों में जाता था तथा वहाँ रहने वालों से बातचीत करता था तबके उनके भाषिक रूपों एवं आज लगभग 55 वर्षों के बाद के भाषिक रूपों में बहुत अन्तर आ गया है। अब इनके भाषिक–रूपों पर मानक हिन्दी अथवा व्यावहारिक हिन्दी का प्रभाव आसानी से पहचाना जा सकता है। इनके भाषिक–रूपों में अंग्रेजी शब्दों का चलन भी बढ़ा है। यह कहना अप्रासंगिक होगा कि उनकी जिन्दगी में और व्यवहार में भी बहुत बदलाव आया है।

मानक हिन्दी अथवा व्यावहारिक हिन्दी का सम्पूर्ण हिन्दी भाषा क्षेत्र में व्यवहार होने तथा इसके प्रकार्यात्मक प्रचार–प्रसार के कारण, यह हिन्दी भाषा–क्षेत्र में प्रयुक्त समस्त भाषिक रूपों के बीच संपर्क सेतु की भूमिका का निर्वाह कर रहा है।

हिन्दी भाषा का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इस कारण इसकी क्षेत्रगत भिन्नताएँ भी बहुत अधिक हैं। 'खड़ी बोली' हिन्दी भाषा क्षेत्र का उसी प्रकार एक भेद है य जिस प्रकार हिन्दी भाषा के अन्य बहुत से क्षेत्रगत भेद हैं। हिन्दी भाषा क्षेत्र में ऐसी बहुत सी उपभाषाएँ हैं, जिनमें पारस्परिक बोधगम्यता का प्रतिशत बहुत कम है किन्तु ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पूर्ण भाषा क्षेत्र एक भाषिक इकाई है तथा इस भाषा–भाषी क्षेत्र के बहुमत भाषा–भाषी अपने–अपने क्षेत्रगत भेदों को हिन्दी भाषा के रूप में मानते एवं स्वीकारते आए हैं। कुछ विद्वानों ने

इस भाषा क्षेत्र को 'हिन्दी पट्टी' के नाम से पुकारा है तथा कुछ ने इस हिन्दी भाषी क्षेत्र के निवासियों के लिए 'हिन्दी जाति' का अभिधान दिया है।

वस्तु स्थिति यह है कि हिन्दी, चीनी एवं रूसी जैसी भाषाओं के क्षेत्रगत प्रभेदों की विवेचना यूरोप की भाषाओं के आधार पर विकसित पाश्चात्य भाषाविज्ञान के प्रतिमानों के आधार पर नहीं की जा सकती।

जिस प्रकार अपने 29 राज्यों एवं 07 केन्द्र शासित प्रदेशों को मिलाकर भारतदेश है, उसी प्रकार भारत के जिन राज्यों एवं शासित प्रदेशों को मिलाकर हिन्दी भाषा क्षेत्र है, उस हिन्दी भाषा-क्षेत्र के अन्तर्गत जितने भाषिक रूप बोले जाते हैं उनकी समाष्टि का नाम हिन्दी भाषा है। हिन्दी भाषा क्षेत्र के प्रत्येक भाग में व्यक्ति स्थानीय स्तर पर क्षेत्रीय भाषा रूप में बात करता है। औपचारिक अवसरों पर तथा अन्तर-क्षेत्रीय, राष्ट्रीय एवं सार्वदेशिक स्तरों पर भाषा के मानक रूप अथवा व्यावहारिक हिन्दी का प्रयोग होता है। आप विचार करें कि उत्तर प्रदेश हिन्दी भाषी राज्य है अथवा खड़ी बोली, ब्रजभाषा, कन्नौजी, अवधी, बुन्देली आदि भाषाओं का राज्य है। इसी प्रकार मध्य प्रदेश हिन्दी भाषी राज्य है अथवा बुन्देली, बघेली, मालवी, निमाड़ी आदि भाषाओं का राज्य है। जब संयुक्त राज्य अमेरिका की बात करते हैं तब संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत जितने राज्य हैं उन सबकी समष्टि का नाम ही तो संयुक्त राज्य अमेरिका है। विदेश सेवा में कार्यरत अधिकारी जानते हैं कि कभी देश के नाम से तथा कभी उस देश की राजधानी के नाम से देश की चर्चा होती है। वे ये भी जानते हैं कि देश की राजधानी के नाम से देश की चर्चा भले ही होती है, मगर राजधानी ही देश नहीं होता। इसी प्रकार किसी भाषा के मानक रूप के आधार पर उस भाषा की पहचान की जाती है मगर मानक भाषा, भाषा का एक रूप होता है : मानक भाषा ही भाषा नहीं होती। इसी प्रकार खड़ी बोली के आधार पर मानक हिन्दी का विकास अवश्य हुआ है, किन्तु खड़ी बोली ही हिन्दी नहीं है। तत्वत: हिन्दी भाषा क्षेत्र के अन्तर्गत जितने भाषिक रूप बोले जाते हैं उन सबकी समष्टि का नाम हिन्दी है। हिन्दी को उसके अपने ही घर में तोड़ने के षडयंत्र को विफल करने की आवश्कता है तथा इस तथ्य को बलपूर्वक रेखांकित, प्रचारित एवं प्रसारित करने की आवश्यकता है कि सन् 1991 की भारतीय जनगणना के अन्तर्गत भारतीय भाषाओं के विश्लेषण का जो ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है उसमें मातृभाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार करने वालों की संख्या का प्रतिशत उत्तर प्रदेश (उत्तराखंड राज्य सहित) में 90.11, बिहार (झारखण्ड राज्य सहित) में 80.86, मध्य प्रदेश

(छत्तीसगढ़ राज्य सहित) में 85.55, राजस्थान में 89.56, हिमाचल प्रदेश में 88. 88, हरियाणा में 91.00, दिल्ली में 81.64, तथा चण्डीगढ़ में 61.06 है। 15

हिन्दी भाषा-क्षेत्र एवं मंदारिन भाषा-क्षेत्र

जिस प्रकार चीन में मंदारिन भाषा की स्थिति है उसी प्रकार भारत में हिन्दी भाषा की स्थिति है। जिस प्रकार हिन्दी भाषा–क्षेत्र में विविध क्षेत्रीय भाषिक रूप बोले जाते हैं, वैसे ही मंदारिन भाषा–क्षेत्र में विविध क्षेत्रीय भाषिक–रूप बोले जाते हैं। हिन्दी भाषा–क्षेत्र के दो चरम छोर पर बोले जाने वाले क्षेत्रीय भाषिक रूपों के बोलने वालों के बीच पारस्परिक बोधगम्यता का प्रतिशत बहुत कम है। मगर मंदारिन भाषा के दो चरम छोर पर बोले जाने वाले क्षेत्रीय भाषिक रूपों के बोलने वालों के बीच पारस्परिक बोधगम्यता बिल्कुल नहीं है। उदाहरण के लिए मंदारिन के एक छोर पर बोली जाने वाली हार्बिन और मंदारिन के दूसरे छोर पर बोली जाने वाली शिआनीज के वक्ता एक दूसरे से संवाद करने में सक्षम नहीं हो पाते। उनमें पारस्परिक बोधगम्यता का अभाव है। वे आपस में मंदारिन के मानक भाषा रूप के माध्यम से बातचीत कर पाते हैं। मंदारिन के इस क्षेत्रीय भाषिक रूपों को लेकर वहाँ कोई विवाद नहीं है। पाश्चात्य भाषावैज्ञानिक मंदारिन को लेकर कभी विवाद पैदा करने का साहस नहीं कर पाते। मंदारिन की अपेक्षा हिन्दी के भाषा–क्षेत्र में बोले जाने वाले भाषिक–रूपों में पारस्परिक बोधगम्यता का प्रतिशत अधिक है। यही नहीं सम्पूर्ण हिन्दी भाषा–क्षेत्र में पारस्परिक बोधगम्यता का सातत्य मिलता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि हम हिन्दी भाषा–क्षेत्र में एक छोर से दूसरे छोर तक यात्र करे तो निकटवर्ती क्षेत्रीय भाषिक–रूपों में बोधगम्यता का सातत्य मिलता है। हिन्दी भाषा–क्षेत्र के दो चरम छोर के क्षेत्रीय भाषिक–रूपों के वक्ताओं को अपने अपने क्षेत्रीय भाषिक–रूपों के माध्यम से संवाद करने में कठिनाई होती है। कठिनाई तो होती है मगर इसके बावजूद वे परस्पर संवाद कर पाते हैं। यह स्थिति मंदारिन से अलग है जिसके चरम छोर के क्षेत्रीय भाषिक–रूपों के वक्ता अपने अपने क्षेत्रीय भाषिक–रूपों के माध्यम से कोई संवाद नहीं कर पाते। मंदारिन के एक छोर पर बोली जाने वाली हार्बिन और मंदारिन के दूसरे छोर पर बोली जाने वाली शिआनीज के वक्ता एक दूसरे से संवाद करने में सक्षम नहीं हैं मगर हिन्दी के एक छोर पर बोली जाने वाली भोजपुरी और मैथिली तथा दूसरे छोर पर बोली जाने वाली मारवाड़ी के वक्ता एक दूसरे के अभिप्राय को किसी न किसी मात्र में समझ लेते हैं।

यदि चीन में मंदारिन भाषा-क्षेत्र के समस्त क्षेत्रीय भाषिक-रूप मंदारिन भाषा के ही अंतर्गत स्वीकृत है तो उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी भाषा-क्षेत्र के अन्तर्गत समाविष्ट क्षेत्रीय भाषिक-रूपों को भिन्न-भिन्न भाषाएँ मानने का विचार नितान्त अतार्किक और अवैज्ञानिक है। लेखक का स्पष्ट एवं निर्भ्रांत मत है कि हिन्दी को उसके अपने ही घर में तोड़ने के षड़यंत्रों को बेनकाब करने और उनको निर्मूल करने की आवश्यकता असंदिग्ध है। हिन्दी देश को जोड़ने वाली भाषा है। उसे उसके ही घर में तोड़ने का अपराध किसी को नहीं करना चाहिए।

2

भारतेंदु पूर्व हिंदी गद्य शैली का विकास

खड़ी बोली हिंदी गद्य का प्रथम ग्रंथ 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' है, जो अकबर के दरबारी कवि गंग द्वारा लिखा गया था। इस ग्रंथ में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ-साथ ब्रजभाषा के भी शब्दों का व्यवहार बहुतायत से हुआ है। परन्तु हिंदी गद्य के साहित्यिक उत्थान के दृष्टि से पटियाला निवासी रामप्रसाद निरंजनी द्वारा लिखी गयी गद्य रचना 'भाषा योगवासिष्ठ' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रंथ की भाषा अधिक निखरी हुई खड़ी बोली हिंदी है। रामप्रसाद निरंजनी को 'प्रथम प्रौढ़ गद्य-लेखक' मानते हुए आचार्य शुक्ल अपने इतिहास के आधुनिक काल में लिखते हैं—'ये पटियाला दरबार में थे और महारानी को कथा बाँचकर सुनाया करते थे। इनके ग्रंथ देखकर यह स्पष्ट हो जाता हैं कि मुंशी सदासुख और लल्लूलाल से 62 वर्ष पहले खड़ी बोली का गद्य अच्छे परिमार्जित रूप में पुस्तकें आदि लिखने में व्यवहृत होता था। अब तक पाई गयी पुस्तकों में यह 'भाषा योगवासिष्ठ' ही सबसे पुराना है जिसमें गद्य अपने परिष्कृत रूप में दिखाई पड़ता है।'1

निरंजनी के बाद पं. दौलतराम ने सात सौ पृष्ठों में हरिषेणाचार्य कृत 'जैन पद्मपुराण' का गद्यानुवाद प्रस्तुत किया, परन्तु इस ग्रंथ का गद्य निरंजनी के गद्य जैसा परिमार्जित रूप नहीं है।

फोर्ट विलियम कॉलेज तथा लेखक चतुष्टय-भारतेंदु-पूर्व हिंदी गद्य के क्रमिक विकास में चार लेखकों—लल्लू लाल, सदल मिश्र, इंशाअल्ला खाँ तथा मुंशी सदासुख लाल का विशेष महत्त्व है। इनमें से प्रारम्भिक दो लेखक लल्लूलाल और सदल मिश्र फोर्ट विलियम कॉलेज में हिंदी के अध्यापक थे। 1800 ई. में जॉन गिलक्राइस्ट ने कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। इस सन्दर्भ में रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं—'फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना 1800 ई. में हुई, पर इसका प्रभाव-क्षेत्र सीमित था। यहाँ उस समय की राजधानी में इग्लैंड से नवागत अँग्रेज अफसरों के प्रशिक्षण की व्यवस्था थी। इस प्रशिक्षण में आधुनिक भारतीय भाषाओं की जानकारी भी शामिल थी। इसके लिए कॉलेज के प्रिंसपल गिलक्राइस्ट ने अपनी समझ के हिसाब से हिंदी/हिन्दुस्तानी गद्य में पुस्तकें लिखवाई।'

इसका उद्देश्य भारतीय शासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए अँग्रेज अफसर तैयार करना था। इन्हीं अफसरों को हिंदी शिक्षा देने और इस योग्य पाठ्य पुस्तकों की तैयारी के लिए लल्लूलाल और सदल मिश्र को अध्यापक के रूप में नियुक्त किय गया।

लल्लू लाल (1763-1825) ने 1803 ई. में गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से 'प्रेमसागर' की रचना की। इसे श्रीमद्भागवत के दशम-स्कन्ध का भाषानुवाद कहा जा सकता है। इसकी भाषा अनेक विदेशी शब्दों और ब्रजभाषा के शब्द-प्रयोग से बोझिल है। लल्लूलाल साधारण पढ़े-लिखे आदमी थे। इनके गद्य में पण्डिताऊपन के साथ-साथ व्याकरण की अशुद्धियाँ भी बहुतायत से मिलती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार—'लल्लूलाल ने उर्दू, खड़ी बोली हिंदी और ब्रजभाषा तीनों में गद्य की पुस्तकें लिखी। ये संस्कृत नहीं जानते थे। ब्रजभाषा में लिखी हुई कथाओं और कहानियों को उर्दू और हिंदी गद्य में लिखने के लिए इनसे कहा गया था जिसके अनुसार इन्होंने सिंहासनबत्तीसी, बैतालपचीसी, शकुंतला नाटक, माधोनल और प्रेमसागर लिखे। प्रेमसागर के पहले ही चारों पुस्तकें बिल्कुल उर्दू में हैं। इनके अतरिक्त इन्होंने 'राजनीति' के नाम से हितोपदेश की कहानियाँ ब्रजभाषा गद्य में लिखी। 'माधवविलास' और 'सभाविलास' नाम से ब्रजभाषा पद्य के संग्रह ग्रंथ इन्होंने प्रकाशित किये थे। इनकी 'लालचन्द्रिका' नाम की बिहारी सतसई की टीका भी प्रसिद्ध हैं।' इनका गद्य कथा वाचन के उपयोग का अधिक, साहित्य के उपयोग का कम था। इतने पर प्रारम्भिक खड़ी बोली गद्य की दृष्टि से इसका अपना महत्त्व है।

सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपख्यान' की रचना संस्कृत के चन्द्रावती नामक कथाग्रंथ के अनुवाद रूप में की। इनका गद्य पर्याप्त निखरा हुआ और प्रवाह से युक्त है। ये बिहार के रहने वाले थे। अतः यत्र-तत्र कुछ पूर्वी बोली के शब्द-प्रयोगों को छोड़ इनका गद्य प्रारम्भिक हिंदी गद्य का अच्छा निदर्शन है। इनकी भाषा कोई एक निश्चित नियम मानकर नहीं चलती, क्योंकि उनके सामने भाषा का कोई आदर्श नहीं था। इतना होते हुए भी भाषा की प्रौढ़ता की दृष्टि से वे अपने समकालीन लेखकों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इनकी भाषा गठीली है। यह लल्लूलाल की भाषा की भाँति लचरपन, शब्दों को तोड़-मरोड़, लम्बे-लम्बे समास तथा तुकों एवं अनुप्रासों के बाहुल्य से रहित है।

मुंशी सदासुख लाल 'नियाज' (1746-1824) दिल्ली के निवासी थे। मिर्जापुर के चुनार नामक स्थान पर अफसर थे। हिंदी गद्य की सेवा इन्होंने अपनी अन्तः प्रेरणा से की। नौकरी छोड़ ये प्रयाग आ गये। यही पर विष्णु पुराण से एक उपदेशात्मक प्रसंग लेकर हिंदी में श्रीमद्भागवत का सुखसागर नाम से अनुवाद किया। इनकी भाषा उस समय प्रचलित हिन्दुओं की शिष्टभाषा है। यत्र-तत्र मिलने वाले पण्डिताऊपन के अतरिक्त इनकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्द-प्रयोगों से युक्त है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में—'इसी संस्कृत मिश्रित हिंदी को उर्दूवाले 'भाषा' कहते थे जिसका चलन उर्दू के कारण कम होते देख मुंशी सदासुख ने इस प्रकार खेद प्रकट किया था—रस्मौ-रिवाज भाखा का दुनिया से उठ गया। सारांश यह हैं कि मुंशी जी ने हिंदुओं की शिष्ट बोलचाल की भाषा ग्रहण की, उर्दू से अपनी भाषा नहीं ली।'

इंशाअल्ला खाँ (1792-1875) सदासुख लाल की भाँति स्वान्तः सुखाय उदयभान चरित्र या रानी केतकी की कहानी की रचना की। यह कृति भाषा-प्रयोग के दृष्टि से लिखी गयी। इंशाअल्ला के समक्ष हिंदी गद्य की उर्दू मिश्रित और संस्कृत मिश्रित दोनो ही शैलियाँ थी। इन्होंने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। 'हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले'—यह इनकी भाषा का आदर्श रहा—अर्थात अरबी-फारसी के विरल तथा गँवारूपन से बिल्कुल मुक्त भाषा इनके प्रयोग का उद्देश्य रही इंशा के गद्य की भाषा अत्यन्त फड़कती हुई और मुहावरेदार है। परन्तु गद्य में भी तुक मिलाने की प्रवृत्ति और फारसी ढंग का वाक्य-विन्यास इनके गद्य को कुछ हास्यास्पद बना देता है। इन दोषों के अतरिक्त इनका गद्य अत्यन्त स्वच्छ, चलता हुआ शुद्ध खड़ी बोली गद्य के रूप में देखा जा सकता है।

इन चारो लेखकों के बाद ईसाई मिशनरियों ने हिंदी गद्य के प्रचार और प्रसार में बहुत बड़ा योग दिया। बाइबिल का हिंदी अनुवाद कराकर ईसाई धर्म के प्रचारार्थ इन मिशनरियों ने देश के कोने-कोने में प्रसारित किया। इसके अतरिक्त इन्होंने कई स्कूल भी खोले। इसी समय भारत में छापेखाने की भी स्थापना हुई। इसके आते ही ईसाइयों का धर्म प्रचार और भी तीव्रता से बढ़ा। स्कूलों में पढ़ाये जाने वाले विविध विषयों की पुस्तकें भी छपने लगी। इस प्रकार ईसाई मिशनरियों का उद्देश्य चाहे, जो रहा हो पर इनके हाथों हिंदी गद्य का प्रचार और प्रसार बहुत तीव्र गति से हुआ। ईसाई मिशनरियों का गद्य विभिन्न प्रान्तीय प्रभावों से मुक्त है। इसका न तो व्याकरणिक विधान है न कोई दिशा। जनता जिस भाषा को सरलता से समझ पाती उसी का व्यवहार इन्होंने ने किया। परन्तु गद्य के प्रचार व प्रसार की दृष्टि से इनका योगदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा। इस विषय के सारतत्त्व के रूप में डॉ. नगेन्द्र अपनी पुस्तक 'हिंदी–साहित्य का इतिहास' में लिखते है–'आधुनिक युग का साहित्य मुद्रण-कला के कारण अपने रूप-रंग, अभिव्यंजना, प्रभावान्विति आदि में मध्यकालीन साहित्य से पृथक और स्वतंत्र रूप से अस्तित्त्ववान हो गया है। आधुनिक काल के साहित्य में जो वैविध्य, वैयक्तिक कल्पना-छवियाँ, और प्रयोगात्मकता आयी है उसका आंशिक दायित्व छापेखाने पर भी है। छापेखाने के अभाव में परिवर्तमान अभिरुचियों और संवेदनाओं का आकलन सम्भव नहीं था। साहित्य और कला सम्बन्धी वादो, आन्दोलनों आदि को रूपायित करने में इसका महत्त्वपूर्ण योग है।"

ऊपर हिंदी गद्य के विकास से संबन्धित जितने लेखकों व रचनाओं की चर्चा की गई इनका उद्देश्य मात्र प्रचार व प्रसार ही रहा। गद्य की भाषा नीति को लेकर किसी भी लेखक ने विवाद नहीं छेड़ा, क्योंकि ऐसी आवश्यकता ही नहीं पड़ी। 1835 के आस-पास अँग्रेज शासकों ने भारत की शिक्षा-नीति निर्धारित करनी चाही। प्रारम्भ में उन्होंने हिंदी को स्कूली शिक्षा और अदालत की भाषा बनाना चाहा। परन्तु मुसलमानों के विरोधस्वरूप यह स्थान उर्दू को मिला, और यहीं से 'उर्दू'-'हिंदी' का विवाद छिड़ा। अदालत की भाषा तथा नौकरियों के लिए अनिवार्य भाषा होने के कारण उर्दू और फारसी का महत्त्व बढ़ने लगा। हिंदी-मात्र बोलचाल और यत्र-तत्र टूटे-फूटे देवनागरी अक्षरों में लिखी जाने वाली भाषा बन कर रह गयी। हिंदी-उर्दू के इस संघर्ष को मिटाने और दोनों भाषाओं को समान्वित करने का स्तुत्य प्रयास राजा शिव प्रसाद 'सितारेहिन्द' ने

किया। इनके विरोध में हिंदी को संस्कृत सम्मत बनाने की चेष्टा राजा लक्ष्मण सिंह ने की। ये ही लेखकद्वय हिंदी गद्य के नीति-निर्धारक बने।

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' हिंदी-उर्दू दोनो भाषाओं के समन्वय कारी लेखक के रूप में सामने आये। ये शिक्षा विभाग में इंस्पेक्टर थे। इन्होंने काशी से 'बनारस' नाम का अखबार निकाला। शिवप्रसाद ने 'आमफहम' भाषा पर विशेष बल दिया। यह 'आमफलम' भाषा 'हिन्दुस्तानी' थी। अरबी-फारसी के शब्दों से युक्त इस भाषा का प्रचार जनता में बहुतायत से था। सितारेहिन्द ने इस भाषा को देवनागरी लिपि में लिखे जाने की सिफारिश की। संक्षेप में, अरबी-फारसी की चलते शब्द प्रयोगों से युक्त साधारण बोलचाल की हिंदी के पक्षपाती रहे। उन्होंने स्वयं और अपने सहयोगियों में पं. वंशीधर, श्रीलाल और बद्रीलाल के साथ मिलकर स्कूलों में प्रयोग योग्य पाठ्य पुस्तकें तैयार करायी। इन्होंने अनेक रचनाएँ कर अपने भाषा आदर्श को प्रस्तुत कराना चाहा आलसियों का कीड़ा, राजा भोज का सपना, भूगोल हस्तामलक, इतिहास तिमिरनाशक गुटका, हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल, मानव धर्मसार, सिवाव का उदय और अस्त, योगवशिष्ठ और चुने हुए श्लोक, उपनिषद्सार इनकी रचनाएँ हैं।

राजा लक्ष्मण सिंह 'सितारेहिन्द' की मान्यता के विपरीत गद्य में अरबी-फारसी के शब्दों की जगह संस्कृत के तत्सम शब्द प्रयोग के पक्षपाती थे। इन्होंने आगरा से 'प्रजाहितैषी' नामक पत्र निकालकर संस्कृत-सम्मत हिंदी गद्य के प्रचार व प्रसार में योग दिया। इन्होंने कालिदास की 'रघुवंश', 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', 'मेघदूत' आदि रचनाओं का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया। राजा लक्ष्मण सिंह का गद्य यद्यपि सामान्य बोल-चाल की भाषा से पर्याप्त दूर हो गया लेकिन इसने हिंदी गद्य को एक स्वस्थ रूप प्रदान किया। हिंदी साहित्य का इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते है-'राजा लक्ष्मण सिंह के समय में ही हिंदी गद्य की भाषा अपने भावी रूप का अभास दे चुकी थी। अब आवश्यकता ऐसे शक्तिसंपन्न लेखकों की थी जो अपनी प्रतिभा और उद्भावना के बल से उसे सुव्यवस्थित और परिमार्जित करते और उसमें ऐसे साहित्य का विधान करते जो शिक्षित जनता की रुचि के अनुकूल होता। ठीक इसी परिस्थिति में भारतेंदु का उदय हुआ।'6

इन दोनों लेखकों के, गद्य की भाषा को लेकर होने वाले विवाद के परे, भारतेंदु युगीन गद्य, बिना किसी भाषा-नीति का पक्षपात किये प्रसार पाता रहा। इन दोनों लेखकों की धारणा का स्पष्ट रूप द्विवेदी युग के लेखकों में मिलता हैं। प्रेमचन्द्र का गद्य सितारेहिन्द की नीतियों पर आधारित रहा। वास्तविक रूप

से 'हिन्दुस्तानी' भाषा सम्बन्धी मान्यता सितारेहिन्द की ही धारणा पर आधारित है। परन्तु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने राजा लक्ष्मण सिंह की संस्कृत-सम्मत गद्य की मान्यता का कुछ ऐसे योजनाबद्ध रूप से प्रचार व प्रसार किया कि संस्कृत-सम्मत भाषा ही गद्य तथा पद्य दोनों की भाषा बनी। छायावादी कवियों व लेखकों के हाथों यह भाषा पूर्ण प्रतिष्ठित होकर आज काव्य तथा गद्य की विविध विधाओं की भाषा बन गयी है।

अस्तु! भारतेंदु के पूर्व का हिंदी गद्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में बिना किसी भाषा-नीति को अपनाये आगे बढ़ता रहा। भारतेंदु के समकालीन सितारेहिन्द और लक्ष्मण सिंह ने गद्य के नीति निर्धारण का सूत्रपात किया। परन्तु भारतेंदु युगीन गद्य अनिश्चयात्मक स्थिति को ही अपनाये चलता रहा। भारतेंदु युग के बाद गद्य की निश्चित नीति का निर्धारण द्विवेदी युग में सम्पन्न हुआ। आज की उर्दू से हिंदी में लिखने वाले लेखक 'सितारेहिन्द' की नीति पर चल रहे है, पर उनकी संख्या अत्यल्प है।

सदल मिश्र का योगदान

सदल मिश्र (जन्म 1767-68 ई0 तथा मृत्यु 1847-48) फोर्ट विलियम कॉलेज से संबद्ध 18वीं सदी के आरंभिक दौर के चार प्रमुख गद्यकारों में से एक हैं। गिलक्राइस्ट के आग्रह पर इन्होंने नासिकेतोपाख्यान नामक पुस्तक लिखी। इनकी अन्य रचनाएं हैं—रामचरित (आध्यात्म रामायण)1806 और हिंदी पर्सियन शब्दकोश है। भाषा पर संस्कृत का गहरा प्रभाव है।

जीवन परिचय

खड़ी बोली के गद्य का प्रारंभिक रूप उपस्थित करने वाले चार प्रमुख गद्य लेखकों में सदल मिश्र का विशिष्ट स्थान है। इनमें से दो गद्यलेखकों लल्लूलाल और सदल मिश्र ने फोर्ट विलियम कालेज में रहकर कार्य किया और मुंशी सदासुखलाल तथा सैयद इंशाउल्ला खाँ ने स्वतंत्र रूप से गद्य रचना की। अपने ग्रंथ 'नासिकेतो पाख्यान' में मिश्र जी ने अपनी भाषा को 'खड़ी बोली' लिखा है। इससे प्रकट होता है कि उस समय यह नाम प्रचलित हो चुका था। उन्होंने लिखा है, अब संवत् 1860 में नासिकेतोपाख्यान को जिसमें चंद्रावली की कथा कही गई है, देववाणी में कोई समझ नहीं सकता। इसलिये खड़ी बोली से किया।

वास्तव में लल्लूलाल के साथ फोर्ट विलियम कालेज में इनकी नियुक्ति प्रचलित भाषा में गद्य ग्रंथों के निर्माण के लिये हुई थी। ईसाई धर्मप्रचारकों एवं शासकों को गद्य के ऐसे स्वरूप एवं साहित्य की आवश्यकता थी, जिनके माध्यम से वे जनसाधारण में अपना धर्मप्रचार कर सके, अपने स्थापित स्कूलों के लिये पाठ्य पुस्तकों का निर्माण कर सकें तथा अपना शासकीय कार्य चला सकें अतः जान गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में फोर्ट विलियम कालेज में इस कार्य का सूत्रपात किया गया। यहीं अपने कार्यकाल में लल्लूलाल ने अपने प्रमुख ग्रंथ 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' तथा 'रामचरित्र' लिखा। ये मूल ग्रंथ न होकर अनुवाद ग्रंथ हैं। फोर्ट विलियम कालेज के विवरणों में इनके पद 'भाखा मुंशी' के लिखे गए हैं।

'नासिकेतोपाख्यान' में नचिकेता ऋषि की कथा है। इसका मूल यजुर्वेद में तथा कथारूप में विस्तार कठोपनिषद् एवं पुराणों में मिलता है। कठोपनिषद् में ब्रह्मज्ञान निरूपण के लिये इस कथा का उपयोग किया गया है। अपने स्वतंत्र अनुवाद में मिश्र जी ने ब्रह्मज्ञान निरूपण को इतनी प्रधानता नहीं दी जितनी घटनाओं के कौतूहलपूर्ण वर्णन को। पुस्तक के शीर्षक को आकर्षक रूप देने के लिये उन्होंने 'चंद्रावली' नाम रखा। उन्होंने अध्यात्म रामायण का 'रामचरित्र' नाम से अनुवाद किया। इस पुस्तक पर कंपनी की ओर से पुरस्कार भी मिला।

हिंदी और फारसी की शब्दसूची तैयार करने पर भी इन्होंने पुरस्कार प्राप्त किया।

इन प्रारंभिक गद्य लेखकों में मिश्र जी की भाषा खड़ी बोली के विशेष अनुरूप सिद्ध हुई, यद्यपि वह बिहारी भाषा से प्रभावित है। परंतु लल्लुलाल की भाषा के समान न ता उसमें ब्रजभाषा के रूपों की भरमार है और न पद्यानुकूल वाक्यगठन और तुकबंदी की।

सदल मिश्र का प्रयास इसलिये विशेष अभिनंदनीय है कि उनमें खड़ी बोली के अनुरूप गद्य लिखने और भाषा को व्यवहारोपयोगी बनाने का प्रयास विशेष लक्षित होता है।

आरा (बिहार) निवासी सदल मिश्र सीदे सादे स्वभाव के कर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। अंग्रेजों के निरंतर संपर्क में रहते हुए भी अपने खानपान और रहन सहन में आप कट्टर परंपरावादी थे। वे जीवन भर स्वयंपाकी रहे। किसी के हाथ का भोजन तो क्या, जल भी ग्रहण नहीं किया। फोर्ट विलियम कालेज की नियुक्ति के पूर्व आप प्रायः कथावाचन का कार्य करते थे। पटना में कथावाचन करते समय

उनका कुछ अंग्रेज अधिकारियों से परिचय हुआ, जिनके प्रभाव से उनकी नियुक्ति फोर्ट विलियम कालेज में हुई।

राष्ट्र भाषा परिषद् (पटना) के कुछ अधिकारी विद्वान्ध् उनके वंश और जीवनवृत्तों की खोज में संलग्न हैं। अभी तक उन्हें जो सामग्री उपलब्ध हुई है उसके अनुसार सदल मिश्र नंदमणि मिश्र के पुत्र तथा लक्ष्मण मिश्र के प्रपौत्र थे। बदल मिश्र और सीताराम मिश्र उनके दो भाई थे। अपने भाइयों के पुत्रों से ही आगे इनका वंश चला। वे निस्संतान थे। इनका जन्म अनुमानतः 1767-68 ई0 तथा मृत्यु 1847-48 ई0 के लगभग 80 वर्ष की अवस्था में हुई।

प्रमुख साहित्य

नासिकेतोपाख्यान

नासिकेतोपाख्यान की रचना सदल मिश्र ने 1803 ई. में किया है। इसकी भाषा संस्कृतनिष्ठ है। सदल मिश्र उन दिनों कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज में कार्यरत थे। यह पुस्तक भी पाठ्यपुस्तकों के अभाव की पूर्ति की गिलक्राइस्ट की कोशिशों का परिणाम था।

श्नासिकेतोपाख्यान' में नचिकेता ऋषि की कथा है। इसका मूल यजुर्वेद में तथा कथारूप में विस्तार कठोपनिषद् एवं पुराणों में मिलता है। कठोपनिषद् में ब्रह्मज्ञान निरूपण के लिये इस कथा का उपयोग किया गया है। अपने स्वतंत्र अनुवाद में मिश्र जी ने ब्रह्मज्ञान निरूपण को इतनी प्रधानता नहीं दी जितनी घटनाओं के कौतूहलपूर्ण वर्णन को। पुस्तक के शीर्षक को आकर्षक रूप देने के लिये उन्होंने 'चंद्रावली' नाम रखा।

यह आख्यानमूलक गद्य-कृति है। इसमें महाराज रघु की पुत्री चंद्रावती और उनके पुत्र 'नासिकेत' का पौराणिक आख्यान वर्णित है। 'नासिकेत' की कथा यजुर्वेद कठोपनिषद और पुराणों में वर्णित है।

प्रमुख अंश—सकल सिद्धिदायक वो देवतन में नायक गणपति को प्रणाम करता हूँ कि जिनके चरण कमल के स्मरण किए से विन दूर होता है औ दिन दिन हिय में सुमति उपजती वो संसार में लोग अच्छा अच्छा भोग बिलास कर सबसे धन्य धन्य कहा अन्त में परम-पद को पहुँचते हैं कि जहाँ इन्द्र आदि देवता सब भी जाने को ललचाते हैं।

दोहा

गणपति चरण सरोज द्वौ, सकल सिद्धि की राश।
बन्दन करि सब होत है, पूरण मन की आश।।

चित्र विचित्र सुन्दर सुन्दर बड़ी बड़ी अटारिन से इन्द्रपुरी समान शोभायमान, नगर कलिकत्ता महा प्रतापी बीर नृपति कम्पनी महाराज के सदा फूला फला रहे, कि जहां उत्तम उत्तम लोग बसते हैं और देश देह से एक से एक गुणी जन आय आय अपने अपने गुण को सुफल करि बहुत आनन्द में मगन होते हैं।

नाम सुन सदल मिश्र पण्डित भी वहाँ आन पहुँचा वो बड़ी बड़ाई सुनि सर्वविद्यानिधान ज्ञानवान महा-प्रधान श्री महाराज गिलकृस्त साहब्से मिला कि जो पाठशाला के आचार्य्य हैं। तिनकी आज्ञा पाय दो एक ग्रन्थ संस्कृत से भाषा वो भाषा से संस्कृत किए।

अब संवत 1860 में नासिकेतोपाख्यान को कि, जिसमें चन्द्रावती की कथा कही है, देववाणी से कोई कोई समझ नहीं सकता, इसलिये खड़ी बोली में किया। तहां कथा का आरम्भ इस रीति से हुआ–

एक समय राजा जनमेजय गंगा के तीर पर बारह बरस यज्ञ करने को रहे। एक दिन स्नान पूजा करि ब्राह्मणों को बहुत सा दान दे देवता पितरों को तृप्त करके ऋषि और पण्डितों को साथ लिए वैश्म्पायन मुनि के पास जा, दण्डवत कर, खड़े हो, हाथ जोड़, कहने लगे कि 'महाराज ! आप वेद पुराण सब शास्त्र के सार जाननिहार, तिस पर ब्यास मुनि के शिष्य, सब योगियों में इन्द्र समान हो। ऐसी कथा, कि जिसके सुनने से पाप कटे और कोई रोग न होय, भर जन्म संसार में अच्छा भोग,अन्त में मुक्ति मिले, हमसे कहिए।'

प्रसन्न होकर वह बोले कि 'हे राजा ! तुम बड़े ज्ञानी हो। अच्छा, सब पाप दूर करने वाली पुराण की कथा कि जिसके सुनने से निस्सन्देह मुक्ति होती है, मैं कहता हूँ, तुम ऋषि वो सेवकों के समेत सावधान होकर सुनो–

किसी समय में ब्रह्मा के पुत्र ऐसे उद्दालक मुनि भए कि जिनके दर्शन से लोग पवित्र होते थे। वेद पुराण श्रुति स्मृति में बहुत निपुण, और दाता दयालु कहिए तो वैसे ही, बड़े समर्थ, सब मुनियों में श्रेष्ठ, कि जिनका तपस्या ही धन था, उनके सुहावने आश्रम पर कि जिसको बड़े-बड़े मुनि लोग नित्य आप सेवैं और जहां नाना प्रकार के वृक्षों पर लता सब छा रही थीं-पिप्पलाद मुनि आन पहुँचे।

देखते ही उद्दालक ऋषि उठ खड़े भये। सिर नवा, प्रणाम वो जैसा कुछ चाहिए वैसा आदर भाव कर, आसन दे बैठाया। प्रिति से हाथ पांव धोला, कुशल क्षेम वो उनके वहां आवने का कारण पूछा।

वह बोले कि हम तुम्हारी बड़ी तपस्या इस बन में सुनकर आए, जैसे ही तुमको देख बहुत प्रसन्न हुए। पर बिना ब्याह यह तपस्या अकारथ होती है, क्योंकि स्त्री के साथ तप करके ऋषि सब सिद्धि को पंहुचे। और बेद की आज्ञा से सन्तान के लिए पत्नी सों भोग करना उचित है, नहीं वो विस बिन क्या कधी क्रिया सिद्धि होती है। और पुत्रहीन के, देवता वो पितर इन दोनों में कोई सन्तुष्ट नहीं। जग में बिसके देव पितर बहुत आनन्द होते कि जिसको कुल उपजानेवाला पुत्र होता है। वो निपुत्री को घर में क्या सुख कि जिस बिना वह सदा अन्धकार रहता है।

इसलिए हमारी आज्ञा से और सब ऋषियों की सम्मति से किसी से कन्या याचकर अपना बंश उत्पन्न करो, नहीं तो यह तपस्या का परिश्रम तुम्हारा सदा ही व्यर्थ है।

उद्दालक ने उत्तर दिया की प्रभु तप करते हमको छियालीस सहस्र बरस बीते, स्त्री के कारण अब यों उसको त्याग दें तो महा नरक भोग होए। आप बड़े हो जैसी आज्ञा करिए।

हँस के पिप्पलाद ऋषि ने कहा कि तुमको यह कहना उचित नहीं, क्योंकि बिना सन्तान योग तप कबहीं फलदायक नहीं होता है और सन्तति केलिए स्त्री के पास जाने को अगले मुनियों ने भी आज्ञा दी है। जिसमें वह ब्रह्मचारी गिना जाता है कि जो मनुष्य ऋतु समय में उसके पास जाता है। ब्रह्मचर्य ते तप भंग नहींहोता, धर्म्शास्त्र भी कहता है।

ऐसी सांची सांची बातें कहके मन में वेद के मन्त्र जपते हुए पिप्पलाद मुनि ने फिर निकट समीप जा उद्दालक से कहा कि सन्तति के हेतु भार्य्या के पास जाने से तनिक भी दोष नहीं, आप स्वायंभुव मुनि ने सा कहा है। यह वृत्तान्त वैशम्पायन राजा जनमेजय से कहते हैं।

जब इतना कह पिप्पलाद वहाँ से विदा भए तब उद्दालक चिन्ता करने लगे कि 'देखो, हमारी तपस्या में क्या विन आ पड़ा। कहां मेरी बुढ़ापे की अवस्था कि एक भी केश काला नहीं, सो सन्तति के कारण किससे कन्या हम मांगें। कौन उसको देने में प्रसन्न होगा।

ऐसे व्याकुल होकर मन में ठहराया कि अब तो ब्रह्मा के पास चलिए, वेही हमारी अभिलाष को पुरावेंगे।

तब आस पास के ऋषियों से पूछ ब्रह्मा के निकट गए, दूर ही से दण्डवत कर हाथ जोड़ लगे स्तुति करने।

उद्दालक के बचन सुन सन्तुष्ट हो वो ध्यान में जो थे सो आंख खोल पितामह बोले कि 'हे ऋषीश्वर ! कुशल से हो ? तुम्हारे आश्रम में मंगल है? और यहाँ आवने का प्रयोजन सुनावो।'

ब्रह्मा की बात सुन उद्दालक ने कहा कि 'हां महाराज, आप के अनुग्रह से सब प्रकार से आनन्द है। मुनियों ने हमको पुत्र के लिए विवाह करने की आज्ञा दी है। इसलिए तुम्हारे शरन में आए, हमारा मनोरथ पूरण करिए'।

सुनते ही बिधाता ने कहा कि 'पहले तुमको महा तपस्वी कुल उद्धार करने योग्य पुत्र होगा। पीछे राजा इक्ष्वाकु के कुल की महासुन्दरी कन्या वो पतिव्रता सब गुण भरी सो तुम्हारी भार्य्या होगी। चित्त में कुछ चिन्ता मत करो। हमारा कहा कघी झूठ न होगा। अपने आश्रम परजा शिव पूजन करो'।

प्रजापति की बात सुनि चकित हो उद्दालक ने कहा कि 'महाराज ! आप बड़े होकर ऐसी मिथ्या बात कहते हो कि जो देखने में आई, न सुनने में। भला, बिना भार्य्या भी किसीको पुत्र होता है?'

उनका यह बचन सुनते ही ब्रह्मा वहां से गुप्त हो गए। तब उद्दालक ने जी में जाना कि विधि का कहा अन्यथा नहीं। इस आस पर वहाँ से ईश्वर का ध्यान करते हुए अपने आश्रम पराआए कि जहाँ चारों ओर ऋषि लोग अपनेजप ध्यान में लगे थे।

राजा जनमेजय से वैशम्पायन कहते हैं कि हे राजा ! यह बहुत अच्छी कथा है इसे कान दे सुनो।

सत्यार्थ प्रकाश

सत्यार्थ प्रकाश की रचना आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने की। यद्यपि उनकी मातृभाषा गुजराती थी और संस्कृत का इतना ज्ञान था कि संस्कृत में धाराप्रवाह बोल लेते थे, तथापि इस ग्रन्थ को उन्होंने हिन्दी में रचा। कहते हैं कि जब स्वामी जी 1872 में कलकत्ता में केशवचन्द्र सेन से मिले तो उन्होंने स्वामी जी को यह सलाह दी कि आप संस्कृत छोड़कर हिन्दी बोलना आरम्भ कर दें तो भारत का असीम कल्याण हो। तभी से स्वामी जी के

व्याख्यानों की भाषा हिन्दी हो गयी और शायद इसी कारण स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश की भाषा भी हिन्दी ही रखी।

स्वामी जी पूरे देश में घूम-घूमकर शास्त्रर्थ एवं व्याख्यान कर रहे थे। इससे उनके अनुयायियों ने अनुरोध किया कि यदि इन शास्त्रों एवं व्याख्यानों को लिपिबद्ध कर दिया जाय तो ये अमर हो जायेंगे। सत्यार्थ प्रकाश की रचना उनके अनुयायियों के इस अनुरोध के कारण ही सम्भव हुई। सत्यार्थ प्रकाश की रचना का प्रमुख उद्देश्य आर्य समाज के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार था। इसके साथ-साथ इसमें ईसाई, इस्लाम एवं अन्य कई पन्थों व मतों का खण्डन भी है। उस समय हिन्दू शास्त्रों का गलत अर्थ निकाल कर हिन्दू धर्म एवं संस्कृति को बदनाम करने का षड्यन्त्र भी चल रहा था। इसी को ध्यान में रखकर महर्षि दयानन्द ने इसका नाम सत्यार्थ प्रकाश (सत्य अर्थप्रकाश) अर्थात् सही अर्थ पर प्रकाश डालने वाला (ग्रन्थ) रखा।

सत्यार्थ प्रकाश का प्रयोजन

समाज सुधारक स्वामी दयानन्द सरस्वती की इस रचना का मुख्य प्रयोजन सत्य को सत्य और मिथ्या को मिथ्या ही प्रतिपादन करना है।

यद्यपि हिंदू जीवन व्यक्ति और समाज, दोनों को समक्ष रखकर चलता है, तो भी हिन्दुओं में प्राय: देखा जाता है कि समष्टिवादी की अपेक्षा व्यक्तिवादी प्रवृत्ति अधिक है। ध्यान में लीन उपासक के समीप यदि इसी समाज का कोई व्यक्ति तड़प भी रहा हो तो वह उसे ध्यान भंग का कारण ही समझेगा। यह कदापि नहीं कि वह भी उसी समाज का एक अंग है। फिर उन्नीसवीं सदी में अँग्रेजी सभ्यता का बहुत प्राबल्य था। अँग्रेजी प्रचार के परिणामस्वरूप हिन्दू ही अपनी संस्कृति को हेय मानने और पश्चिम का अन्धानुकरण करने में गर्व समझने लगे थे। भारतीयों को भारतीयता से भ्रष्ट करने की मैकाले की योजना के अनुसार हिन्दुओं को पतित करने के लिये अँग्रेजी शिक्षा प्रणाली पर जोर था। विदेशी सरकार तथा अँग्रेजी समाज अपने एजेण्ट पादरियों के द्वारा ईसाइयत का झण्डा देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फहराने के लिये करोड़ों रुपये खर्च कर रहे थे। हिन्दू अपना धार्मिक एवं राष्ट्रीय गौरव खो चुके थे। 144 हिन्दू प्रति दिन मुसलमान बन रहे थे और ईसाई तो इससे कहीं अधिक। पादरी रंगीला कृष्ण और सीता का छिनाला जैसी सैकड़ों गन्दी पुस्तिकाएँ बाँट रहे थे। इन निराधार लांछनों

का उत्तर देने के बजाय ब्रह्म समाज वालों ने उलटे राष्ट्रीयता का ही विरोध किया। वेद आदि की प्रतिष्ठा करना तो दूर, भर पेट उनकी निन्दा की।

स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज और सत्यार्थ प्रकाश के द्वारा इन घातक प्रवृत्तियों को रोका। उन्होंने यहाँ तक लिखा–'स्वराज्य (स्वदेश) में उत्पन्न हुए (व्यक्ति) ही मन्त्री होने चाहिये। परमात्मा हमारा राजा है। वह कृपा करके हमको राज्याधिकारी करे।' इसके साथ ही उन्होंने आर्य सभ्यता एवं संस्कृति से प्रखर प्रेम और वेद, उपनिषद आदि आर्य सत्साहित्य तथा भारत की परम्पराओं के प्रति श्रद्धा पर बल दिया। स्व-समाज, स्व-धर्म, स्व-भाषा तथा स्व-राष्ट्र के प्रति भक्ति जगाने तथा तर्क प्रधान बातें करने के कारण उत्तर भारत के पढ़े लिखे हिन्दू धीरे-धीरे इधर खिंचने लगे जिससे आर्य समाज सामाजिक एवं शैक्षणिक क्षेत्रों में लोकप्रिय हुआ।

सत्यार्थ प्रकाश की संरचना

सत्यार्थ प्रकाश में चौदह समुल्लास (अध्याय) हैं। इसमें इन विषयों पर विचार किया गया है–बाल-शिक्षा, अध्ययन-अध्यापन, विवाह एवं गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास-राजधर्म, ईश्वर, सृष्टि-उत्पत्ति, बंध-मोक्ष, आचार-अनाचार, आर्यावर्तदेशीय मतमतान्तर, ईसाई मत तथा इस्लाम। इसकी भाषा के सम्बन्ध में दयानन्द जी ने सन् 1882 में इस ग्रन्थ के दूसरे संस्करण में स्वयं यह लिखा–'जिस समय मैंने यह ग्रन्थ बनाया था, उस समय.संस्कृत भाषण करने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण मुझको इस भाषा (हिन्दी) का विशेष परिज्ञान न था। इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब इसको भाषा-व्याकरण-अनुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है।'

मुख्य संदेश

इसके मुख्य संदेश पारम्पर्कि हिन्दू रीति से अलग और कहीं-कहीं विरूद्ध भी हैं। ये इस प्रकार हैं–

ओ3म परमात्मा का निज नाम है। सत्य होने की वजह से ब्रह्म, सर्वत्र व्यापक होने की वजह से विष्णु, कल्याणकारी होने से शिव, सारी प्रजा के उत्पादक होने की वजह से गणपति और प्रजापति, दुष्टदमन होने से रूद्र तथा सोम, अग्नि इत्यादि उसी एक परमात्मा के नाम हैं।

परमात्मा को कोई रंग या स्वरूप नहीं है। ईश्वर कोई अवतार, पैगम्बर या मसीहा नहीं भेजता। अपने कर्मों के कारण ही कोई आदरणीय बनता है। राम और कृष्ण आदरणीय महापुरुष थे, लेकिन इश्वरावतार नहीं। परमात्मा सर्वआनन्दमय–सच्चिदानन्द हैं।

देव का अर्थ होता है देने वाला (दान या कृपा)–अतः ऋषि, मुनि या कोई नदी जो कईयों का कल्याण करे, सूर्य, नक्षत्र आदि देव हैं। लेकिन उपासना ईश्वर की ही करनी चाहिए जो इन सबो का कर्ता है। इसी से एकमात्र ईश्वर का ही नाम महादेव है। वेद मंत्रों को भी देव कहा गया है क्योंकि उनके आत्मसात करने से कल्याण होता है।

वर्ण व्यवस्था गुण और कर्म को लेकर होती है–जन्म से नहीं। राजा का बेटा आवश्यक नहीं कि क्षत्रिय ही हो। ये उसके बल, पराक्रम, इन्द्रिजित और कल्याणकारी गुण पर निर्भर है। इत्यादि..

मूर्तिपूजा वेदों (और उपनिषदों) में कहीं नहीं है। मूर्ति पूजन से लोग मूर्तिआश्रित हो जाते हैं और पुरुषार्थ के लिए प्रेरित नहीं रहते। सिर्फ पुरुषार्थ से ही जीवों का कल्याण हो सकता है।

जीव (आत्मा, पुरुष), प्रकृति और परमात्मा तीनों एक दूसरे से पृथक हैं। परमात्मा जीवों पर नियंत्रण नहीं करता–लोग अपने कार्य के लिए स्वतंत्र हैं। परिणाम अपने कार्य के अनुसार ही होगा–परमात्मा की ईच्छा के अनुसार नहीं।

मोक्ष प्राप्ति के लिए अष्टांग योग, उत्तम कर्म, पवित्रता, यज्ञ (पदार्थ यज्ञ, दान, त्याग और निष्काम कर्म) सत्य का साथ और मिथ्या को दूर छोड़ना, विद्वान पुरुषों का संग, विवेक (सत्य और असत्य का विवेचन) इत्यादि कर सकते हैं।

ईश्वर उपासना करने से अपराध क्षमा नहीं करता–कई हिन्दू (और इस्लामी तथा अन्य) मतों में ईश्वर पूजन के लिए ये प्रसतुत किया जाता है पर पुस्तक के अनुसार ईश्वर सिर्फ सत्यज्ञान दे सकता है। अपराध क्षमा करना (जैसे हरि या बिसमिल्लाह बोलकर) ईश्वर जैसे न्यायकारी शक्ति के अनुकूल नहीं है।

वैष्णव, शैव, शाक्त, कापालिक, चक्रांकित और चार्वाक मत वेदों को नहीं समझ सकने के कारण बने हैं। ईश्वर का कोई रूप या अवतार नहीं होता क्योंकि वेदों में इनका कहीं विवरण नहीं मिलता।

श्राद्ध, तर्पण आदि कर्म जीवित श्रद्धापात्रों (माता-पिता, पितर, गुरु आदि) के लिए होता है, मृतकों के लिए नहीं।

तीर्थ दुख ताड़ने का नाम है–किसी सागर या नदी–सरोवर में नहाने का नहीं। इसी प्रकार आत्मा के (मोक्ष पश्चात) सुगम विचरण को स्वर्ग और पुनर्जन्म के बंधन में पड़ने को नरक कहते है–ऐसी कोई दूसरी या तीसरी दुनिया नहीं है।

इस्लाम और ईसाई धर्मों का खण्डन–कोई पैगम्बर या मसीहा नहीं भेजा जाता है। ईश्वर को अपना सामर्थ्य जताने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वो सच्चिदानंद है। स्वर्ग, नरक, जिन्न आदि का भी खण्डन।

प्रभाव

जैसा कि स्पष्ट होगा, स्वामी दयानंद का मत कई (अंध) विश्वासों और मतों का खण्डन और वेदों के मत को पुनःप्रकाश में लाने का था। इसलिए कई बार उन्हें प्रचलित हिन्दू, जैन, बौद्ध, इस्लामी और ईसाई मतों की मान्यताओं का खण्डन करना पड़ा। अवतारवाद, शंकराचार्य को शिव का अवतार, राम और कृष्ण को विष्णु नामक सार्वभौम का अवतार मानने वाले कई थे। इसी प्रकार तीर्थ, बालविवाह और जन्म संबंधी जाति (वर्ण व्यवस्था का नया रूप) जैसी व्यवस्थाओं का उन्होंने सप्रमाण खण्डन किया। इससे कई सुधार हिन्दू समाज में आए। कई विश्वास इस्लामी समाज का भी बदला। कुछ इस प्रकार हैं–

स्वाधीनता संग्राम के क्रांतिकारियों की प्रिय पुस्तक सत्यार्थप्रकाश और ऋषि दयानन्द की जीवनी बनी, एक अंग्रेज विद्वान शेरोल ने यहाँ तक कहा कि सत्यार्थप्रकाश ब्रिटिश सरकार कि जड़े उखाड़ने वाला ग्रंथ है, वस्तुतः सत्यार्थप्रकाश उस समय कि कालजयी कृति थी और इस कालजयी कृति में अंग्रेजों का विरोध भी था जिससे अंग्रेज सरकार को काफी नुकसान हुआ।

हिन्दुओ के धर्मान्तरण पर रोक लगी और मुसलमानों, ईसाई आदि विधर्मियों की शुद्धि (घर वापसी) हुई।

श्रीकृष्ण के ऊपर लगाए हुए गंदे आरोप और लांछन दूर हुए एवं श्रीकृष्ण का यथार्थ सत्यस्वरूप प्रकाशित हुआ।

सत्यार्थप्रकाश ने स्त्री–जाति को पैरों से उठाकर जगदम्बा के सिंहासन पर बैठा दिया।

मूर्तिपूजा का स्वरूप बदल गया, पहले मूर्ति को ही ईश्वर मान चुके थे, अब मूर्तिपूजक भाई बंधू मूर्तिपूजा की विभिन्न मनोहारी व्याख्याएं करने का असफल प्रयास करते हैं।

वीर सावरकर के शब्दों में सत्यार्थप्रकाश ने हिन्दू जाति कि ठंडी रगों में उष्ण रक्त का संचार किया।

सत्यार्थप्रकाश से हिन्दी भाषा का महत्त्व बढ़ा।

अकेले सत्यार्थप्रकाश ने अनेकों क्रन्तिकारी और समाज सुधारक पैदा कर दिए।

सत्यार्थप्रकाश ने वेदों का महत्त्व बढ़ा दिया, वेद कि प्रतिष्ठा को हिमालय कि चोटी पर स्थापित कर दिया।

सत्यार्थप्रकाश का प्रभाव विश्वव्यापी हुआ, बाइबिल, कुरान, पुराण, जैन आदि सभी ग्रंथो की बातें बदल गयी, व्याख्याएं बदल गयी, सत्यार्थप्रकाश ने धर्म के क्षेत्र में मानो सम्पूर्ण पृथ्वी पर हलचल मचा दी हो।

फरवरी 1939 में कलकत्ता से छपने वाले एफिनी वीकली में स्वर्ग और नरक की अवधारणी बदली। साप्ताहिक पत्र लिखता है—इस पर आर्य विचारधारा (सत्यार्थ प्रकाश जिसकी सबसे प्रमुख पुस्तक है) का प्रभाव दिखता है।

कुरान के भाष्य फतह उल हमीद (प्रशंसा से जीत) ने मुसलमानों के कब्र, पीर या दरगाह निाजी को गलत बताया। इसी पर मौलाना हाली ने मुसलमानों की गैरमुसलमानों की मूर्ति पूजा पर ऐतराज जताते हुए कहा कि मुसलमानों को नबी को खुदा मानना और मजारों पर जाना भी उचित नहीं है।

पुराणों, साखियों, भागवत और हदीसों की मान्यता घट गई है। उदाहरणार्थ, जबलपुर में सन् 1915 में आर्य समाजियों के साथ शास्त्रर्थ में मौलाना सनाउल्ला ने हदीसों से पल्ला झाड़ लिया।

उदन्त मार्तण्ड

उदन्त मार्तण्ड हिंदी का प्रथम समाचार पत्र था। इसका प्रकाशन 30 मई, 1826 ई. में कलकत्ता से एक साप्ताहिक पत्र के रूप में शुरू हुआ था। कलकता के कोलू टोला नामक मोहल्ले की 37 नंबर आमड़तल्ला गली से पं. जुगलकिशोर शुक्ल ने सन् 1826 ई. में उदन्त मार्तण्ड नामक एक हिंदी साप्ताहिक पत्र निकालने का आयोजन किया। उस समय अंग्रेजी, फारसी और बांग्ला में तो अनेक पत्र निकल रहे थे, किंतु हिंदी में एक भी पत्र नहीं निकलता था। इसलिए 'उदंत मार्तड' का प्रकाशन शुरू किया गया। इसके संपादक भी श्री जुगुलकिशोर शुक्ल ही थे। वे मूल रूप से कानपुर संयुक्त प्रदेश के निवासी थे।

शाब्दिक अर्थ

उदन्त मार्तण्ड का शाब्दिक अर्थ है 'समाचार-सूर्य'। अपने नाम के अनुरूप ही उदन्त मार्तण्ड हिंदी की समाचार दुनिया के सूर्य के समान ही था। उदन्त मार्तण्ड का प्रकाशन मूलतः कानपुर निवासी पं. युगल किशोर शुक्ल ने किया था। यह पत्र ऐसे समय में प्रकाशित हुआ था जब हिंदी भाषियों को अपनी भाषा के पत्र की आवश्यकता महसूस हो रही थी। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर 'उदन्त मार्तण्ड' का प्रकाशन किया गया था।

उद्देश्य

उदन्त मार्तण्ड के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए जुगलकिशोर शुक्ल ने लिखा था जो यथावत प्रस्तुत है–

"यह उदन्त मार्तण्ड अब पहले पहल हिंदुस्तानियों के हेत जो, आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अंग्रेजी ओ पारसी ओ बंगाली में जो समाचार का कागज छपता है, उसका उन बोलियों को जान्ने ओ समझने वालों को ही होता है। और सब लोग पराए सुख सुखी होते हैं। जैसे पराए धन धनी होना और अपनी रहते पराई आंख देखना वैसे ही जिस गुण में जिसकी पैठ न हो उसको उसके रस का मिलना कठिन ही है और हिंदुस्तानियों में बहुतेरे ऐसे हैं"

समाज के विरोधाभासों पर तीखे कटाक्ष

हिंदी के पहले समाचार पत्र उदन्त मार्तण्ड ने समाज के विरोधाभासों पर तीखे कटाक्ष किए थे। जिसका उदाहरण उदन्त मार्तण्ड में प्रकाशित यह गहरा व्यंग्य है-

"एक यशी वकील अदालत का काम करते-करते बुड्ढा होकर अपने दामाद को वह सौंप के आप सुचित हुआ। दामाद कई दिन वह काम करके एक दिन आया ओ प्रसन्न होकर बोला हे महाराज आपने जो फलाने का पुराना ओ संगीन मोकद्दमा हमें सौंपा था सो आज फैसला हुआ यह सुनकर वकील पछता करके बोला कि तुमने सत्यानाश किया। उस मोकद्दमे से हमारे बाप बड़े थे तिस पीछे हमारे बाप मरती समय हमें हाथ उठा के दे गए ओ हमने भी उसको बना रखा ओ अब तक भली-भांति अपना दिन काटा ओ वही मोकद्दमा तुमको सौंप करके समझा था कि तुम भी अपने बेटे पाते तक पालोगे पर तुम थोड़े से दिनों में उसको खो बैठे"

प्रकाशन बंद

उदन्त मार्तण्ड ने समाज में चल रहे विरोधाभासों एवं अंग्रेजी शासन के विरुद्ध आम जन की आवाज को उठाने का कार्य किया था। कानूनी कारणों एवं ग्राहकों के पर्याप्त सहयोग न देने के कारण 19 दिसंबर, 1827 को युगल किशोर शुक्ल को उदन्त मार्तण्ड का प्रकाशन बंद करना पड़ा। उदन्त मार्तण्ड के अंतिम अंक में एक नोट प्रकाशित हुआ था जिसमें उसके बंद होने की पीड़ा झलकती है। वह इस प्रकार था–

"आज दिवस लौ उग चुक्यों मार्तण्ड उदन्त। अस्ताचल को जाता है दिनकर दिन अब अंत।।"

उदन्त मार्तण्ड बंद हो गया, लेकिन उससे पहले वह हिंदी पत्रकारिता का प्रस्थान बिंदु तो बन ही चुका था।

विशेष बिंदु

यह साप्ताहिक पत्र पुस्तकाकार (128) छपता था और हर मंगलवार को निकलता था।

इसके कुल 79 अंक ही प्रकाशित हो पाए थे कि डेढ़ साल बाद दिसंबर, 1827 ई. को इसका प्रकाशन बंद करना पड़ा।

इसके अंतिम अंक में लिखा है–उदन्त मार्तण्ड की यात्र–मिति पौष बदी 1 भौम संवत् 1884 तारीख दिसम्बर सन् 1827। उन दिनों सरकारी सहायता के बिना, किसी भी पत्र का चलना प्राय: असंभव था।

कंपनी सरकार ने मिशनरियों के पत्र को तो डाक आदि की सुविधा दे रखी थी, परंतु चेष्टा करने पर भी 'उदंत मार्तंड' को यह सुविधा प्राप्त नहीं हो सकी।

इस पत्र में ब्रज और खड़ी बोली दोनों के मिश्रित रूप का प्रयोग किया जाता था जिसे इस पत्र के संचालक 'मध्यदेशीय भाषा' कहते थे।

3

भारतेंदु युग में हिन्दी गद्य शैली का विकास

हिंदी की वर्तमान गति का आरम्भ भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की लेखनी ही से है। इनके पूर्व हिंदी का प्रवाह किस ओर को था और इन्होंने उसे किस ओर फेरा यही दिखलाने का यत्न इस लेख में किया जायगा। भारतेंदु ने जिस अवस्था में हिंदी को पाया वह विलक्षण थी। पद्य में जायसी, सूर, तुलसी आदि के आख्यान काव्यों का समय एक प्रकार से बीत चुका था। केशव के चलाए हुए नायिका भेद, रस, अलंकार आदि को लक्ष्य करती हुई स्फुट कविताओं के छींटे उड़ रहे थे। गद्य प्रेमसागर, सिंहासन बत्तीसी और बैताल पच्चीसी से संतोष किए बैठा था।

यद्यपि देश में नए नए भावों का संचार हो गया था पर हमारी भाषा उनसे दूर थी। यद्यपि लोगों की अभिरुचि बदल चली थी पर हमारे साहित्य पर उसका आभास नहीं पड़ा था। शिक्षित लोगों के विचारों और व्यापारों ने दूसरा मार्ग तो पकड़ लिया था पर उनका साहित्य उसी पुराने मार्ग ही पर था। ये लोग समय के साथ स्वयं तो कुछ आगे बढ़ आए पर जल्दी से अपने साहित्य को साथ न ले सके। उसका साथ छूट गया और वह उनके कार्य क्षेत्र में अलग पड़ गया। प्राय: सब सभ्य जातियों का साहित्य विचारों और व्यापारों से लगा हुआ चलता है। यह नहीं कि उनकी चिंताओं और कार्यों का प्रवाह तो एक ओर हो और उनके

साहित्य का प्रवाह दूसरी ओर। फिर यह विचित्र घटना यहाँ कैसे हुई? बात यह है कि जिन लोगों के हृदय में नई शिक्षा के प्रभाव से नए विचार उत्पन्न हो चले थे, जो अपनी आँखों से देश काल का परिवर्तन देख रहे थे, उनमें अधिकांश तो ऐसे थे जिनका कई कारणों से हिंदी साहित्य से लगाव टूट सा गया था और शेष ऐसे थे, जिन्हें हिंदी साहित्य का मंडल बहुत ही बद्ध और परिमित दिखाई देता था, जिन्हें इन नए विचारों को सन्निवेशित करने के लिए स्थान हीं नहीं सूझता था। उस समय एक ऐसे साहसी और प्रतिभा संपन्न पुरुष की आवश्यकता थी, जो कौशल से इन बढ़ते हुए विचारों का मेल देश के परम्परागत साहित्य से करा देता। बाबू हरिश्चंद्र का प्रादुर्भाव ठीक ऐसे ही समय में हुआ।

इन्होंने कविता पर जो दृष्टि डाली तो देखा कि बहुत से ऐसे शब्द जिन्हें बोलचाल से उठे कई सौ वर्ष हो गए, कविता और सवैयों में बराबर खपाए जाते हैं जिससे जनसाधारण का ध्याीन उनकी ओर से फिरता जाता है। चक्कवै, अमेजे, मजेजे, ठायो, करसायल, ईठ, दीह, ऊनो, लोह आदि के कारण बहुत से लोग हिंदी कविता से किनारा खींचने लगे हैं। दूसरा दोष जो बढ़ते बढ़ते बहुत बुरी सीमा को पहुँच गया था, वह शब्दों का तोड़ मरोड़ और गढ़े हुए मनमाने शब्दों का प्रयोग था। जैसे कपियों का स्वभाव रूख तोड़ना गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है वैसे ही इन कवियों का स्वभाव शब्द तोड़ना हो चला था। बाबू हरिश्चंद्र ने इन बातों का संशोधान करना आरम्भ किया और व्रजभाषा की फुटकल कविताओं के लिए भी अच्छा मार्ग दिखलाया। उन्होंने अपने रसीले कवित्तों और सवैयों में ऐसे शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया है और उनकी भाषा बोलचाल की भाषा से मिलती हुई रखी है, जैसे

आजु लौं जो न मिले तो कहा, हम तो तुम्हरे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं सबै फल आपने भाग को पावैं।।
जो हरिश्चंद भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासो सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति विदा के समय सब कंठ लगावैं।।

इसी कारण इनकी कविताओं का प्रचार भी देखते देखते हो गया। लोगों के मुँह से इनके सवैये चारों ओर सुनाई देने लगेय इनके गीतों को स्त्रियाँ तक घर घर में गाने लगीं। इनकी कविता बहुत ही जनप्रिय हुई। इनके समय ही में जो जो संग्रह बने उन सबमें प्रायः इनकी कविताएँ विशेषकर सवैये दिए गए। इन्होंने मनुष्य के मनोवेगों को बड़ी सीधी सादी पर परिपूर्ण भाषा में निकालने का प्रयत्न किया है। लीक पीटने वालों की उस शब्दावली को, जो पुरानी पड़ गई थी,

इन्होंने बहुत कुछ छाँटा। ये बड़े भारी साहित्य संशोधक हुए। इनके सीधे सादे शब्दों से भाव टपके पड़ते हैं। जिसे इनकी कविता 'साधारण' जँचे उसे समझना चाहिए कि खव् बव् वाले कविन्दों ने भावुकता का नाश करके उसके हृदय को कुरुचिपूर्ण कर दिया है।

पर सबसे बड़ा काम तो इस महात्मा को यह करना था कि वह स्वदेशाभिमान, स्वजाति प्रेम, समाज सुधार आदि के आधुनिक उद्‌गारों के प्रवाह के लिए हिंदी को चुने तथा इतिहास, विज्ञान, पुरावृत्त आदि समस्त समयापेक्षित विषयों की ओर हिंदी को दौड़ा दे। इन्होंने अपनी लेखनी को इन नवीन विषयों पर चलाया। स्वदेशाभिमान और स्वदेश प्रेम को लेकर तो मानो यह कवि उतरा ही था। देश के प्राचीन गौरव को स्मरण कराके उसके एक एक यशस्वी महापुरुष का नाम लेकर उसकी वर्तमान दुरवस्था पर आँसू बहवाने के लिए तो ये आए ही थे। इनके जीवन में 'भारत, भारत' की जो धुन बँधी वह बराबर बँधी रही। विजयिनी विजय वैजयंती लेकर आप मिस्र से लौटी हुई हिंदुस्तानी सेना की बड़ाई करने और सरकार को बधाई देने चले पर बीच में इस विचार में पड़ गए कि–

सहसन बरसन सों सुन्यो जो सपनेहुँ नहिं कान।
सो 'जय भारत' शब्द क्यों पूरयो आज जहान।।
फिर क्या था भारत का भूत सिर पर सवार हो गया।
हाय वही भारत भुव भारी।
सबही विधि सों भई दुखारी।।
भारत भुज बल लहि जग रच्छित।
भारत विद्या सों जग सिच्छित।।
भारत किरिन जगत उँजियारा।
भारत जीव जियत संसारा।।

उन ऐतिहासिक स्थलों और घटनाओं को स्मरण कराने से यह कवि कब चूकता जिनके नाममात्र हिंदू संतान के लिए कविता है। कविता वही जिससे चित्ता किसी आवेग में लीन हो जाय। कौन ऐसा इतिहासविज्ञ भारत संतान होगा जिसका रक्त पानीपत, थानेश्वर, चित्तौर, रणथंभौर आदि का नाम सुनते ही चंचल न हो उठे। कौन ऐसा स्तब्ध और जड़ हिन्दू होगा, जिसके हृदय में इन नामों को सुनते ही अनेक प्रकार के भाव न उठने लगें। यदि कोई कवि इन दो चार नामों को केवल एक साथ ले ले तो वह अपना काम कर चुका। इन नामों ही में भाव भरे

हैं। वे अकेले ही कल्पना को उभार सकते हैं। मेकाले ने मिल्टन की कविता का इटली के एक कवि की कविता से मिलान करते हुए कहा है कि मिल्टन जब किसी वस्तु का वर्णन करता है तब उसे अपने शब्दों से नाप जोख कर बिलकुल परिमित नहीं कर देता वरन् कुछ काम अपने पाठकों की कल्पना के लिए भी छोड़ देता है। अब देखिए इन नामों को भारतेन्दु ने किस प्रकार लिया है–

हाय पंचनद हा पानीपत।
अजहूँ रहे तुम धारनि विराजत॥
हाय चितौर निलज तू भारी।
अजहूँ खरो भारतहि मझारी॥
जा दिन तव अधिकार नसायो।
ताही दिन किन धारनि समायो॥
तुममें जल नहिं जमुना गंगा।
बढ़हु बेगि करि प्रबल तरंगा॥
बोरहु किन झट मथुरा काशी।
धोवहु यह कलंक की राशी॥

भारत दुर्दशा में आलस्य आदि को लाकर इस कवि ने देश दशा को इस ढंग

1 गत वर्ष की 'सरस्वती' में प्रकाशित मेरा 'कविता क्या है?' शीर्षक प्रबंध देखिए।

से झलकाया है कि नए और पुराने दोनों ढाँचे के लोगों का मन उसमें लगे। इस कारीगर में बड़ा भारी गुण यह था कि इसने नए और पुराने विचारों को अपनी रचनाओं में इस तरह मिलाया कि कहीं से जोड़ मालूम न हुआ। पुराने भावों और आदर्शों को लेकर इसने नए आदर्श खड़े किए। देखिए, नीलदेवी में एक देवता के मुँह से भारतवर्ष का कैसा मर्म भेदी भविष्य कहलाया है

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ यहि नासा।
अब तजहु वीर वर भारत की सब आसा॥
अब सुख सूरज को उदय नहीं इत ह्वै है।
मंगलमय भारत भुव मसान ह्वै जैहै॥

राजा सूर्यदेव के मारे जाने पर रानी नील देवी ने जिस रीति से भगवान् को पुकारा है वह कोई नई नहीं, यह वही रीति है जिससे द्रौपदी ने कृष्णचन्द्र को

पुकारा था, भेद इतना ही है कि द्रौपदी ने अपनी लज्जा रखने के लिए पुकार मचाई थी, इसने देश की लज्जा रखने के लिए पुकारा।

कहाँ करुणानिधि केशव सोए।
जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए।।

इन्होंने समाज की कुरीतियों को दिखलाकर बराबर उनके सुधार पर जोर दिया है पर अपने विचारों को परंपरागत विचारों से बिलकुल अलग करते हुए नहीं वरन् उनसे लगाव रखते हुए कश्मीर कुसुम, बादशाह दर्पण, कालचक्र, पुरावृत्ता संग्रह आदि लिखकर इन्होंने इन विषयों की ओर हिंदी को लगा दिया। इनके कविवचनसुधा, मैगजीन की देखादेखी हिंदी में सामयिक पत्र और पत्रिकाएँ निकल पड़ीं। आज जो हम लोग नए नए विचारों को मँजी हुई भाषा में प्रगट करते हैं वह इन्हीं बाबू हरिश्चंद्र की बदौलत। न तो लल्लू लाल की बोली से हमारा काम चलता और न वैद्यक आदि के ग्रंथों की टीकाओं की भाषा से। हिंदी को उन्नति के आधुनिक मार्ग पर लाकर खड़ा करनेवाले और उसे हमारे साथ फिर लगानेवाले बाबू हरिश्चंद्र ही हुए। अब हमें चाहिए कि राजनीति, विज्ञान, दर्शन, कला आदि के जो भाव हम अपनी संसार यात्र में प्राप्त करते जायँ उन्हें इस अपनी मातृभाषा हिंदी को बराबर सौंपते जाएँ क्योंकि यही उन्हें हमारी भावी संतति के लिए संचित रखेगी।

जीवन एवं योगदान

हमें मालूम हो या न हो लेकिन यह सच है कि आज का हिंदी साहित्य जहां खड़ा है उसकी नींव का ज्यादातर हिस्सा भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनकी मंडली ने खड़ा किया था। उनके साथ 'पहली बार' वाली उपलब्धि जितनी बार जुड़ी है, उतनी बहुत ही कम लोगों के साथ जुड़ पाती है। इसलिए कई आलोचक उन्हें हिंदी साहित्य का महान 'अनुसंधानकर्ता' भी मानते हैं। ऐसी महान विभूति का जन्म नौ सितंबर, 1850 को हुआ था।

हिंदी साहित्य को आधुनिक बनाया

भारतेंदु ने न केवल नई विधाओं का सृजन किया बल्कि वे साहित्य की विषय-वस्तु में भी नयापन लेकर आए। इसलिए उन्हें भारत में नवजागरण का अग्रदूत माना जाता है। उनसे पहले हिंदी साहित्य में मध्यकाल की प्रवृत्तियां मौजूद थीं, इसलिए उनसे पहले का का साहित्य दुनियावी जरूरतों से बिल्कुल कटा

हुआ था। साहित्य का पूरा माहौल प्रेम, भक्ति और अध्यात्म का था। इसे अपने प्रयासों से उन्होंने बदल डाला। उन्होंने हिंदी साहित्य को देश की सामासिक संस्कृति की खूबियों के साथ-साथ पश्चिम की भौतिक और वैज्ञानिक सोच से लैस करने की भरसक कोशिश की।

आधुनिक विचार ईश्वर और आस्था की जगह मानव और तर्क को केंद्र में रखता है, इसलिए इसके प्रभाव में रचा गया साहित्य लौकिक जीवन से जुड़ा होता है। लेकिन उस समय का भारत गुलामी और मध्यकालीन सोच की जंजीरों में जकड़ा था। भारतेंदु पर भारतीय संस्कृति के अलावा आधुनिक और पश्चिमी विचारों का भी असर था। इसलिए वे साहित्य में बुद्धिवाद, मानवतावाद, व्यक्तिवाद, न्याय और सहिष्णुता के गुण लेकर आए। उन्होंने अपनी लेखनी से लोगों में अपनी संस्कृति और भाषा के प्रति प्रेम की अलख जगाने का प्रयास किया।

1850 के आस-पास के भारत में भ्रष्टाचार, प्रांतवाद, अलगाववाद, जातिवाद और छुआछूत जैसी समस्याएं अपने चरम पर थीं। हरिश्चंद्र बाबू को ये समस्याएं कचोटती थीं। इसलिए उन्होंने इन समस्याओं को अपने नाटकों, प्रहसनों और निबंधों का विषय बनाया। वे उन चंद शुरुआती लोगों में से थे, जिन्होंने साहित्यकारों से आह्वान किया कि वे इस दुनिया की खूबियों-खामियों पर लिखें न कि परलोक से जुड़ी व्यर्थ की बातों पर अपनी मंडली के साहित्यकारों की सहायता से उन्होंने नए-नए विषयों और विधाओं का सृजन किया। कुल मिलाकर उन्होंने पुरानी प्रवृत्तियों का परिष्कार कर नवीनता का समावेश करने की कोशिश की।

खड़ी बोली के सरल रूप को गद्य में स्थापित किया

आलोचकों की नजर में भारतेंदु हरिश्चंद्र का दूसरा सबसे बड़ा योगदान हिंदी भाषा को नई चाल में ढालने का माना जाता है। उनसे पहले हिंदी भाषा में दो तरह के 'स्कूल' चलते थे। एक राजा लक्ष्मण सिंह की संस्कृतनिष्ठ हिंदी और दूसरा राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' की फारसीनिष्ठ शैली का। दोनों ही शैलियां अपनी अति को छू रही थीं। एक हिंदी भाषा में संस्कृत के शब्दों को चुन-चुनकर डाल रही थी तो दूसरा फारसी के शब्दों को। हरिश्चंद्र बाबू ने इन दोनों प्रवृत्तियों का मिलन कराया। उन्होंने अपनी पत्रिका 'हरिश्चंद्र मैगजीन' में 1873 से हिंदी की नई भाषा को गढ़ना शुरू किया। इसके लिए उन्होंने खड़ी

बोली का आवरण लेकर उसमें उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया। वहीं तत्सम और उससे निकले तद्‌भव शब्दों को भी पर्याप्त महत्त्व दिया। इसके साथ ही उन्होंने कठिन और अबूझ शब्दों का प्रयोग वर्जित कर दिया। भाषा के इस रूप को हिंदुस्तानी शैली कहा गया, जिसे बाद में प्रेमचंद जैसे साहित्यकारों ने आगे और परिष्कृत किया। हालांकि कविता में वे खड़ी बोली के बजाय ब्रज का ही इस्तेमाल करते रहे।

हिंदी नाटक और रंगमंच के प्रवर्त्तक भी

आलोचकों की नजर में भाषा के बाद भारतेंदु का सबसे बड़ा योगदान नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में रहा। उन्होंने पहली बार हिंदी में मौलिक नाटकों की रचना की। अपने छोटे से जीवन में भारतेंदु ने मौलिक और अनूदित मिलाकर 17 नाटक रचे। इसके अलावा वे एक अच्छे अभिनेता भी थे लिहाजा रंगमंच में भी उन्होंने कई प्रयोग किए। इसलिए उन्हें हिंदी का पहला आधुनिक नाटककार और मौलिक नाट्य चिंतक माना गया। उन्हें हिंदी नाटक का युग प्रवर्त्तक करार दिया गया।

उन्होंने नाटक के कथानक को काफी विविध बना दिया। उनसे पहले के नाटक धार्मिक और भावुकता प्रधान थे। इसकी जगह उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक और सामाजिक नाटक लिखे। इसके जरिए उन्होंने तार्किक चिंतन विकसित करने की कोशिश की। इनके लिखे भारत-दुर्दशा, अंधेर नगरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति जैसे नाटक अभी भी मंचित हो रहे हैं। ये सभी प्रहसन की श्रेणी में भी आते हैं। हिंदी में पहली बार प्रहसन लिखने की शुरुआत इन्होंने ही की और उसे उसके शीर्ष तक भी पहुंचाया। इस विधा के जरिए उन्होंने समाज में गहरी पैठी समस्याओं पर व्यंग्य के माध्यम से करारा प्रहार किया था। इनका रंगमंच के क्षेत्र में काफी योगदान रहा। वेश, वाणी, अभिनय के स्वरूप और गीतों के स्वाभाविक प्रयोग आदि पर इन्होंने काफी काम किया। इन्होंने पारसी और पश्चिमी थिएटर के अति प्रभाव से दूर करते हुए हिंदी रंगमंच की स्थापना की।

उनका काव्य रचना-संसार बहुत विस्तृत था

भारतेंदु का काव्य रचना संसार बहुत विस्तृत था। इतनी छोटी-सी उम्र में ही उन्होंने 21 काव्यग्रंथ, 48 प्रबंध काव्य और कई मुक्तक रच डाले थे। वे गद्य

खड़ी बोली में लिखते थे, लेकिन कविता के लिए उन्होंने ब्रज भाषा को चुना था। इस प्रवृत्ति को 'भाषा का द्वैध' कहा गया, जो इनके दो दशक बाद तक चलता रहा। भारतेंदु ने कहा कि कविता के लिए जिन भाव-बोधों की जरूरत होती है वे काफी प्रयास करने के बाद भी खड़ी बोली में नहीं आ सके। इसे उनकी विलक्षण प्रतिभा की सीमा माना जाता है। हालांकि बाद में महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके शिष्य कवि 1900 के बाद खड़ी बोली में भी सुंदर काव्य रचने में सफल रहे। वैसे उनकी कविता में कवित्त, सवैया, दोहा, छप्पय जैसे पारंपरिक छंदों के अलावा लावनी, कजली जैसी लोकप्रचलित शैलियों का भी जमकर प्रयोग हुआ।

वे एक श्रेष्ठ पत्रकार भी थे

भारतेंदु एक श्रेष्ठ पत्रकार भी थे। उन्होंने बालाबोधनी, कविवचन सुधा और हरिश्चंद्र मैगजीन (बाद में हरिश्चंद्र पत्रिका) जैसी पत्रिकाओं का प्रकाशन और संपादन कर साहित्य से अलग विषयों और समस्याओं पर लिखा। इन पत्रिकाओं के जरिए उन्होंने न केवल नई किस्म की भाषा का विकास किया बल्कि आधुनिक भारत की समस्याओं पर भी खुलकर चिंतन किया। वे इन पत्रिकाओं के जरिए अक्सर देशप्रेम विकसित करने की कोशिश किया करते थे। हरिश्चंद्र बाबू ने इन पत्रिकाओं के लिए ढेरों निबंध, आलोचना और रिपोर्ताज लिखे। आलोचकों के अनुसार इन विधाओं की स्थापना भारतेंदु और इनके साथियों के प्रयासों से ही हुई। अपनी पत्रिकाओं में विविध विषयों पर लिखे अपने लेखों से उन्होंने अन्य लेखकों को भी प्रेरित किया। आलोचकों के अनुसार उनके साथी बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र की लेखनी पर भारतेंदु का स्पष्ट प्रभाव दिखता था। उन्होंने दिखाया कि कैसे साहित्य से इतर विधाओं में भी आम-जीवन से जुड़े विषयों पर लिखा जा सकता है। इन वजहों से उनकी पत्रिका लोगों में हिंदी के प्रति अभिरुचि विकसित करने में कामयाब हुई।

हरिश्चंद्र बाबू का व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व बहुआयामी था। उन्होंने आधुनिक हिंदी साहित्य की लगभग सभी विधाओं में योगदान दिया विशेषकर गद्य साहित्य में। आधुनिक हिंदी साहित्य के सभी विधाओं के बीज इनकी रचनाओं में मिल जाते हैं। इन्होंने अपने को किसी एक विधा तक सीमित नहीं रखा था। वे 'कुछ आपबीती, कुछ जगबीती' नामक उपन्यास भी लिख रहे थे, लेकिन असमय निधन से वे यह काम पूरा न कर सके। उनका यह सपना बाद में उनके साथी

श्रीनिवास दास ने हिंदी का पहला उपन्यास 'परीक्षा गुरु' लिखकर पूरा किया। ऐसी अद्वितीय प्रतिभा दुर्भाग्य से अपने जीवन के चौथे ही दशक में छह जनवरी, 1885 को दुनिया से कूच कर गई।

भारत की सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न

भारतेन्दु की वैश्विक चेतना भी अत्यन्त प्रखर थी। उन्हें अच्छी तरह पता था कि विश्व के कौन से देश कैसे और कितनी उन्नति कर रहे हैं। इसलिए उन्होने सन् 1884 में बलिया के दादरी मेले में 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' पर अत्यन्त सारगर्भित भाषण दिया था। यह लेख उनकी अत्यन्त प्रगतिशील सोच का परिचायक भी है। इसमें उन्होनें लोगों से कुरीतियों और अंधविश्वासों को त्यागकर अच्छी-से-अच्छी शिक्षा प्राप्त करने, उद्योग-धंधों को विकसित करने, सहयोग एवं एकता पर बल देने तथा सभी क्षेत्रों में आत्मनिर्भर होने का आह्वान किया था। ददरी जैसे धार्मिक और लोक मेले के साहित्यिक मंच से भारतेंदु का यह उद्‌बोधन अगर देखा जाए तो आधुनिक भारतीय सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चिंतन का प्रस्थानबिंदु है। भाषण का एक छोटा-सा अंश देखिए-

हम नहीं समझते कि इनको लाज भी क्यों नहीं आती कि उस समय में जबकि इनके पुरखों के पास कोई भी सामान नहीं था, तब उन लोगों ने जंगल में पत्ते और मिट्‌टी की कुटियों में बैठ करके बाँस की नालियों से जो ताराग्रह आदि बेध करके उनकी गति लिखी है वह ऐसी ठीक है कि सोलह लाख रुपये के लागत की विलायत में, जो दूरबीन बनी है उनसे उन ग्रहों को बेध करने में भी वही गति ठीक आती है और जब आज इस काल में हम लोगों को अंगरेजी विद्या के और जनता की उन्नति से लाखों पुस्तकें और हजारों यंत्र तैयार हैं तब हम लोग निरी चुंगी के कतवार फेंकने की गाड़ी बन रहे हैं। यह समय ऐसा है कि उन्नति की मानो घुड़दौड़ हो रही है। अमेरिकन अंग्रेज फरासीस आदि तुरकी ताजी सब सरपट्‌ट दौड़े जाते हैं। सबके जी में यही है कि पाला हमी पहले छू लें। उस समय हिन्दू काठियावाड़ी खाली खड़े-खड़े टाप से मिट्‌टी खोदते हैं। इनको औरों को जाने दीजिए जापानी टट्‌टुओं को हाँफते हुए दौड़ते देख करके भी लाज नहीं आती। यह समय ऐसा है कि जो पीछे रह जायेगा, फिर कोटि उपाय किये भी आगे न बढ़ सकेगा। इस लूट में इस बरसात में भी जिसके सिर पर कम्बख्ती का छाता और आँखों में मूर्खता की पट्‌टी बँधी रहे उन पर ईश्वर का कोप ही कहना चाहिए।

विचारों की स्पष्टता और उसे विनोदप्रियता के साथ किस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है, इसका यह निबन्ध बेजोड़ उदाहरण है। देखिए, किस तरह भारत की चिंता इस निबन्ध में भारतेंदु व्यक्त करते हैं,

बहुत लोग यह कहैंगे कि हमको पेट के धंधे के मारे छुट्टी ही नहीं रहती बाबा, हम क्या उन्नति करैं? तुम्हरा पेट भरा है तुमको दून की सूझती है। यह कहना उनकी बहुत भूल है। इंगलैंड का पेट भी कभी यों ही खाली था। उसने एक हाथ से पेट भरा, दूसरे हाथ से उन्नति की राह के कांटों को साफ किया।

वास्तव में उनका यह लेख भारत दुर्दशा नामक उनके नाटक का एक तरह से वैचारिक विस्तार है। भारत दुर्दशा में वे कहते हैं,

रोअहुं सब मिलिकै आवहुं भारत भाई।
हा, हा ! भारत दुर्दशा देखी न जाई।

भारतेन्दु अच्छी तरह समझ चुके थे कि 'अंग्रेजी शासन भारतीयों के लाभ के लिए है' यह पूर्णतः खोखला दावा था और दुष्प्रचार था। अँग्रेज किस तरह भारत की संपदा लूट रहे थे, इसका संकेत भारतेन्दु ने 'कविवचनसुधा' के 7 मार्च, 1874 के अंक में अपनी टिप्पणी में दिया,

सरकारी पक्ष का कहना है कि हिंदुस्तान में पहले सब लोग लड़ते-भिड़ते थे और आपस में गमनागमन न हो सकता था। यह सब सरकार की कृपा से हुआ। हिंदुस्तानियों का कहना है कि उद्योग और व्यापार बाकी नहीं। रेल आदि से भी द्रव्य के बढ़ने की आशा नहीं है। रेलवे कंपनी वाले, जो द्रव्य व्यय किया है, उसका व्याज सरकार को देना पड़ता है और उसे लेने वाले बहुधा विलायत के लोग हैं। कुल मिलाकर 26 करोड़ रुपया बाहर जाता है।

भारतेन्दु स्त्री-पुरुष की समानता के इतने बड़े पैरोकार थे कि 'कविवचनसुधा' के 3 नवंबर, 1873 के अंक में उन्होंने लिखा,

यह बात सिद्ध है कि पश्चिमोत्तर देश की कदापि उन्नति नहीं होगी, जब तक यहाँ की स्त्रियों की भी शिक्षा न होगी, क्योंकि यदि पुरुष विद्वान होंगे और उनकी स्त्रियाँ मूर्ख तो उनमें आपस में कभी स्नेह न होगा और नित्य कलह होगी।

भारतेन्दु ने अपने 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' का समापन इस भरत-वाक्य से किया है-

खलगनन सों सज्जन दुखी मत होइ, हरि पद रति रहै।
उपधर्म छूटै सत्व निज भारत गहै, कर-दुःख बहै।।

बुध तजहिं मत्सर नारि-नर सम होंहिं, सब जग सुख लहै।
तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहैं।।

हिंदी साहित्य के भारतेंदु युग में मूल्य

सामान्य रूप से 'मूल्य' शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र से जुड़ा हुआ होता है और अर्थशास्त्रीय कार्य-व्यवहारों में 'मूल्य' शब्द का प्रयोग किसी वस्तु की भौतिक उपादेयता को भौतिक रूप से ही प्रकट करने या सिद्ध करने के अर्थ में होता है। दर्शन के धरातल पर मूल्य का अर्थ अर्थशास्त्रीय 'मूल्य' से एकदम अलग और व्यापक होता है।

दर्शन के क्षेत्र में मूल्य को उसके व्यापक अर्थों में परिभाषित और व्याख्यायित करने की परंपरा पाश्चात्य दर्शन के प्रभाव से भारत में विकसित हुई है। भारतीय दर्शन जिन आदर्श तत्त्वों की स्थापना की बात कहता है, उनकी उपादेयता का मूल्यांकन करके पाश्चात्य दर्शन 'मूल्यवाद' की अवधारणा को स्थापित करता है। इतना ही नहीं, पाश्चात्य दर्शन पारलौकिक या अभौतिक तत्त्वों के साथ ही लौकिक या भौतिक तत्त्वों की उपादेयता का विचार भी करता है और उन्हें अलग-अलग वर्गों में विभक्त करके मानव तथा मानवता के लिए उपयुक्तता के क्रम का निर्धारण भी करता है। इस प्रकार मूल्यवाद के अंतर्गत वे सभी तत्त्व एवं पदार्थ समाहित हो जाते हैं, जो मानव की इच्छाओं से पूर्णतः या अंशतः जुड़े हुए होते हैं।

दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में 'मूल्य' के व्याख्याता अर्बन ने इसी आधार पर मूल्यों के निम्न प्रकार बताए हैं।

1. शारीरिक मूल्य–जिससे शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, अन्न, भोजन आदि।
2. आर्थिक मूल्य–धन, संपत्ति आदि।
3. मनोरंजन का मूल्य–खेल आदि मन लगाने की वस्तुएँ।
4. साहचर्य का मूल्य–मित्रता आदि।
5. चारित्रिक मूल्य–सच्चाई, ईमानदारी आदि।
6. सौंदर्य संबंधी मूल्य–कला, सुंदरता, चित्रकारी आदि।
7. बौद्धिक मूल्य–ज्ञान।
8. धार्मिक मूल्य–ईश्वर, आत्मा आदि।

इनमें से शारीरिक मूल्य, आर्थिक मूल्य और मनोरंजन का मूल्य जैविक मूल्यों के अंतर्गत आते हैं। साहचर्य का मूल्य और चारित्रिक मूल्य सामाजिक मूल्यों के अंतर्गत आते हैं। सौंदर्य संबंधी मूल्य, बौद्धिक मूल्य और धार्मिक मूल्य आध्यात्मिक मूल्यों के अंतर्गत आते हैं।1

इन सभी मूल्यों के अंतर्गत मानवीय कार्य-व्यवहारों से लेकर समाज और विश्व तक की गतिविधियाँ, कार्य-व्यवहार और दिशा-दशा संचालित होती है, नियंत्रित होती है। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय 'मूल्य' को व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं कि, "हमारे आचरणों और व्यवहारों का समूहीकरण ही 'मूल्य' नामक धारणा के रूप में स्थापित होता है। ये धारणाएँ ही हमारे व्यवहारों का निर्देशन करतीं और आदर्शों की स्थापना करती हैं, जिनके आधार पर मनुष्य अच्छे-बुरे और सही-गलत की पहचान और घोषणा करता है। इसीलिए जीवन की परिस्थितियों में परिवर्तन होने के साथ-साथ मूल्यों में भी परिवर्तन होता है।" जीवन के साथ साहित्य के समानुपातिक संबंध होते हैं और इसीलिए मूल्यों का यह परिवर्तन साहित्य में भी स्पष्ट परिलक्षित होता है।

साहित्य समाज का दर्पण है, यह उक्ति साहित्य साथ समाज के संबंधों को व्याख्यायित करने के लिए सर्वाधिक प्रयुक्त होती रही है और आज भी प्रयोग की जाती है। यदि इस आधार पर देखा जाए तो मूल्यवाद के साथ साहित्य का संबंध स्वतः स्थापित हो जाता है। इसके साथ ही साहित्य समाज का दीपक होता है, इस उक्ति पर विचार किया जाए तो निस्संदेह स्वीकार करना होगा कि जब समाज मूल्यों से विलग होकर अपनी ऊर्जा को मानवताविरोधी गतिविधियों में लगाना प्रारंभ कर देता है, तब साहित्य उदात्त मानवीय मूल्यों की दुहाई देकर दीपक की भाँति समाज को सही रास्ता दिखाने का कार्य करता है। इस प्रकार मूल्यवाद के साथ साहित्य के घनिष्ठ अंतर्संबंधों को जाना-समझा जा सकता है।

मूल्यवाद की अवधारणा हिंदी साहित्य में घोषित तौर पर दिखाई नहीं देती, इसके बावजूद हिंदी साहित्य के इतिहास के युग निर्धारण में साहित्य के साथ जुड़े मानवीय मूल्यों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। हिंदी साहित्येतिहास के आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल का कालनिर्धारण कालखंड विशेष में प्रचलित मूल्यों का प्रतिनिधि प्रतीत होता है। हिंदी साहित्य के इतिहास के आधुनिक काल में भी मूल्य की यह अवधारणा स्पष्ट परिलक्षित होती है।

हिंदी साहित्य के आधुनिक काल की शुरुआत भारतेंदु युग से होती है। हिंदी साहित्येतिहासकारों ने सन् 1857 की प्रथम स्वाधीनता क्रांति को आधार

बनाकर हिंदी साहित्य के आधुनिक युग के प्रारंभ का कालखंड निर्धारित किया है। सन् 1850 में भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म और उनके साहित्यिक अवदान को ध्यान में रखकर आधुनिक युग के प्रथम उपविभाजन, सन् 1857 से सन् 1900 ई. को भारतेंदु युग की संज्ञा दी गई है। अर्बन द्वारा निर्धारित किए गए मानवीय मूल्यों के आधार पर भारतेंदु युग का मूल्यांकन इस युग की साहित्यिक विशिष्टताओं को जानने-समझने हेतु महत्त्वपूर्ण है।

सन् 1857 की क्रांति भारतीय समाज के लिए एकदम अभूतपूर्व घटना थी। इस क्रांति ने भारतीय समाज की दिशा और दशा को परिवर्तित किया। समाज के साथ ही साहित्य में, विचारों में बदलाव के एक नए दौर की शुरुआत हुई। परिवर्तन की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए डॉ. बच्चन सिंह लिखते हैं कि "अंग्रेजों ने अपनी आर्थिक, शैक्षणिक और प्रशासनिक नीतियों में परिवर्तन किया। इस देश के लोग भी नये संदर्भ में कुछ नया सोचने और करने के लिए बाध्य हुए। साहित्य मनुष्य के बृहत्तर सुख-दुःख के साथ पहली बार जुड़ा। यह प्रक्रिया भारतेंदु के समय में हुई, वह भी गद्य के माध्यम से। आधुनिक जीवन-चेतना की जैसी चिनगारियाँ गद्य में दिखायी पड़ीं, वैसी पद्य में नहीं।"

भारतेंदु युग में गद्य के माध्यम से विकसित हुई आधुनिक जीवन-चेतना और नवीन वैचारिकता की सीधा संबंध बौद्धिक मूल्य, चारित्रिक मूल्य, साहचर्य का मूल्य और सौंदर्य संबंधी मूल्य से है। भारतेंदु युग के पूर्ववर्ती रीतिकाल में साहित्य जिस प्रकार मनोरंजन के मूल्य, शारीरिक मूल्य और आर्थिक मूल्य से जुड़कर अनुत्पादक हो चुका था, उस परंपरा को त्यागकर भारतेंदु युग में साहित्य का पुनर्जागरण हुआ। भारतेंदु युगीन काव्य एवं गद्य साहित्य की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन इस तथ्य को प्रभावी रूप से स्थापित करने हेतु महत्त्वपूर्ण होगा।

राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत आदर्शवादी काव्य-चेतना का प्रारंभ भारतेंदु युग से होता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र इस काव्य-चेतना के प्रवर्तक कवि थे। "उन्होने अपनी विभिन्न रचनाओं में धार्मिक पाखंडों, सामाजिक दुराचारों एवं राजनीतिक पराधीनता का दिग्दर्शन स्पष्ट रूप में करवाया है।" भारतेंदु युग में राष्ट्र का अर्थ छोटे-छोटे रजवाड़ों, रियासतों में बँटे भारत को एक सूत्र में बाँधने के आशय से था। वीरगाथा कालीन प्रवृत्तियों से अलग हटकर और क्षेत्रीय संकीर्णता को त्यागकर समूचे भारत को एक राष्ट्र की दृष्टि से देखने की यह नई शुरुआत आदर्श मानवीय मूल्यों की स्थपना का सर्वथा नवीन आयाम है। इसी से जुड़ा हुआ पक्ष राष्ट्रीय स्तर पर सर्वमान्य भाषा का है। बुंदेली, बघेली, अवधी, ब्रज आदि

क्षेत्रीय बोलियों में बँटे संपूर्ण हिंदी भाषी क्षेत्र को एक सूत्र में बाँधने का कार्य भारतेंदु मंडल के साहित्यकारों ने किया। समूचे देश को जोड़ने और आपसी वैमनस्य को समाप्त करके अंग्रेजों के खिलाफ संगठित करने में भारतेंदु युगीन साहित्य का योगदान एक ओर अभूतपूर्व और मूल्यवान है तो दूसरी ओर साहचर्य का मूल्य साहित्य के माध्यम से समाज में स्थापित करने के लिए भी महत्त्वपूर्ण है।

बौद्धिक मूल्य के स्तर पर भी भारतेंदु युगीन साहित्य खरा उतरता है। जहाँ एक ओर अंग्रेजों के विरोध में उस युग के साहित्यकार लगे हुए थे, वहीं दूसरी ओर खुले हृदय से अंग्रेजी भाषा के साहित्य की विशिष्टताओं को अनुवाद के माध्यम से आत्मसात् भी कर रहे थे। संस्कृत साहित्य के साथ ही अंग्रेजी साहित्य का हिंदी अनुवाद भारतेंदु युग की अपनी विशेषता है। भारतेंदु मंडल के कवि श्रीधर पाठक ने अंग्रेजी की अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों का खड़ीबोली हिंदी और ब्रजभाषा में अनुवाद किया। बौद्धिक मूल्य के साथ ही सौंदर्य संबंधी मूल्य और मनोरंजन का मूल्य भारतेंदु युग में प्रचलित समस्यापूर्ति की काव्य पद्धति में देखने को मिलता है। "कवियों की प्रतिभा और रचना कौशल को परखने के लिए कविगोष्ठियों और कवि-समाजों में कठिन-से-कठिन विषयों पर समस्यापूर्ति करायी जाती थी। भारतेंदु द्वारा काशी में स्थापित कविता-वर्द्धिनी-सभा, कानपुर का रसिक समाज, बाबा सुमेर सिंह द्वारा निजामाबाद (जिला आजमगढ़) में स्थापित कवि-समाज आदि ऐसे मंच थे, जहाँ नियमित रूप से कवि गोष्ठियाँ होती थीं और समस्यापूरण को प्रतियोगिता के रूप में प्रोत्साहन दिया जाता था। प्रतिष्ठित कवि इसमें भाग लेने में संकोच नहीं करते थे और नये कवियों का इससे यथेष्ट उत्साहवर्द्धन होता था।"

भारतेंदु युगीन हास्य-व्यंग्य भले ही मनोरंजन के मूल्य से जुड़ा हुआ हो, मगर इसमें भी सामाजिक और आध्यात्मिक चेतना का प्रदर्शन इतनी गहराई के साथ उभरता है कि हास्य-व्यंग्य में सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों की उपस्थिति को नकारा नहीं जा सकता। प्रस्तुत है एक बानगी-

जग जानैं इंगलिश हमैं, वाणी वस्त्रहिं जोय।
मिटै बदन कर श्याम रंग-जन्म सुफल तब होय।।
और
मुँह जब लागै तब नहिं छूटे, जाति मान धन सब कुछ लूटे।
पागल कर मोहिं करे खराब, क्यों सखि सज्जन? नहीं सराब।।

भारतेंदु युगीन साहित्य में परिलक्षित धार्मिक मूल्यों पर साहचर्य के मूल्यों, चारित्रिक मूल्यों और बौद्धिक मूल्यों का समावेश मिलता है। भारतेंदु युगीन भक्ति–भावना कड़े धार्मिक बंधनों में जकड़ी हुई नहीं थी, वरन् सभी धर्मों, मतों पंथों के समन्वय सेय व्यावहारिकता और खुलेपन से तथा देश के प्रति अनुराग से जुड़कर विकसित हुई थी। फलतः ऐसी भक्ति–भावना ने समाज को जोड़ने का कार्य किया और भक्ति से जोड़कर राष्ट्रप्रेम की अलख जगाने का कार्य किया। भारतेंदु युगीन भक्ति भावना ने धार्मिक पाखंडों, कुरीतियों का भी जमकर विरोध किया। इस प्रकार भारतेंदु युगीन काव्य की भक्ति–भावना विषयक प्रवृत्ति भी उच्चतम मूल्यों की स्थापना के मापदण्ड पर खरी उतरती है।

भारतेंदु युगीन कवियों ने रीतिकालीन दरबारी काव्य परंपरा को त्यागकर जनता की समस्याओं का निरूपण व्यापक रूप में किया है। भारतेंदु युगीन काव्य की सामाजिक चेतना नारी–शिक्षा, विधवाओं की दुर्दशा, छुआछूत, भेदभाव जैसी सामाजिक समस्याओं के विरोध में खड़ी होती है। इस बदलाव के संदर्भ में डॉ. साधना शाह लिखती हैं कि, "अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के कारण चीजों को देखने–परखने के हमारे रवैये में अंतर आया। सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं में परिवर्तन की आवश्यकता महसूस की गई। परंपरागत धार्मिक साहित्य और नवीन औद्योगिक युग के बीच अंतर्विरोध सामने आया। हमने महसूस किया कि हम जिस तरह का जीवन जी रहे हैं। वह अप्रगतिशील और दकियानूसी है। परिणामतः सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में हमारे मध्ययुगीन बोध के खिलाफ जनमत बनने लगा। लोग आधुनिक मूल्यों के प्रति आकृष्ट होने लगे।"

भारतेंदु युगीन गद्य साहित्य में नवीन मूल्यों की स्थापना की प्रवृत्ति काव्य की अपेक्षा सशक्त रूप में दृष्टिगत होती है। इसका प्रमुख कारण गद्य की यथार्थ से निकटता और अभिव्यक्ति की सशक्तता है। भारतेंदु युग में हिंदी नाटकों से ही गद्य की शुरुआत होती है। इस तथ्य के पीछे नाटकों की सामाजिकता, सम्प्रेषण की प्रभावोत्पादकता और नाटकों के मंचन का सांगठनिक कौशल (Unity of Action, Time - Place) कार्य करता है। "ब्राह्मसमाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज और आगे चलकर स्वयं भारतेंदु द्वारा संस्थापित तदीय समाज के नामकरण, और उनके कार्यक्रम इस मान्यता को भली–भाँति पुष्ट करते हैं। इधर नाटक सभी साहित्य और कला–माध्यमों के बीच अपनी प्रकृति में सर्वाधिक सामाजिक है। रंगमंच पर उसका प्रस्तुतीकरण अनेक प्रकार के कलाकारों के सहयोग से होता है, वैसे ही उसका आस्वादन समाज के रूप में किया जाता है।" मनोरंजन के

मूल्य के साथ ही साहचर्य के मूल्य की स्थापना का साहित्य में और समाज में इससे बढ़कर कोई दूसरा उदाहरण खोज पाना असंभव की हद तक कठिन होगा।

भारतेंदु युग को हिंदी उपन्यासों की शुरुआत का युग भी माना जाता है। हिंदी के प्रारंभिक उपन्यासों में भारतेंदु मंडल के लेखक ठाकुर जगन्मोहन सिंह के उपन्यास श्यामा स्वप्न का उल्लेख करना प्रासंगिक और समीचीन होगा। "जिस नवोदित उत्तर भारतीय मध्य वर्ग की आशा-आकांक्षाओं और जीवन मूल्यों के बहुविध तनावों की दृष्टि से हिंदी उपन्यास का उदय हुआ, श्यामा स्वप्न उस प्रक्रिया को स्थगित और निलंबित करने वाला उपन्यास है।" संभवतः इसी कारण श्यामा स्वप्न की तीव्र-तीक्ष्ण आलोचना उस युग में हुई और यह क्रम वर्तमान में भी जारी है। तत्कालीन समाज में प्रचलित मूल्यों से अलग हटने पर साहित्य को भी आलोचना का शिकार बनना पड़ता है। इससे अलग हिंदी के पहले उपन्यासकार की प्रतिष्ठा प्राप्त लाला श्रीनिवास दास के उपन्यास परीक्षा गुरु में तत्कालीन समय और समाज की स्थितियों का, बदलते मानव-मूल्यों का सटीक प्रस्तुतीकरण हुआ है। लाला श्रीनिवास दास परीक्षा गुरु की भूमिका में इसका खुलासा कर देते हैं-"इस पुस्तक के रचनेमैं मुझको महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्ताँ वगैरे फारसी, स्पेक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कूपर आदिके पुराने लेखों और स्त्रीबोध आदिके बर्तमान रिसालौं से बड़ी सहायता मिली है। इसलिए इन सबका मैं बहुत उपकार माना हूँ..."

कमोबेश ऐसे ही तथ्य तत्कालीन निबंध साहित्य और नवोदित कहानी विधा के साथ जुड़े हैं। पुनर्जागरण के प्रभाव के फलस्वरूप समाज में प्रतिष्ठित होते जा रहे उदात्त मानवीय मूल्य भारतेंदु युगीन साहित्य में प्रतिष्ठित होकर समाज को एक नई दिशा और नवीन वैचारिक शक्ति प्रदान करने का कार्य कर रहे थे। अर्बन द्वारा बताए गए शारीरिक और आर्थिक मूल्यों की, अर्थात् साहित्य सृजन के माध्यम से जीविका चलाने और साहित्य को अर्थार्जन का माध्यम बनाने की प्रवृत्ति तत्कालीन साहित्याकारों में नहीं थी।

तर्कबुद्धिवादी दार्शनिक नीत्शे ने मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन की बात कही है। "उसने समस्त मूल्यों के मूल्यांकन पर बल दिया है। उनमें यदि प्राचीन मूल्य शक्ति उपार्जन की कसौटी पर खरे उतरें तो उन्हें वर्तमान समय के लिए भी मूल्यवान माना जा सकता है। यह मानव मूल्यों का परीक्षण है।" भारतेंदु युगीन साहित्य में नीत्से की इस अवधारणा को भी देखा जा सकता है, जो पूर्ववर्ती साहित्यिक युगों से भारतेंदु युग में आई है।

समग्रत:, हिंदी का भारतेंदु युगीन साहित्य उत्कृष्टतम मानवीय मूल्यों की स्थापना के मानदण्ड पर खरा उतरता है। अपनी पूर्ववर्ती युगीन प्रवृत्तियों को त्यागकर, समय और समाज की आवश्यकता के अनुरूप सार्थक मूल्यों को आत्मसात कर भारतेंदु युगीन साहित्य ने ज्ञान के प्रति मानवीय आग्रह को न केवल तृप्त किया है, वरन् इसी आधार पर हिंदी के आधुनिक युग की आधारशिला रखकर हिंदी साहित्य को नई दिशा देने का सार्थक प्रयास भी किया है।

भारतेन्दु मण्डल

भारतेन्दु हरिश्चंद्र के जीवनकाल में ही कवियों और लेखकों का एक खासा मंडल चारों ओर तैयार हो गया था। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इसे भारतेन्दु मंडल के नाम से जाना जाता है। इन सभी ने भारतेंदु हरिश्चंद्र के नेतृत्व में हिन्दी गद्य की सभी विधाओं में अपना योगदान दिया। ये लोग भारतेन्दु की मृत्यु के बाद भी लम्बे समय तक साहित्य साधना करते रहे।

प्रतापनारायण मिश्र

प्रतापनारायण मिश्र मण्डल,, के प्रमुख लेखक, कवि और पत्रकार थे। वह भारतेंदु निर्मित एवं प्रेरित हिंदी लेखकों की सेना के महारथी, उनके आदर्शों के अनुगामी और आधुनिक हिंदी भाषा तथा साहित्य के निर्माणक्रम में उनके सहयोगी थे। भारतेंदु पर उनकी अनन्य श्रद्धा थी, वह अपने आप को उनका शिष्य कहते तथा देवता की भाँति उनका स्मरण करते थे। भारतेंदु जैसी रचनाशैली, विषयवस्तु और भाषागत विशेषताओं के कारण मिश्र जी 'प्रति-भारतेंदु' और 'द्वितीय हरिश्चंद्र' कहे जाने लगे थे।

जीवनी

मिश्र जी उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के अंतर्गत बैजे गाँव निवासी, कात्यायन गोत्रीय, कान्यकुब्ज ब्राह्मण पं. संकठा प्रसाद मिश्र के पुत्र थे। बड़े होने पर वह पिता के साथ कानपुर में रहने लगे और अक्षरारंभ के पश्चात उनसे ही ज्योतिष पढ़ने लगे। किंतु उधर रुचि न होने से पिता ने उन्हें अंग्रेजी स्कूल में भरती करा दिया। तब से कई स्कूलों का चक्कर लगाने पर भी वह पिता की लालसा के विपरीत पढ़ाई-लिखाई से विरत ही रहे और पिता की मृत्यु के पश्चात् 18-19 वर्ष की अवस्था में उन्होंने स्कूली शिक्षा से अपना पिंड छुड़ा लिया।

इस प्रकार मिश्रजी की शिक्षा अधूरी ही रह गई। किंतु उन्होंने प्रतिभा और स्वाध्याय के बल से अपनी योग्यता पर्याप्त बढ़ा ली थी। वह हिंदी, उर्दू और बँगला तो अच्छी जानते ही थे, फारसी, अँगरेजी और संस्कृत में भी उनकी अच्छी गति थी। मिश्र जी छात्रवस्था से ही 'कविवचनसुधा' के गद्य-पद्य-मय लेखों का नियमित पाठ करते थे, जिससे हिंदी के प्रति उनका अनुराग उत्पन्न हुआ। लावनी गायकों की टोली में आशु रचना करने तथा ललितजी की रामलीला में अभिनय करते हुए उनसे काव्यरचना की शिक्षा ग्रहण करने से वह स्वयं मौलिक रचना का अभ्यास करने लगे। इसी बीच वह भारतेंदु के संपर्क में आए। उनका आशीर्वाद तथा प्रोत्साहन पाकर वह हिंदी गद्य तथा पद्य रचना करने लगे। 1882 के आसपास 'प्रेमपुष्पावली' प्रकाशित हुई और भारतेंदु जी ने उसकी प्रशंसा की तो उनका उत्साह बहुत बढ़ गया।

15 मार्च 1883 को, होली के दिन, अपने कई मित्रों के सहयोग से मिश्रजी ने 'ब्राह्मण' नामक मासिक पत्र निकाला। यह अपने रूप-रंग में ही नहीं, विषय और भाषाशैली की दृष्टि से भी भारतेंदु युग का विलक्षण पत्र था। सजीवता, सादगी, बाँकपन और फक्कड़पन के कारण भारतेंदुकालीन साहित्यकारों में जो स्थान मिश्रजी का था, वही तत्कालीन हिंदी पत्रकारिता में इस पत्र का था, किंतु यह कभी नियत समय पर नहीं निकलता था। दो-तीन बार तो इसके बंद होने तक की नौबत आ गई थी। इसका कारण मिश्रजी का व्याधिमंदिर शरीर और अर्थाभाव था। रामदीन सिंह आदि की सहायता से यह येनकेन प्रकारेण संपादक के जीवनकाल तक निकलता रहा। उनकी मृत्यु के बाद भी रामदीन सिंह के संपादकत्व में कई वर्षों तक निकला, परंतु पहले जैसा आकर्षण उसमें न रह।

1889 में मिश्र जी 25 रू. मासिक पर 'हिंदोस्थान' के सहायक संपादक होकर कालाकाँकर आए। उन दिनों पं. मदनमोहन मालवीय उसके संपादक थे। यहाँ बालमुकुंद गुप्त ने मिश्रजी से हिंदी सीखी। मालवीय जी के हटने पर मिश्रजी अपनी स्वच्छंद प्रवृत्ति के कारण वहाँ न टिक सके। कालाकाँकर से लौटने के बाद वह प्राय: रुग्ण रहने लगे। फिर भी समाजिक, राजनीतिक, धार्मिक कार्यो में पूर्ववत रुचि लेते रहे और 'ब्राह्मण' के लिए लेख आदि प्रस्तुत करते रहे। 1891 में उन्होंने कानपुर में 'रसिक समाज' की स्थापना की। कांग्रेस के कार्यक्रमों के अतिरिक्त भारतधर्ममंडल, धर्मसभा, गोरक्षिणी सभा और अन्य सभा-समितियों के सक्रिय कार्यकर्ता और सहायक बने रहे। कानपुर की कई नाट्य सभाओं और गोरक्षिणी समितियों की स्थापना उन्हीं के प्रयत्नों से हुई थी।

मिश्रजी जितने परिहासप्रिय और जिंदादिल व्यक्ति थे उतने ही अनियमित, अनियंत्रित, लापरवाह और काहिल थे। रोग के कारण उनका शरीर युवावस्था में ही जर्जर हो गया था। तो भी स्वास्थ्यरक्षा के नियमों का वह सदा उल्लंघन करते रहे। इससे उनका स्वास्थ्य दिनों-दिन गिरता गया। 1892 के अंत में वह गंभीर रूप से बीमार पड़े और लगातार डेढ़ वर्षो तक बीमार ही रहे। अंत में 38 वर्ष की आयु में 6 जुलाई 1894 को दस बजे रात में भारतेंदु मंडल के इस नक्षत्र का अवसान हो गया।

रचनाएँ

प्रतापनारायण मिश्र भारतेंदु के विचारों और आदर्शों के महान् प्रचारक और व्याख्याता थे। वह प्रेम को परमधर्म मानते थे। हिंदी, हिंदू, हिदुस्तान उनका प्रसिद्ध नारा था। समाजसुधार को दृष्टि में रखकर उन्होंने सैकड़ों लेख लिखे हैं। बालकृष्ण भट्ट की तरह वह आधुनिक हिंदी निबंधों को परंपरा को पुष्ट कर हिंदी साहित्य के सभी अंगों की पूर्णता के लिये रचनारत रहे। एक सफल व्यंग्यकार और हास्यपूर्ण गद्य-पद्य-रचनाकार के रूप में हिंदी साहित्य में उनका विशिष्ट स्थान है। मिश्र जी की मुख्य कृतियाँ निम्नांकित हैं–

(क) नाटक: गो संकट, भारत दुर्दशा, कलिकौतुक, कलिप्रभाव, हठी हम्मीर। जुआरी-खुआरी (प्रहसन)। संगीत शाकुंतल (कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुंतम्' का अनुवाद)।

(ख) निबंध संग्रह निबंध नवनीत, प्रताप पीयूष, प्रताप समीक्षा

(ग) अनूदित गद्य कृतियाँ: राजसिंह, अमरसिंह, इन्दिरा, राधारानी, युगलांगुरीय, चरिताष्टक, पंचामृत, नीतिरत्नमाला,बात

(घ) कविता–प्रेम पुष्पावली, मन की लहर, ब्रैडला स्वागत, दंगल खंड, तृप्यन्ताम्, लोकोक्तिशतक, दीवो बरहमन (उर्दू)।

वर्ण्य-विषय

मिश्रजी के निबंधों में विषय की पर्याप्त विविधता है। देव-प्रेम, समाज-सुधार एवं साधारण मनोरंजन आदि मिश्रजी के निबंधों के मुख्य विषय थे। उन्होंने 'ब्राह्मण' मासिक पत्र में हर प्रकार के विषय पर निबंध लिखे। जैसे–घूरे के लत्ता बीने-कनातन के डोल बांधे, समझदार की मौत है,आप, बात, मनोयोग, बृद्ध, भौं, मुच्छ, ह, ट, द आदि।

मिश्रजी 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' के कट्टर समर्थक थे, अतः उनकी रचनाओं में इनके प्रति विशेष मोह प्रकट हुआ है।

भाषा

खड़ीबोली के रूप में प्रचलित जनभाषा का प्रयोग मिश्रजी ने अपने साहित्य में किया। प्रचलित मुहावरों, कहावतों तथा विदेशी शब्दों का प्रयोग इनकी रचनाओं में हुआ है। भाषा की दृष्टि से मिश्रजी ने भारतेंदु का अनुसरण किया और जन साधारण की भाषा को अपनाया। भारतेंदुजी के समान ही मिश्रजी भाषा की कृतिमता से दूर रहे। उनकी भाषा स्वाभाविक है। उसमें पंडिताऊपन और पूर्वीपन अधिक है तथा ग्रामीण शब्दों का प्रयोग स्वच्छंदता पूर्वक हुआ है। संस्कृत, अरबी, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी, आदि के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग है। भाषा विषय के अनुकूल है। गंभीर विषयों पर लिखते समय भाषा और गंभीर हो गई है। कहावतों और मुहावरों के प्रयोग में मिश्रजी बड़े कुशल थे। मुहावरों का जितना सुंदर प्रयोग उन्होंने किया है, वैसा बहुत कम लेखकों ने किया है। कहीं-कहीं तो उन्होंने मुहावरों की झड़ी-सी लगा दी है।

शैली

विचारात्मक शैली—साहित्यिक और विचारात्मक निबंधों में मिश्रजी ने इस शैली को अपनाया है। कहीं-कहीं इस शैली में हास्य और व्यंग्य का पुट भी मिलता है। इस शैली की भाषा संयत और गंभीर है। 'मनोयोग' शीर्षक निबंध का एक अंश देखिए-इसी से लोगों ने कहा है कि मन शरीर रूपी नगर का राजा है। और स्वभाव उसका चंचल है। यदि स्वच्छ रहे तो बहुधा कुत्सित ही मार्ग में धावमान रहता है।

व्यंग्यात्मक शैली—इस शैली में मिश्रजी ने अपने हास्य-व्यंग्यपूर्ण निबंध लिखे हैं। यह शैली मिश्रजी की प्रतिनिधि शैली है, जो सर्वथा उनके अनुकूल है। वे हास्य-विनोद प्रिय व्यक्ति थे। अतः प्रत्येक विषय का प्रतिपादन हास्य और विनोदपूर्ण ढंग से करते थे। हास्य और विनोद के साथ-साथ इस शैली में व्यंग्य के दर्शन होते हैं। विषय के अनुसार व्यंग्य कहीं-कहीं बड़ा तीखा और मार्मिक हो गया है। इस शैली में भाषा सरल, सरस और प्रवाहमयी है। उसमें उर्दू, फारसी, अंग्रेजी और ग्रामीण शब्दों का प्रयोग हुआ है। लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग के कारण यह शैली अधिक प्रभावपूर्ण हो गई है। एक उदाहरण देखिए-दो-एक

बार धोखा खाके धोखेबाजों की हिकमत सीख लो और कुछ अपनी ओर से झपकी-फुंदनी जोड़ कर उसी की जूती उसी का सर कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली वरंच 'गुरु गुड़ ही रहा और चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे।

समालोचना

मिश्रजी भारतेंदु मंडल के प्रमुख लेखकों में से एक हैं। उन्होंने हिंदी साहित्य की विविध रूपों में सेवा की। वे कवि होने के साथ-साथ उच्चकोटि के मौलिक निबंध लेखक और नाटककार थे। हिंदी गद्य के विकास में मिश्रजी का बड़ा योगदान रहा है। आचार्य शुक्ल जी ने पं. बालकृष्ण भट्ट के साथ मिश्रजी को भी महत्त्व देते हुए अपने हिंदी-साहित्य के इतिहास में लिखा है—पं0 प्रतापनारायण मिश्र और पं0 बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी गद्य साहित्य में वही काम किया जो अंग्रेजी गद्य साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया।

पंडित बालकृष्ण भट्ट

पंडित बालकृष्ण भट्ट (23 जून 1844–20 जुलाई 1914) हिन्दी के सफल पत्रकार, उपन्यासकार, नाटककार और निबंधकार थे। उन्हें आज की गद्य प्रधान कविता का जनक माना जा सकता है। हिन्दी गद्य साहित्य के निर्माताओं में उनका प्रमुख स्थान है।

जीवन परिचय

पंडित बालकृष्ण भट्ट के पिता का नाम पं. वेणी प्रसाद था। स्कूल में दसवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद भट्ट जी ने घर पर ही संस्कृत का अध्ययन किया। संस्कृत के अतिरिक्त उन्हें हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, फारसी भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान हो गया। भट्ट जी स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति थे। उन्होंने व्यापार का कार्य किया तथा वे कुछ समय तक कायस्थ पाठशाला प्रयाग में संस्कृत के अध्यापक भी रहे किन्तु उनका मन किसी में नहीं रमा। भारतेंदु जी से प्रभावित होकर उन्होंने हिंदी-साहित्य सेवा का व्रत ले लिया। भट्ट जी ने हिन्दी प्रदीप नामक मासिक पत्र निकाला। इस पत्र के वे स्वयं संपादक थे। उन्होंने इस पत्र के द्वारा निरंतर 32 वर्ष तक हिंदी की सेवा की। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा

आयोजित हिंदी शब्दसागर के संपादन में भी उन्होंने बाबू श्याम सुंदर दास तथा शुक्ल जी के साथ कार्य किया।

उनका जन्म प्रयाग के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। भट्ट जी की माता अपने पति की अपेक्षा अधिक पढ़ी-लिखी और विदुषी थीं। उनका प्रभाव बालकृष्ण भट्ट जी पर अधिक पड़ा। भट्ट जी मिशन स्कूल में पढ़ते थे। वहाँ के प्रधानाचार्य एक ईसाई पादरी थे। उनसे वाद-विवाद हो जाने के कारण इन्होंने मिशन स्कूल जाना बंद कर दिया। इस प्रकार वह घर पर रह कर ही संस्कृत का अध्ययन करने लगे। वे अपने सिद्धान्तों एवं जीवन-मूल्यों के इतने दृढ़ प्रतिपादक थे कि कालान्तर में इन्हें अपनी धार्मिक मान्यताओं के कारण मिशन स्कूल तथा कायस्थ पाठशाला के संस्कृत अध्यापक के पद से त्याग-पत्र देना पड़ा था। जीविकोपार्जन के लिए उन्होंने कुछ समय तक व्यापार भी किया परन्तु उसमें इनकी अधिक रुचि न होने के कारण सफलता नहीं मिल सकी। आपकी अभिरुचि आरंभ से ही साहित्य सेवा में थी। अत: सेवा-वृत्ति को तिलांजलि देकर वे यावज्जीवन हिन्दी साहित्य की सेवा ही करते रहे।

कार्यक्षेत्र

भट्ट जी एक अच्छे और सफल पत्रकार भी थे। हिन्दी प्रचार के लिए उन्होंने संवत् 1933 में प्रयाग में हिन्दीवर्द्धिनी नामक सभा की स्थापना की। उसकी ओर से एक हिन्दी मासिक पत्र का प्रकाशन भी किया, जिसका नाम था 'हिन्दी प्रदीप'। वह बत्तीस वर्ष तक इसके संपादक रहे और इसे नियमित रूप से भली-भाँति चलाते रहे। हिन्दी प्रदीप के अतिरिक्त बालकृष्ण भट्ट जी ने दो-तीन अन्य पत्रिकाओं का संपादन भी किया। भट्ट जी भारतेन्दु युग के प्रतिष्ठित निबंधकार थे। अपने निबंधों द्वारा हिन्दी की सेवा करने के लिए उनका नाम सदैव अग्रगण्य रहेगा। उनके निबन्ध अधिकतर हिन्दी प्रदीप में प्रकाशित होते थे। उनके निबंध सदा मौलिक और भावना पूर्ण होते थे। वह इतने व्यस्त रहते थे कि उन्हें पुस्तकें लिखने के लिए अवकाश ही नहीं मिलता था। अत्यन्त व्यस्त समय होते हुए भी उन्होंने 'सौ अजान एक सुजान', 'रेल का विकट खेल', 'नूतन ब्रह्मचारी', 'बाल विवाह' तथा 'भाग्य की परख' आदि छोटी-मोटी दस-बारह पुस्तकें लिखीं। वैसे आपने निबंधों के अतिरिक्त कुछ नाटक, कहानियाँ और उपन्यास भी लिखे हैं।

प्रमुख कृतियाँ

भट्ट जी ने हिन्दी साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में लिखा। उन्हें मूलरूप से निबन्ध लेखक के रूप में जाना जाता है, लेकिन उन्होंने उपन्यास और नाटक भी लिखे।

निबन्ध संग्रह–साहित्य सुमन और भट्ट निबन्धावली।आत्मनिर्भरता (1893)

उपन्यास–नूतन ब्रह्मचारी, सौ अजान एक सुजान, रहस्यकथा

मौलिक नाटक–दमयन्ती स्वयंवर, बाल-विवाह, चन्द्रसेन, रेल का विकट खेल, आदि।

अनुवाद–भट्ट जी ने बंगला तथा संस्कृत के नाटकों के अनुवाद भी किए जिनमें वेणीसंहार, मृच्छकटिक, पद्मावती आदि प्रमुख हैं।

भाषा

भाषा की दृष्टि से अपने समय के लेखकों में भट्ट जी का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने अपनी रचनाओं में यथाशक्ति शुद्ध हिंदी का प्रयोग किया। भावों के अनुकूल शब्दों का चुनाव करने में भट्ट जी बड़े कुशल थे। कहावतों और मुहावरों का प्रयोग भी उन्होंने सुंदर ढंग से किया है। भट्ट जी की भाषा में जहाँ तहाँ पूर्वीपन की झलक मिलती है। जैसे–समझा-बुझा के स्थान पर समझाय-बुझाय लिखा गया है। बालकृष्ण भट्ट की भाषा को दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि की भाषा तत्सम शब्दों से युक्त है। द्वितीय कोटि में आने वाली भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ-साथ तत्कालीन उर्दू, अरबी, फारसी तथा ऑग्ल भाषीय शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। वह हिन्दी की परिधि का विस्तार करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने भाषा को विषय एवं प्रसंग के अनुसार प्रचलित हिन्दीतर शब्दों से भी समन्वित किया है। आपकी भाषा जीवंत तथा चित्ताकर्षक है। इसमें यत्र-तत्र पूर्वी बोली के प्रयोगों के साथ-साथ मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है, जिससे भाषा अत्यन्त रोचक और प्रवाहमयी बन गई है।

वर्ण्य विषय

भट्ट जी ने जहाँ आँख, कान, नाक, बातचीत जैसे साधारण विषयों पर लेख लिखे हैं, वहाँ आत्मनिर्भरता, चारु चरित्र जैसे गंभीर विषयों पर भी लेखनी चलाई है। साहित्यिक और सामाजिक विषय भी भट्ट जी से अछूते नहीं बचे। 'चंद्रोदय' उनके साहित्यिक निबंधों में से है। समाज की कुरीतियों को दूर करने

के लिए उन्होंने सामाजिक निबंधों की रचना की। भट्ट जी के निबंधों में सुरुचि-संपन्नता, कल्पना, बहुवर्णन शीलता के साथ-साथ हास्य व्यंग्य के भी दर्शन होते हैं।

शैली

भट्ट जी की लेखन–शैली को भी दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि की शैली को परिचयात्मक शैली कहा जा सकता है। इस शैली में उन्होंने कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। द्वितीय कोटि में आने वाली शैली गूढ़ और गंभीर है। इस शैली में भट्ट जी को अधिक नैपुण्य प्राप्त है। आपने 'आत्म-निर्भरता' तथा 'कल्पना' जैसे गम्भीर विषयों के अतिरिक्त, 'आँख', 'नाक', तथा 'कान', आदि अति सामान्य विषयों पर भी सुन्दर निबंध लिखे हैं। आपके निबंधों में विचारों की गहनता, विषय की विस्तृत विवेचना, गम्भीर चिन्तन के साथ एक अनूठापन भी है। यत्र-तत्र व्यंग्य एवं विनोद उनकी शैली को मनोरंजक बना देता है। उन्होंने हास्य आधारित लेख भी लिखे हैं, जो अत्यन्त शिक्षादायक हैं। भट्ट जी का गद्य गद्य न होकर गद्य काव्य सा प्रतीत होता है। वस्तुतः आधुनिक कविता में पद्यात्मक शैली में गद्य लिखने की परंपरा का सूत्रपात श्री बालकृष्ण भट्ट जी ने ही किया था। उन्हें

1. वर्णनात्मक शैली–वर्णनात्मक शैली में भट्ट जी ने व्यावहारिक तथा सामाजिक विषयों पर निबंध लिखे हैं। जन साधारण के लिए भट्ट जी ने इसी शैली को अपनाया। उनके उपन्यास की शैली भी यही है, किंतु इसे उनकी प्रतिनिधि शैली नहीं कहा जा सकता।

इस शैली की भाषा सरल और मुहावरेदार है। वाक्य कहीं छोटे और कहीं बड़े हैं।

2. विचारात्मक शैली–भट्ट जी द्वारा गंभीर विषयों पर लिखे गए निबंध इसी शैली के अंतर्गत आते हैं। तर्क और विश्वास, ज्ञान और भक्ति, संभाषण आदि निबंध विचारात्मक शैली के उदाहरण हैं।

इस शैली की भाषा में संस्कृत के शब्दों की अधिकता है।

3. भावात्मक शैली–इस शैली का प्रयोग भट्ट जी ने साहित्यिक निबंधों में किया है। इसे भट्ट जी की प्रतिनिधि शैली कहा जा सकता है।

इस शैली में शुद्ध हिंदी का प्रयोग हुआ है। भाषा प्रवाहमयी, संयत और भावानुकूल है। इस शैली में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग भी

हुआ है। अलंकारों के प्रयोग से भाषा में विशेष सौंदर्य आ गया है। भावों और विचार के साथ कल्पना का भी सुंदर समन्वय हुआ। इसमें गद्य काव्य जैसा आनंद होता है। चंद्रोदय निबंध का एक अंश देखिए–यह गोल-गोल प्रकाश का पिंड देख भाँति-भाँति की कल्पनाएँ मन में उदय होती है कि क्या यह निशा अभिसारिका के मुख देखने की आरसी है या उसके कान का कुंडल अथवा फूल है यह रजनी रमणी के ललाट पर दुक्के का सफेद तिलक है।

4. व्यंग्यात्मक शैली–इस शैली में हास्य और व्यंग्य की प्रधानता है। विषय के अनुसार कहीं व्यंग्य अत्यंत मार्मिक और तीखा हो गया है।

इस शैली की भाषा में उर्दू शब्दों की अधिकता है और वाक्य छोटे-छोटे हैं।

साहित्य सेवा और स्थान

भारतेंदु काल के निबंध-लेखकों में भट्ट जी का सर्वोच्च स्थान है। उन्होंने पत्र, नाटक, काव्य, निबंध, लेखक, उपन्यासकार अनुवादक विभिन्न रूपों में हिंदी की सेवा की और उसे धनी बनाया।

साहित्य की दृष्टि से भट्ट जी के निबंध अत्यंत उच्चकोटि के हैं। इस दिशा में उनकी तुलना अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबंधकार चार्ल्स लैंब से की जा सकती है। गद्य काव्य की रचना भी सर्वप्रथम भट्ट जी ने ही प्रारंभ की। इनसे पूर्वक हिंदी में गद्य काव्य का नितांत अभाव था।

बदरीनारायण चौधरी उपाध्याय 'प्रेमधन'

बदरीनारायण चौधरी उपाध्याय 'प्रेमधन' हिन्दी साहित्यकार थे। वे भारतेन्दु मण्डल के उज्वलतम नक्षत्र थे।

'प्रेमधन' जी पं. गुरुचरणलाल उपाध्याय के पुत्र थे। गुरुचरणलाल उपाध्याय, कर्मनिष्ठ तथा विद्यानुरागी ब्राह्मण थे। संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार में आपने तन-मन-धन से योगदान किया। इस तपस्वी एवं विद्याप्रेमी ब्राह्मण के उपाध्याय जी ज्येष्ठ पुत्र थे। आप सरयूपारीण ब्राह्मण कुलोद्भूत भारद्वाज गोत्रीय खोरिया उपाध्याय थे। आपका जन्म भाद्र कृष्ण षष्ठी, संवत् 1912 तदनुसार 1 सितम्बर 1855 ई0 को दत्तापुर, आजमगढ़ में हुआ था। इनकी माता ने मीरजापुर में हिंदी अक्षरों का ज्ञान कराया। फारसी की शिक्षा का आरम्भ भी घर पर करा दिया गया। अंग्रेजी शिक्षा के लिए आप गोंडा (अवध) भेजे गए। यहाँ आपका

संपर्क अयोध्यानरेश महाराज सर प्रतापनारायण सिंह (ददुआ साहेब), महाराज उदयनारायण सिंह, लाला त्रिलोकी नाथ प्रभृत ताल्लुकेदारों से हुआ। इस संसर्गज गुण से आपको मृगया, गजसंचालन, निशानेबाजी, घोड़ासवारी आदि ताल्लुकदारी शौकों में रुचि हुई। उच्च शिक्षा पाने के लिए संवत् 1924 में फैजाबाद चले आए। पैत्रिक व्यवसाय और रियासत के प्रबंध के लिए मीरजापुर आ जाना पड़ा।

चौधरी गुरुचरणलाल विद्याव्यसनी थे। उन्होंने अंग्रेजी, हिंदी और फारसी के साथ ही साथ संस्कृत की शिक्षा की व्यवस्था की तथा पं. रामानन्द पाठक को अभिभावक शिक्षक नियुक्त किया। पाठक जी काव्यमर्मी एवं रसज्ञ थे। इनके साहचर्य से कविता में रुचि हुई। इन्हीं के उत्साह और प्रेरणा से पद्यरचना करने लगे। संपन्नता और यौवन के संधिकाल में आपका झुकाव संगीत की ओर हुआ और ताल, लय, राग, रागिनी का आपको परिज्ञान हो गया विशेषतः इसलिए कि वे रसिक व्यक्ति थे और रागरंग में अपने को लिप्त कर सके थे। संवत् 1928 में कलकत्ते से अस्वस्थ होकर आए और लंबी बीमारी में फँस गए। इसी बीमारी के दौरान में आपकी पं. इन्द्र नारायण सांगलू से मैत्री हुई। सांगलू जी शायरी करते थे और अपने मित्रों को शायरी करने के लिए प्रेरित भी करते। इस संगत से नज्मों और गजलों की ओर रुचि हुई। उर्दू फारसी का आपको गहरा ज्ञान था ही। अस्तु, इन रचनाओं के लिए 'अब्र' (तखल्लुस) उपनाम रखकर गजल, नज्म और शेरों की रचना करने लगे। सांगलू के माध्यम से आपकी भारतेन्दु बाबू, हरिश्चन्द्र से मैत्री का सूत्रपात हुआ। धीरे-धीरे यह मैत्री इतनी प्रगाढ़ हुई कि भारतेन्दु जी के रंग में प्रेमघन जी पूर्णतया पग गए, यहाँ तक कि रचनाशक्ति, जीवनपद्धति और वेशभूषा से भी भारतेन्दु जीवन अपना लिया।

वि. सं. 1930 में प्रेमधन जी ने 'सद्धर्म सभा' तथा 1931 वि. सं. 'रसिक समाज' की मीरजापुर में स्थापना की। संवत् 1933 वि. में 'कवि-वचन-सुधा' प्रकाशित हुई जिसमें इनकी कृतियों का प्रकाशन होता। उसका स्मरण चौधरी जी की मीरजापुर की कोठी का धूलिधूसरित नृत्यकक्ष आज भी कराता है। अपने प्रकाशनों की सुविधा के लिए इसी कोठी में आनंदकादंबिनी मुद्रणालय खोला गया। संवत् 1938 में 'आनंदकादंबिनी' नामक मासिक पत्रिका की प्रथम माला प्रकाशित हुई। संवत् 1949 में नागरी नीरद नामक साप्ताहिक का संपादन और प्रकाशन आरंभ किया। प्रेमधन जी के साथ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का पारिवारिक-सा सम्बन्ध था। शुक्ल जी शहर के रमईपट्टी मुहल्ले में रहते थे और लंडन मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर थे। आनन्द कादंबिनी प्रेस में छपाई भी देख

लेते थे। चौधरी बंधुओं की सत्प्रेरणा और साहचर्य से अयोध्यानरेश ने युगप्रसिद्ध छन्दशास्त्र और रसग्रन्थ रसकुसुमाकर की रचना करवाई। रसकुसमाकर की व्याख्याशैली, संकलन, भाव, भाषा, चित्र चित्रण में आज तक इस बेजोड़ ग्रंथ को चुनौती देने में कोई रचना समर्थ नहीं हो सकी है यद्यपि यह ग्रंथ निजी व्यय पर निजी प्रसारण के लिए मुद्रित हुआ था। भारतेंदु जी की आयु 34 वर्ष की थी। मित्र प्रेमधन जी ने इससे पूरी दूनी आयु पाई यानी 68 वर्ष की अवस्था में फाल्गुन शुक्ल 14, संवत् 1978 को आपकी इहलीला समाप्त हो गई।

प्रेमधन जी आधुनिक हिंदी के आविर्भाव काल में उत्पन्न हुए थे। उनके अनेक सममायिक थे, जिन्होंने हिंदी को हिंदी का रूप देने में संपूर्ण योगदान किया। इनमें प्रमुख प्रतापनारायण मिश्र, पण्डित अम्बिकादत्त व्यास, पं. सुधाकर द्विवेदी, पं. गोविन्दनारायण मिश्र, पं. बालकृष्ण भट्ट, ठाकुर जगमोहन सिंह, बाबू राधाकृष्णदास, पं. किशोरीलाल गोस्वामी तथा रामकृष्ण वर्मा प्रभृत साहित्यिक थे।

कृतित्त्व

प्रेमघन की रचनाओं का क्रमशः तीन खंडों में विभाजन किया जाता है–1. प्रबंध काव्य 2. संगीत काव्य 3. स्फुट निबंध। वे कवि ही नहीं उच्च कोटि के गद्यलेखक और नाटककार भी थे। गद्य में निबंध, आलोचना, नाटक, प्रहसन, लिखकर अपनी साहित्यिक प्रतिभा का बड़ी पटुता से निर्वाह किया है। आपकी गद्य रचनाओं में हास परिहास का पुटपाक होता था। कथोपकथन शैली का आपके 'दिल्ली दरबर में मित्रमंडली के यार में देहलवी उर्दू का फारसी शब्दों से संयुक्त चुस्त मुहावरेदार भाषा का अच्छा नमूना है। गद्य में खड़ी बोली के शब्दों का प्रयोग (संसृत के तत्सम तथा तद्भव शब्द) आलंकारिक योजना के साथ प्रयुक्त हुआ। प्रेमघन की गद्यशैली की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि खड़ी बोली गद्य के वे प्रथम आचार्य थे। समालोच्य पुस्तक के विषयों का अच्छी तरह विवेचन करके उसके विस्तृत निरूपण की चाल उन्होंने चलाई (रामचंद्र शुक्ल)।

उन्होंने कई नाटक लिखे हैं जिनमें 'भारत सौभाग्य' 1888 में कांग्रेस महाधिवेशन के अवसर पर खेले जाने के लिए लिखा गया था।

प्रेमघन का काव्यक्षेत्र विस्तृत था। वे ब्रजभाषा को कविता की भाषा मानते थ। प्रेमघन ने जिस प्रकार खड़ी बोली का परिमार्जन किया उनके काव्य से स्पष्ट है। 'बेसुरी तान' शीर्षक लेख में आपने भारतेंदु की आलोचना करने में भी चूक न की। प्रेमघन कृतियों का संकलन उनके पौत्र दिनेशनारायण उपाध्याय ने किया

है जिसका 'प्रेमघन सर्वस्व' नाम से हिंदी साहित्य सम्मेलन ने दो भागों में प्रकाशन किया है। प्रेमघन हिंदी साहित्य सम्मेलन के तृतीय कलकत्ता अधिवेशन के सभापति (सं. 1912) मनोनीत हुए थे।

कृतियाँ

(1) भारत सौभाग्य (2) प्रयाग रामागमन, संगीत सुधासरोवर, भारत भाग्योदय काव्य।

गद्य पद्य के अलावा आपने लोकगीतात्मक कजली, होली, चौता आदि की रचना भी की है, जो ठेठ भावप्रवण मीरजापुरी भाषा के अच्छे नमूने हैं और संभवतः आज तक बेजोड़ भी। कजली कादंबिनी में कजलियों का संग्रह है। प्रेमघन जी का स्मरण हिंदी साहित्य के प्रथम उत्थान का स्मरण है।

पत्रिका–सन् 1881 को मिर्जापुर से 'आनन्द कादम्बनी' इनके द्वारा ही संपादित की गई।

ठाकुर जगमोहन सिंह

ठाकुर जगमोहन सिंह (4 अगस्त 1857–) हिन्दी के भारतेन्दुयुगीन कवि, आलोचक और उपन्यासकार थे। उन्होंने सन् 1880 से 1882 तक धमतरी में और सन् 1882 से 1887 तक शिवरीनारायण में तहसीलदार और मजिस्ट्रेट के रूप में कार्य किया। छत्तीसगढ़ के बिखरे साहित्यकारों को जगमोहन मंडल बनाकर एक सूत्र में पिरोया और उन्हें लेखन की सही दिशा भी दी। जगन्मोहन मंडल काशी के भारतेन्दु मंडल की तर्ज में बनी एक साहित्यिक संस्था थी।

हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य की उन्हें अच्छी जानकारी थी। ठाकुर साहब मूलतः कवि ही थे। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा नई और पुरानी दोनों प्रकार की काव्यप्रवृत्तियों का पोषण किया।

जीवन परिचय

ठाकुर जगमोहन सिंह का जन्म विजयराघवगढ़ रियासत में ठाकुर सरयू सिंह के राज परिवार में में हुआ था। 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में ठा. सरयू सिंह ने बढ़ चढ़ कर हिस्सा लिया था। फलस्वरूप अंग्रेजों ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया और उन्हें काले पानी की सजा सुनाई गई। लेकिन अंग्रेजी हुकूमत में सजा

भोगने की बजाय ठा. सरयू सिंह ने मौत को गले लगना उचित समझा। जगमोहन सिंह ऐसे ही क्रांतिकारी, मेधावी एवं स्वप्न दृष्टा सुपुत्र थे।

अपनी शिक्षा के लिए काशी आने पर उनका परिचय भारतेंदु और उनकी मंडली से हुआ। बनारस के क्वींस कालेज में अध्ययन के दौरान वे भारतेंदु हरिश्चंद्र के सम्पर्क में आए तथा यह सम्पर्क प्रगाढ़ मैत्री में बदल गया जो की जीवन पर्यन्त बनी रही।

1878 में शिक्षा समाप्ति के बाद वे विजयराघवगढ़ आ गए। दो साल पश्चात् 1880 में धमतरी (छत्तीसगढ़) में तहसीलदार नियुक्त किये गए। बाद में तबादले पर शिवरीनारायण आये। कहा जाता है कि शिवरीनारायण में विवाहित होते हुए भी इन्हें 'श्यामा' नाम की स्त्री से प्रेम हो गया। शिवरीनारायण में रहते हुए इन्होने श्यामा को केंद्र में रख कर अनेक रचनाओं का सृजन किया जिनमे हिंदी का अत्यंत भौतिक एवं दुर्लभ उपन्यास श्याम-स्वप्न प्रमुख है।

कृतियाँ

उनके तीन काव्यसंग्रह प्रकाशित हैं–

(1) 'प्रेम-संपत्ति-लता' (सं. 1942 वि.),
(2) 'श्यामालता', और
(3) 'श्यामासरोजिनी' (सं. 1943)।

इसके अतिरिक्त इन्होंने कालिदास के 'मेघदूत' का बड़ा ही ललित अनुवाद भी ब्रजभाषा के कबित्त सवैयों में किया है। हिंदी निबंधों के प्रथम उत्थान काल के निबंधकारों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

शैली पर उनके व्यक्तित्त्व की अनूठी छाप है। वह बड़ी परिमार्जित, संस्कृतगर्भित, काव्यात्मक और प्रवाहपूर्ण होती हैं। कहीं-कहीं पंडिताऊ शैली के चिंत्य प्रयोग भी मिल जाते हैं। 'श्यामास्वप्न' उनकी प्रमुख गद्यकृति है, जिसका संपादन कर डॉ. श्रीकृष्णलाल ने नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित कराया है। इसमें गद्य-पद्य दोनों हैं, किंतु पद्य की संख्या गद्य की अपेक्षा बहुत कम है। इसे भावप्रधान उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है। आद्योपांत शैली वर्णानात्मक है। इसमें चरित्रचित्रण पर ध्यान न देकर प्रकृति और प्रेममय जीवन का ही चित्र अंकित किया गया है। कवि की शृंगारी रचनाओं की भावभूमि पर्याप्त सरस और हृदयस्पर्शी होती है। कवि में सौंदर्य और सुरम्य रूपों के प्रति अनुराग की व्यापक भावना थी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का इसीलिए कहना था कि 'प्राचीन संस्कृत

साहित्य' के अभ्यास और विंध्याटवी के रमणीय प्रदेश में निवास के कारण विविध भावमयी प्रकृति के रूपमाधुर्य की जैसी सच्ची परख जैसी सच्ची अनुभूति इनमें थी वैसी उस काल के किसी हिंदी कवि या लेखक में नहीं पाई जाती (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 474, पंचम संस्करण)। मानवीय सौंदर्य को प्राकृतिक सौंदर्य के संदर्भ में देखने का जो प्रयास ठाकुर साहब ने छायावादी युग के इतन दिनों पहले किया इससे उनकी रचनाएँ वास्तव में 'हिंदी काव्य में एक नूतन विधान' का आभास देती हैं। उनकी ब्रजभाषा काफी परिमार्जित और शैली काफी पुष्ट थी।

राधाचरण गोस्वामी

राधाचरण गोस्वामी (25 फरवरी 1859–12 दिसम्बर 1925) हिन्दी के भारतेन्दु मण्डल के साहित्यकार जिन्होने ब्रजभाषा-समर्थक कवि, निबन्धकार, नाटकरकार, पत्रकार, समाजसुधारक, देशप्रेमी आदि भूमिकाओं में भाषा, समाज और देश को अपना महत्त्वपूर्ण अवदान दिया। आपने अच्छे प्रहसन लिखे हैं।

जीवन परिचय

गोस्वामी जी के पिता गल्लू जी महाराज अर्थात् गुणमंजरी दास जी (1827 ई.–1890 ई.) एक भक्त कवि थे। उनमें किसी प्रकार की धार्मिक कट्टरता और रूढ़िवादिता नहीं थी, प्रगतिशीलता और सामाजिक क्रान्ति की प्रज्ज्वलित चिनगारियाँ थीं। उनमें राष्ट्रवादी राजनीति की प्रखर चेतना थी।

भारतवर्ष की तत्कालीन राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना की नब्ज पर उनकी उँगली थी और नवजागरण की मुख्यधारा में राधाचरण गोस्वामी जी सक्रिय एवं प्रमुख भूमिका थी। उन्होने 1883 ई. में पश्चिमोत्तर और अवध में आत्मशासन की माँग की थी। मासिक पत्र 'भारतेन्दु' (वैशाख शुक्ल 15 विक्रम संवत् 1940 तदनुसार 22 मई 1883 ई.) में उन्होंने 'पश्चिमोत्तर और अवध में आत्मशासन' शीर्षक से सम्पादकीय अग्रलेख लिखा था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बनारस, इलाहाबाद, पटना, कलकत्ता और वृन्दावन नवजागरण के पाँच प्रमुख केन्द्र थे। वृन्दावन केन्द्र के एकमात्र सार्वकालिक प्रतिनिधि राधाचरण गोस्वामी ही थे।

गोस्वामी जी देशवासियों की सहायता से देशभाषा हिन्दी की उन्नति करना चाहते थे। देशभाषा की उन्नति के लिए सामूहिक प्रयास की आवश्यकता है। यहाँ

यह उल्लेखनीय है कि 1882 ई. में देशभाषा की उन्नति के लिए अलीगढ़ में भाषावर्धिनी सभा को अपना सक्रिय समर्थन प्रदान करते हुए कहा था, 'यदि हमारे देशवासियों की सहायता मिले, तो इस सभा से भी हमारी देशभाषा की उन्नति होगी।'

गोस्वामी जी सामाजिक रूढ़ियों के उग्र किन्तु अहिंसक विरोधी थे। वे जो कहते थे, उस पर आचरण भी करते थे। अपने आचरण के द्वारा वे गलत सामाजिक परमपराओं का शान्तिपूर्ण विरोध करते थे।

पण्डित राधाचरण 1885 ई. में वृन्दावन नगरपालिका के सदस्य पहली बार निर्वाचित हुए थे। 10 मार्च, 1897 ई. को वे तीसरी बार नगरपालिका के सदस्य निर्वाचित हुए थे। नगरपालिका के माध्यम से वृन्दावन की कुंजगलियों में छः पक्की सड़कों का निर्माण उन्होंने कराया था।

पंजाब केसरी लाला लाजपत राय का आगमन दो बार वृन्दावन में हुआ था। दोनों बार गोस्वामी जी ने उनका शानदार स्वागत किया था। ब्रज माधव गौड़ीय सम्प्रदाय के श्रेष्ठ आचार्य होने के बावजूद उनकी बग्घी के घोड़ों के स्थान पर स्वयं उनकी बग्घी खींचकर उन्होंने भारत के राष्ट्रनेताओं के प्रति अपनी उदात्त भावना का सार्वजनिक परिचय दिया था।

तत्कालीन महान क्रान्तिकारियों में उनके प्रति आस्था और विश्वास था और उनसे उनके हार्दिक सम्बन्ध भी थे। उदाहरणार्थ, 22 नवम्बर 1911 ई. को महान क्रान्तिकारी रास बिहारी बोस और योगेश चक्रवर्ती उनसे मिलने उनके घर पर आए थे और उनका प्रेमपूर्ण स्वागत उन्होंने किया था। उक्त अवसर पर गोस्वामीजी की दोनों आँखें प्रेम के भावावेश के कारण अश्रुपूर्ण हो गई थीं।

गोस्वामी जी कांग्रेस के आजीवन सदस्य और प्रमुख कार्यकर्ता थे। 1888 ई. से 1894 तक वे मथुरा की कांग्रेस समिति के सचिव थे। उन्होंने अपनी आत्मकथा में स्वयं कहा है "देशोन्नति, नेशनल कांग्रेस, समाज संशोधन, स्त्री स्वतन्त्रता यह सब मेरी प्राणप्रिय वस्तुएँ हैं।"

गोस्वामी जी में प्रखर राजनीतिक चेतना थी। वे तत्कालीन प्रमुख राजनीतिक विषयों पर अपने समय की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अखिल भारतीय स्तर पर लेखादि लिखते रहते थे। उन्होंने 'सारसुधानिधि', विक्रम संवत् 1937, वैशाख 29 चन्द्रवार 10 मई 1880 (भाग 2 अंक 5) में प्राप्त 'स्तंभ' के अन्तर्गत 'काबुल का अचिन्त्य भाव' शीर्षक लेख लिखा था। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

उन्होंने विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर अपनी लेखनी चलाई और नाना प्रकार की तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों पर तेज प्रहार किए।

गोस्वामी जी के सतत प्रयत्न से मथुरा वृन्दावन रेल का संचालन हुआ।

गोस्वामी राधाचरण के पिता गल्लूजी महाराज का निधन 1890 ई. में हो गया था। उनके निधन का अनुचित लाभ उठाकर उनके ही सम्प्रदाय में एक अप्रिय विवाद उत्पन्न हो गया कि इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक चौतन्य महाप्रभु के जन्मदिन पर व्रत रखा जाए या नहीं और चौतन्य महाप्रभु का पूजन श्रीकृष्ण मन्त्र से किया जाए अथवा श्रीमहाप्रभु के ही मन्त्र से किया जाए। इस विवाद ने प्राय: दो वर्षों तक व्यापक रूप धारण कर लिया था। अन्त में गोस्वामी राधाचरण जी ने विभिन्न प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि महाप्रभु चौतन्य के व्रत और मन्त्र सर्वथा स्वतन्त्र हैं। इस गम्भीर विवाद पर विजय प्राप्त करने पर नवद्वीप और वृन्दावन के साम्प्रदायिक आचार्यों ने उन्हें 'विद्यावागीश' की उपाधि ससम्मान प्रदान की थी।

वृन्दावन के राधारमण मन्दिर में अढ़ाई वर्षों के अन्तराल में 17 दिनों की सेवा करने का अधिकार उन्हें प्राप्त था। अपने निधन के चार दिन पूर्व तक श्रीराधारमण जी की मंगला आरती प्रात: चार बजे वे स्वयं करते थे।

गोस्वामीजी के जीवन दर्शन का मूल संदेश धर्म, जाति, वर्ग और साहित्य की विविधता में एकता का समन्वय था। उन्हें संकीर्ण और कुंठित भावनाएँ स्पर्श नहीं करती थीं।

डाक और रेल के टिकटों में भी नागरी लिपि का प्रवेश होना चाहिए था, इसके लिये उन्होंने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे थे। कलकत्ता से प्रकाशित हिन्दी साप्ताहिक पत्र 'सारसुधानिधि', 12 सितम्बर 1881 ई. में उन्होंने कहा था-

रेल की टिकटों में नागरी नहीं लिखी जाती है जिससे नागरी का प्रचार नहीं हो पाता। क्या रेलवे अध्यक्षों को नागरी से शत्रुता है या हमारे देशवासी नागरी जानते ही नहीं।

इससे पूर्व उन्होंने 'सारसुधानिधि' 7 अगस्त 1881 ई. को यह सवाल उठाया था कि आर्य राजाओं ने अपनी रियासतों में फारसी सिक्का क्यों जारी रखा है? स्वजातीयाभिमान का प्रश्न था।

गोस्वामी जी सर्वधर्म समभाव के सिद्धान्त के प्रतीक थे। श्रीराधारमण जी के अनन्य उपासक और ब्राह्म माध्व गौड़ीय सम्प्रदाय के मुख्य आचार्य होने के

बावजूद उनमें किसी भी धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय के प्रति दुराव अथवा दुराग्रह नहीं था। अपने जीवन चरित के नौवें पृष्ठ पर उन्होंने स्वयं लिखा है-

''मैं एक कट्टर वैष्णव हिन्दू हूँ। अन्य धर्म अथवा समाज के लोगों से विरोध करना उचित नहीं समझता। बहुत से आर्यसमाजी, ब्रह्म समाजी, मुसलमान, ईसाई मेरे सच्चे मित्र हैं और बहुधा इनके समाजों में जाता हूँ।''

गोस्वामी जी विधवा विवाह के कट्टर समर्थक थे। उन्होंने अनेक असहाय बाल विधवाओं के पुनर्विवाह स्वयं पिता बनकर कराया थे। उनके विरोधी एतदर्थ उन पर अवांछित आक्षेप भी करते थे। विधवा विवाह के समर्थन में विविध पत्र-पत्रिकाओं में उन्होंने अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे। विधवा विवाह के पक्ष में उन्होंने 'विधवा विपत्ति' और 'बाल विधवा' शीर्षक दो उपन्यास भी लिखे थे।

साहित्य सेवा

गोस्वामी राधाचरण के साहित्यिक जीवन का उल्लेखनीय आरम्भ 1877 ई. में हुआ। इस वर्ष उनकी पुस्तक 'शिक्षामृत' का प्रकाशन हुआ। यह उनकी प्रथम पुस्तकाकार रचना है। तत्पश्चात् मौलिक और अनूदित सब मिलाकर पचहत्तर पुस्तकों की रचना उन्होंने की। इनके अतिरिक्त उनकी प्राय: तीन सौ से ज्यादा विभिन्न कोटियों की रचनाएँ तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में फैली हुई हैं जिनका संकलन अब तक नहीं किया जा सका।

उनकी साहित्यिक उपलब्धियों की अनेक दिशाएँ हैं। वे कवि थे किन्तु हिन्दी गद्य की विभिन्न विधाओं की श्रीवृद्धि भी उन्होंने की। उन्होंने राधाकृष्ण की लीलाओं, प्रकृति-सौन्दर्य और ब्रज संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर काव्य-रचना की। कविता में उनका उपनाम 'मंजु' था।

गोस्वामी राधाचरण ने समस्या प्रधान मौलिक उपन्यास लिखे। 'बाल विधवा' (1883-84 ई.), 'सर्वनाश' (1883-84 ई.), 'अलकचन्द' (अपूर्ण 1884-85 ई.) 'विधवा विपत्ति' (1888 ई.) 'जावित्र' (1888 ई.) आदि। वे हिन्दी में प्रथम समस्यामूलक उपन्यासकार थे, प्रेमचन्द नहीं। 'वीरबाला' उनका ऐतिहासिक उपन्यास है। इसकी रचना 1883-84 ई. में उन्होंने की थी। हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास का आरम्भ उन्होंने ही किया। ऐतिहासिक उपन्यास 'दीप निर्वाण' (1878-80 ई.) और सामाजिक उपन्यास 'विरजा' (1878 ई.) उनके द्वारा अनूदित उपन्यास है। लघु उपन्यासों को वे 'नवन्यास' कहते थे। 'कल्पलता' (1884-85 ई.) और 'सौदामिनी' (1890-91 ई.) उनके मौलिक सामाजिक

नवन्यास हैं। प्रेमचन्द के पूर्व ही गोस्वामी जी ने समस्यामूलक उपन्यास लिखकर हिन्दी में नई धारा का प्रवर्तन किया।

गोस्वामी जी के नाटकों और प्रहसनों में उनकी सुधारवादी चेतना ही सर्वप्रमुख है। 'बूढ़े मुँह मुँहासे लोग देखें तमाशे' नामक प्रहसन में हिन्दू और मुसलमान किसान एक साथ जमींदार के प्रति सम्मिलित विद्रोह करते हैं और अपनी समस्याओं का निराकरण करते हैं। किसानों की समस्याओं में धर्म का विभेद नहीं होता।

उनका व्यंग्य लेखन भी उत्कृष्ट कोटि का है। उदाहरणार्थ, मासिक पत्र 'हिन्दी प्रदीप' आषाढ़ शुक्ल 15 विक्रम संवत् 1939 तदनुसार 1 जुलाई 1882 ई. (जिल्द 5 संख्या 11) में पृष्ठ संख्या 9 पर गोस्वामी जी द्वारा विरचित 'एक नए कोष की नकल' का प्रकाशन हुआ था जिसमें व्यंग्य की प्रचुरता है। उक्त 'नकल' के कतिपय अंश अधोलिखित है–

मधुर भाषा। अँग्रेजी।
शरीफों की जबान।
उर्दू या राजा शिव प्रसाद जिसे कहैं।
जंगली लोगों की भाषा।
संस्कृत-हिन्दी परम कर्तव्य।
खुशामद खुशामद।
अकर्तव्य। देश का हित, भारतवासियों की भलाई।

उक्त व्यंग्य में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की भारतीय मानसिकता का दिग्दर्शन होता है।

गोस्वामी जी एक श्रेष्ठ समालोचक भी थे। उनकी प्रतिज्ञा थी ''किसी पुस्तक की समालोचना लिखो तो सत्य-सत्य लिखो।''

निबन्ध लेखन के क्षेत्र में उनका उल्लेखनीय योगदान रहा है। उनके निबन्धों का वर्ण्य विषय अत्यन्त व्यापक था। उन्होंने ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, शिक्षा और यात्र सम्बन्धी लेख लिखे। तत्कालीन विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में उनके बहुसंख्यक लेख बिखरे हुए हैं जिनका संकलन अब तक नहीं किया जा सका।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी गद्य और पद्य की भाषा में एकरूपता का अभाव था। हिन्दी गद्य खड़ी बोली और पद्य ब्रजभाषा में था। संसार के किसी भी साहित्य में गद्य और पद्य की भाषा विषयक विसंगति नहीं थी।

1887 ई. में अयोध्या प्रसाद खत्री के सम्पादन में खड़ी बोली का पद्य का प्रकाशन हुआ। खत्री जी ने हिन्दी साहित्य की इस भाषा विषयक विसंगति के विरोध में आन्दोलन किया। इस पर व्यापक विवाद हुआ था। खड़ी बोली पद्य आन्दोलन का आरम्भ हिन्दोस्तान (दैनिक पत्र) 11 नवम्बर 1887 ई. से हुआ जब राधाचरण गोस्वामी ने खड़ी बोली पद्य का सक्रिय विरोध किया। गोस्वामी जी का कथन था कि ''यदि खड़ी बोली में कविता की चेष्टा की जाए तो खड़ी बोली के स्थान पर थोड़े दिनों में उर्दू की कविता का प्रचार हो जाएगा।'' (हिन्दोस्तान,11 अप्रैल 1888 ई.)

गोस्वामी जी द्वारा सम्पादित मासिक पत्र 'भारतेन्दु' का पुनर्प्रकाशन 1 अक्टूबर 1890. ई. से हुआ था। 'भारतेन्दु' 1 अक्टूबर 1890 ई. (पुस्तक 5 अंक 1) में पृष्ठ संख्या 2 पर 'भारतेन्दु का प्रेमालाप' शीर्षक सम्पादकीय में सम्पादक राधाचरण गोस्वामी ने कहा था ''भाषा कविता पर बड़ी विपत्ति आने वाली है। कुछ महाशय खड़ी हिन्दी का मुहम्मदी झण्डा लेकर खड़े हो गए हैं और कविता देवी का गला घोंटकर अकाल वध करना चाहते हैं जिससे कवि नाम ही उड़ जाए...'' अर्थात् खड़ी बोली कविता का विरोध करने के लिए उन्होंने 'भारतेन्दु' का पुनर्प्रकाशन किया था। किन्तु यह पत्र अपने पुनर्प्रकाशन के बावजूद अल्पजीवी ही सिद्ध हुआ। पण्डित श्रीधर पाठक खड़ी बोली गद्य के समर्थक थे। गोस्वामी जी और पाठक जी में खड़ी बोली पद्य आन्दोलन के दौर में इसी बात पर मनोमालिन्य भी हुआ। 4 जनवरी 1905 ई. को खत्री जी का निधन हो गया था। सरस्वती और अन्य पत्रिकाओं में खड़ी बोली कविताओं का प्रकाशन शुरू हो गया था।

18 मई 1906 को गोस्वामी जी को लिखित अपने एक व्यक्तिगत पत्र में पण्डित श्रीधर पाठक ने कहा था–''पुराने प्रेमियों को भूल जाना गुनाह में दाखिल है।'' पाठक जी की ओर से पारस्परिक मनोमालिन्य दूर करने की यह सार्थक चेष्टा थी। गोस्वामी जी ने अपने जीवनकाल में ही मैथिलीशरण गुप्त और छायावाद का उत्कर्ष देखा। उनका खड़ी बोली पद्य के प्रति विरोध दूर हो गया था। जनवरी 1910 ई. से 1920 ई. तक वृन्दावन से उन्होंने धार्मिक मासिक पत्र 'श्रीकृष्ण चौतन्य चन्द्रिका' का सम्पादन-प्रकाशन किया था। उक्त मासिक पत्र के प्रथमांक (जनवरी 1910 ई.) में स्वयं 'श्री विष्णुप्रिया का विलाप' शीर्षक कविता खड़ी बोली पद्य में लिखी थी।

गोस्वामी जी साहित्यकार ही नहीं, पत्रकार भी थे। उन्होंने वृन्दावन से भारतेन्दु मासिक पत्र का सम्पादन-प्रकाशन किया था जिसका प्रथमांक चौत्र शुक्ल 15, विक्रम संवत् 1940 तदनुसार 22 अप्रैल 1883 ई. को प्रकाशित हुआ। इसका प्रकाशन 3 वर्ष 5 माह तक हुआ। किन्तु व्यय अधिक होने से इसे बन्द कर देना पड़ा। 1910 ई. से 1920 ई. तक वृन्दावन से ही 'श्रीकृष्ण चौतन्य चन्द्रिका' नामक धार्मिक मासिक पत्रिका का सम्पादन-प्रकाशन उन्होंने किया था। गोस्वामी राधाचरण जी ने 'मेरा संक्षिप्त जीवन परिचय' (1895 ई.) शीर्षक अपनी संक्षिप्त आत्मकथा में लिखा था-

'लिखने के समय किसी ग्रन्थ की छाया लेकर लिखना मुझे पसन्द नहीं। जो कुछ अपने मन का विचार हो वही लिखता हूँ।

पण्डित बालकृष्ण भट्ट और हिन्दी प्रदीप ने पण्डित राधाचरण गोस्वामी को हिन्दी के साढ़े तीन लेखकों में से एक माना था। हिन्दी प्रदीप जनवरी-फरवरी मार्च 1894 ई. (जिल्द 17 संख्या 5, 6 और 7) ने कहा था कि हिन्दी के साढ़े तीन सुलेखक थे–बाबू हरिश्चन्द्र अर्थात् भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, ब्राह्मण मासिक पत्र के सम्पादक प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी, आधा पीयूष प्रवाह सम्पादक अम्बिकादत्त व्यास।

इस कथन से गोस्वामी जी की महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है। देशोपकार उनके सम्पूर्ण लेखन का मूलमन्त्र था। विचारों की उग्रता और प्रगतिशीलता में वे अपने युग के अन्य सभी लेखकों से बहुत आगे थे। वे एक क्रान्तिदर्शी साहित्यकार थे, प्रखर राष्ट्र-चिन्तक, साहित्य और समय की धारा को नया मोड़ देनेवाले युगद्रष्टा कथाकार भी। स्वाधीन चेतना, आत्मनिर्भरता, साहस, निर्भयता और आत्माभिमान उनके विशेष गुण थे। वे वस्तुतः भारतभक्त और हिन्दी साहित्य के एक गौरव स्तम्भ ही थे।

भारतेन्दु-युगीन नाटक

हिन्दी में नाट्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्त्तन भारतेन्दु द्वारा होता है। भारतेन्दु युग नवोत्थान का युग था। भारतेन्दु देश की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक दुर्दशा से आहत थे। अतः साहित्य के माध्यम से उन्होंने समाज को जाग्रत करने का संकल्प लिया। समाज को जगाने में नाटक सबसे प्रबल सिद्ध होता है। भारतेन्दु ने इस तथ्य को पहचाना और नैराश्य के अन्धकार में आशा का दीप जलाने के लिए प्रयत्नशील हुए। युग-प्रवर्तक भारतेन्दु ने

अनूदित/मौलिक सब मिलाकर सत्रह नाटकों की रचना की, जिनकी सूची इस प्रकार है–

(1) विद्यासुन्दर (1868), (2) रत्नावली (1868), (3) पाखण्ड विखंडन (1872), (4) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873),

(5) धनंजय विजय (1873), (6) प्रेम जोगिनी, (1874), (7) सत्यहरिश्चन्द्र (1875), (8) मुद्राराक्षस (1875),

(9) कर्पूर मंजरी (1876), (10) विषस्य विषमोषधम् (1876), (11) श्री चन्द्रावली (1875), (12) भारत-दुर्दशा (1876),

(13) भारत जननी (1877) (14) नीलदेवी (1880), (15) दुर्लभ-बन्धु (1880), (16) अन्धेर नगरी (1881), (17) सती प्रताप (1884)।

मौलिक नाटक

भारतेन्दु जी की मौलिक कृतियों में वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेमयोगिनी, विषस्य विषमोषधम्, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी तथा सती प्रताप हैं। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेम योगिनी और पाखण्ड विखंडन में धार्मिक रूढ़ियों और विडम्बनाओं से ग्रस्त समाज के पाखण्ड, आडम्बर, भ्रष्टाचार आदि का नाटकीय आख्यान हुआ है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में ऊपर से सफेदपोश दिखने वाले धर्मात्माओं के साथ ही तत्कालीन देशी नरेशों और मंत्रियों के व्यभिचार की पोल खोली गयी है। अपने युग की धार्मिक स्थिति के प्रति जो तीव्र आक्रोश नाटककार में है, वही उसकी अपूर्ण नाटिका 'प्रेमयोगिनी' में प्रस्तुत हुआ है। 'पाखण्ड विखंडन' में हिन्दुओं के सन्त-महन्तों की हीन दशा का चित्रण हुआ है। इस प्रकार धार्मिक पाखण्डों का खण्डन करना ही इन नाटकों का मूल स्वर रहा है।

भारतेन्दु-युग में अंग्रेजों ने बहुत से राजाओं से उनका शासन छीन कर उनका राज्य अपने अधीन कर लिया था। अंग्रेजों की इस नीति की प्रशंसा पर गुलामी के भय के द्वन्द्व की परिकल्पना 'विषस्य विषमौषध' प्रहसन में साकार हो उठी है। देशोद्धार की भावना का संघर्ष भारतेन्दु जी के 'भारत जननी' और 'भारत दुर्दशा' में घोर निराशा के भाव के साथ प्रस्तुत होता है। 'भारत दुर्दशा' में भारत के प्राचीन उत्कर्ष और वर्तमान अध:पतन का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है–

रोअहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

भारतेन्दु ने राजनीतिक संघर्ष की पृष्ठभूमि पर नौकरशाही की अच्छी आलोचना करते हुए 'अंधेर नगरी' प्रहसन लिखा है। 'अन्धेर नगरी' के चौपट राजा को फांसी दिलाकर नाटककार कामना करता है कि कभी इस अयोग्य राजा की तरह नौकरशाही भी समाप्त होगी और देश के कुशासन की समाप्ति होगी। अंग्रेजों के शासन से देश मुक्ति की कामना ही 'नील देवी' नाटक में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उभरती है। साथ ही तत्कालीन समाज में तीव्रता से उठ रहे 'नारी स्वातंत्रय' के पक्ष विपक्ष के द्वन्द्व को भी प्रस्तुत किया है।

''चन्द्रावली' और 'सती प्रताप' प्रेम की कोमल अभिव्यंजना से अभिभूत नाटक हैं। चन्द्रावली में ईश्वरोन्मुख प्रेम का वर्णन है। 'सती प्रताप' में भी पति-प्रेम का अनुकरणीय उज्जवल आदर्श है। इस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों में भी प्रेम धारा तथा शृंगारिक मोहकता का वातावरण बना रहा है।

अनूदित और रूपान्तरित नाटक

भारतेन्दु ने अंग्रेजी, बंगला तथा संस्कृत के नाटकों के हिंदी अनुवाद भी किए, जिनमें रत्नावली नाटिका, पाखण्ड विखंडन, प्रबोध-चंद्रोदय, धनंजय-विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्रा राक्षस तथा दुर्लभ बन्धु आदि हैं। अंग्रेजी से किए गए अनुवादों में भारतेन्दु की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने उसमें भारतीय वातावरण एवं पात्रों का समावेश किया है। सभी नाटकों में मानव-हृदय के भावों की अभिव्यक्ति के लिए गीतों की योजना की है। इन नाटकों का अनुवाद केवल हिन्दी का भण्डार भरने की दृष्टि से नहीं किया गया, बल्कि हिन्दी नाटकों के तत्त्वों में अपेक्षित परिवर्तन के लिए दिशा-निर्देश करने के उद्देश्य से किया गया। रूपांतरित नाटकों में 'विद्या सुन्दर' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक आते हैं। 'विद्यासुन्दर' में प्रेम विवाह का समर्थन करते हुए भारतेन्दु मां-बाप के आशीर्वाद को अनिवार्य मानते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में सामाजिक विकृतियों से ऊपर उठ कर सत्य के आदर्शों से अनुप्राणित होने का आह्वान किया है।

नाट्य-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त भारतेन्दु ने 'नाटक' निबन्ध लिख कर नाटक का सैद्धान्तिक विवेचन भी किया है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर-अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं मौलिक नाटकों की रचना ही नहीं की, अपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया है। उनके नाटकों

में जीवन और कला, सुन्दर और शिव, मनोरंजन और लोक-सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है। उनकी शैली सरलता, रोचकता एवं स्वभाविकता के गुणों से परिपूर्ण है। भारतेन्दु अद्वितीय प्रतिभा के धनी थे। सबसे बड़ी बात यह है कि वे अद्‌भुत नेतृत्व-शक्ति से युक्त थे। वे साहित्य के क्षेत्र में प्रेरणा के स्रोत थे। फलतः अपने युग के साहित्यकारों और नाटक तथा रंगमंच की गतिविधियों को प्रभावित करने में सफल रहे। इसके परिणामस्वरूप प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, लाला श्रीनिवास, देवकी नन्दन खत्री आदि बहुसंख्यक नाटककारों ने उनके प्रभाव में नाट्य रचना की। यह भी विचारणीय है कि भारतेन्दु मण्डल के नाटककारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, चरित्रप्रधान राजनैतिक आदि सभी कोटियों के नाटक लिखे। इस युग में लिखे गये नाटक परिमाण और वैविध्य की दृष्टि से विपुल हैं। यहाँ मुख्य धाराओं का परिचय प्रस्तुत है:

(क) पौराणिक धारा–इसकी तीन उपधाराएं–(1) रामचरित सम्बन्धी, (2) कृष्णचरित सम्बन्धी तथा (3) अन्य पौराणिक आख्यानक सम्बन्धी हैं। रामचरित सम्बन्धी नाटकों में देवकीनन्दन खत्री-कृत 'सीताहरण' (1876) और 'रामलीला' (1879), शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'रामचरित्र नाटक' (1891) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'ललिता' (1884), हरिहरदत्त दूबे-कृत 'महारास' (1885) और 'कल्पवृक्ष' तथा सूर्यनारायण सिंह कृत 'श्यामानुराग नाटिका' (1899) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण-परिवार के व्यक्तियों के चरित्र से सम्बन्धी नाटकों में चन्द्र शर्मा-कृत 'उषाहरण' (1887), कार्तिक प्रसाद खत्री-कृत उषाहरण (1892) और अयोध्यासिंह उपाध्याय-कृत 'प्रद्युम्न-विजय' (1893) तथा 'रुक्मणी परिणय' (1894) हैं। पौराणिक आख्यानकों से सम्बन्धी गजराजसिंह-कृत 'द्रोपदी हरण' (1882), श्री निवासदास-कृत 'प्रींद चरित्र' (1888), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'नल-दमयन्ती स्वयंवर' (1895) और शालिग्राम लाल-कृत अभिमन्यु (1898) प्रसिद्ध हैं।

(ख) ऐतिहासिक धारा–ऐतिहासिक नाटक-धारा 'नीलदेवी' से प्रारम्भ होती है। ऐतिहासिक नाटकों में श्रीनिवासदास-कृत 'संयोगिता स्वयंवर' (1886), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'अमर सिंह राठौर' (1895) और राधाकृष्ण दास-कृत 'महाराणा प्रताप' (1896) ने विशेष ख्याति प्राप्त की।

(ग) समस्या-प्रधान धारा–भारतेन्दु ने अपने सामाजिक नाटकों और प्रहसनों में नारी समस्या को जिस ढंग से उठाया था, वहीं उनके मण्डल के सभी

नाटककारों पर छाया रहा। प्राचीन आदर्शों के अनुरूप उनमें पतिनिष्ठा की प्रतिष्ठा की गयी और नवीन भावनाओं के अनुरूप, बाल-विवाह-निषेध, पर्दा-प्रथा का विरोध और विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया गया। श्री राधाचरणदास-कृत 'दु:खिनी बाला' (1880), प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'कलाकौतुक' (1886), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1913), काशी नाथ खत्री-कृत 'विधवा विवाह' (1899) बाबू गोपालराम गहमरी-कृत 'विद्या विनोद' आदि नाटक नारी-समस्याओं को केन्द्र-बिन्दु मानकर लिखे गये। इन समस्या-प्रधान नाटकों का मूलस्वर समाज-सुधार है। इस युग में जो तीव्र संघर्ष सामाजिक स्तर पर सुधारवाद की भावना से हो रहा था, वैसा इस काल के नाटकों में नहीं दिखाई देता। इनमें नाटक के नाम पर समस्याओं का वर्णन मात्र हुआ है। फिर भी इनमें सामाजिक जागरूकता मुख्य हुई है। इसमें संदेह नहीं कि ये अपने इसी स्वरूप में आगे के नाटकों के लिए कड़ी या आधार रहे।

(घ) प्रेम-प्रधान-धारा—रीतिकाल की शृंगारिक प्रवृत्ति भारतेन्दु—युग की कविताओं में ही नहीं नाटकों में भी देखने को मिल जाती है। प्रेम-प्रधान रोमानी नाटकों में श्रीनिवास दास-कृत 'रणधीर प्रेममोहनी' (1877), किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'मयंक मंजरी' (1891) और 'प्रणयिनी परिणय' (1890), खड्ग बहादुरमल्ल-कृत 'रति कुसुमायुध' (1885) शालिग्राम शुक्ल-कृत लावण्यवती' सुदर्शन (1892) तथा गोकुलनाथ शर्मा-कृत 'पुष्पवती' (1899) उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन नाटकों में उपदेशों की भी सर्वत्र भरमार है जिनमें समय का सदुपयोग, वेश्या से घृणा, छोटे-बड़े के भेद की व्यर्थता, भाग्यवाद में विश्वास आदि विषयों पर भी उपदेश दिये गये हैं, फिर भी इन नाटकों की विषय-वस्तु तथा अभिप्राय रोमांटिक हैं।

(च) राष्ट्रीय प्रहसन धारा—राष्ट्रीय और व्यंग्यात्मक नाटकों की परम्परा 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा' आदि द्वारा चलायी गयी थी। उसका मूल कारण सांस्कृतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से उपस्थित सक्रांति-काल ही था। प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति की टकराहट से नवजागरण का आलोक विकीर्ण हो रहा था। भारतेन्दु युगीन नाटककारों ने इस जागरण को अभिव्यक्त करने के लिए प्रहसनों को चुना। इस युग में राष्ट्रीय विचारधारा को उजागर करने वाले, खड्गबहादुर मल्ल-कृत 'भारत आरत' (1885), अम्बिका दास व्यास-कृत 'भारत-सौभाग्य' (1887), गोपाल राम गहमरी-कृत 'देश-दशा' (1892), देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत 'भारत हरण' (1899) आदि नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में देश

की तत्कालीन दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। आलोच्य युग के अनेक सफल प्रहसनों में से बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (1877) और 'प्रचार बिडम्बना' (1899), विजयानन्द त्रिपाठी-कृत 'महा अंधेर नगरी' (1893), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'बूढ़े मुंह मुहासे' (1886), राधाकृष्ण दास-कृत 'देशी कुतिया विलायती बोल' आदि प्रहसनों को विशेष प्रसिद्ध प्राप्त हुई। नवीन वैचारिक आलोक के फलस्वरूप इन प्रहसनों में प्राचीन रूढियों, घिसी हुई परम्पराओं और अंध-विश्वासों पर व्यंग्य किया गया है तथा समाज के महंतों और कुटिल जनों पर प्रहार किये गये हैं।

आलोच्य युग के नाटक साहित्य का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि इस युग के नाटक विषयवैविध्य में पूर्ण हैं। भारतेन्दु युग के नाम से अभिहित इस संक्रांति काल में अनेक युग प्रश्नों यथा-कर, आलस्य, पारस्परिक फूट, मद्यपान, पाश्चात्य-सभ्यता का अन्धानुकरण, धार्मिक अंधविश्वास, पाखंड, छुआ-छूत, आर्थिक शोषण, बाल विवाह, विधवा-विवाह, वेश्या गमन आदि को नाटकों का विषय बनाया गया। ऐसा नहीं है कि किसी एक नाटक में इनमें से एक या दो बातों को लिया गया हो, पर अवसर पाते ही सभी बातें एक ही नाटक में गुम्फित हुई हैं। इससे कथानक में भले ही शिथिलता आ गई हो किंतु जनजीवन की विसंगति अवश्य स्पष्ट हो जाती है। नाटकों में प्रधान रूप से समाज में व्याप्त अशांति और व्यग्रता का चित्रण हुआ है। नाटककार अपने युग के प्रति बड़े सजग दिखाई पड़ते हैं। उन्होंने भारत का अध:पतन अपनी आंखों से देखा था। चारों ओर रूढ़िग्रस्त, निष्क्रिय और मानसिक दासता में जकड़ी हुई जनता, पाश्चात्य सभ्यता का दूषित प्रभाव, भ्रष्ट राजनीति, हृदयविदारक आर्थिक अवस्था आदि ने उनके हृदय में सुधारवादी और राष्ट्रीय विचारों का उद्रेक किया। फलस्वरूप नाटकों में राष्ट्रीय जीवन को उन्नत बनाने के अनेक उपाय संकेतित हुए हैं। इनकी वाणी में नवोदित भारत की आकांक्षाओं का स्वर प्रतिध्वनित होता है।

शास्त्रीय दृष्टि से भारतेन्दु-कालीन नाटक संस्कृत-नाट्यशास्त्र की मर्यादा की रक्षा करते हुए लिखे गये। साथ ही पाश्चात्य नाट्य शास्त्र का प्रभाव भी इन पर लक्षित होता है। पाश्चात्य ट्रेजडी की पद्धति पर दु:खान्त नाटक लिखने की परम्परा भारतेन्दु के 'नीलदेवी' नाटक से प्रारम्भ हुई। इस युग के नाटक एक ओर पारसी कम्पनियों की अश्लीलता और फूहड़पन की प्रतिक्रिया थे, तो दूसरी ओर पाश्चात्य और पूर्व की सभ्यता की टकराहट के परिणाम। इसलिए उनमें अविचारित पुरानापन या अविचारित नयापन कहीं नहीं है। अभिनेयता की दृष्टि

से ये नाटक अत्यधिक सफल हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगी स्वयं नाटकों में भाग लेते थे और हिन्दी रंगमंच को स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। नाटकों के माध्यम से जनता को वे जागरण का और आने वाले युग का सन्देश देना चाहते थे। इसी कारण भारतेन्दु-काल में विरचित ये नाटक सुदृढ़ सामाजिक पृष्ठभूमि पर अवस्थित थे।

अनूदित प्रस्तुत संदर्भ में भारतेन्दु युगीन, नाटकों पर विचार कर लेना भी समीचीन होगा। इस युग में संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किए गए। अनुवाद की परम्परा भी भारतेन्दु से ही प्रारम्भ हुई थी जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। उनके अतिरिक्त भी अनेक लेखक संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी के नाटक अनूदित करने में संलग्न रहे

भारतेन्दु युग में निबंध

भारतेन्दु काल के वातावरण और परिस्थितियों से तो आप परिचित ही है। उस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमधन', बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी जैसे प्रमुख निबन्धकार हुए।

भारतेन्दु जीके निबन्ध भी अनेक विषयों पर हैं। 'काश्मीर कुसुम' 'उदयपुरोदय', 'कालचक्र', 'बादशाह दर्पण'-ऐतिहासिक, 'वैद्यनाथ धाम', 'हरिद्वार', सरयू पार की यात्र'-विवरणात्मक, 'कंकण स्तोत्र'-व्यंग्यपूर्ण वर्णनात्मक और 'नाटक', 'वैष्णवता और भारतवर्ष' विचारात्मक निबन्ध हैं। भारतेन्दु सबसे अधिक सफल हुए अपने व्यंगात्मक निबन्धों में। 'लेवी प्राणलेवी', 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन', 'पाँचवें पैगम्बर', 'अंग्रेज स्रोत', कंकड़ स्तोत्र' आदि में गजब का हास्य-व्यंग्य है ही 'सरयू पार की यात्र' में भी भारतेन्दु अपने व्यंग्य का बढ़िया नमूना उपस्थित करते हैं। जैसे-वाह रे बस्ती। झक मारने बसती है। अगर बस्ती इसी को कहते हैं, तो उजाड़ किसे कहेंगे?

इनके निबन्धों की भाषा स्वच्छ और श्लेषपूर्ण है। कहीं-कहीं तो उर्दू की बढ़िया शैली भी आपने उपस्थित की। भाव और विचार की दृष्टि से युग की वे सभी विशेषताएं इनमें भी हैं, जो भट्ट जी या प्रतापनारायण मिश्र में हैं।

बालकृष्ण भट्ट अपने समय के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार कहला सकते हैं। इन्हें हिन्दी का 'मान्तेन, कहा जाता है। भट्ट जी ने सभी प्रकार के निबन्ध लिखे। 'मेला-ठेला', 'वकील'-वर्णनात्मक, 'आँसू', 'चन्द्रोदय', 'सहानुभूति', 'आशा

माधुर्य', 'खटका'–भावात्मक 'आत्म-निर्भरता', 'कल्पना-शक्ति', 'तर्क', और 'विश्वास'–विचारात्मक निबन्ध हैं। 'खटका', 'इंगलिस पढ़े तो बाबू होय', 'रोटी तो कमा खाय किसी भांति', 'मुछन्दर', 'अकल अजीरन राग' आदि निबन्धों में मस्ती, हास-परिहास, विनोद-व्यंग्य सभी कुछ हैं। ऐसे निबन्धों की भाषा चलती और दैनिक व्यवहार की है। भट्ट जी की भाषा विषय के अनुकूल और अपने समय में सबसे अधिक मंजी हुई सबल और प्रभावशाली है। समाज, व्यक्ति, जीवन, धर्म, दर्शन, राष्ट्र, हिन्दी–सभी विषयों पर आपने लिखा। जन-साहित्य को जन-भाषा में लिखने वालों में प्रतापनारायण मिश्रका नाम सर्वप्रथम आएगा। इनके व्यक्तित्त्व और निबन्धों में निराला आकर्षण है। लापरवाही, चुभता व्यंग्य, गुदगुदीभरा विनोद इनकी रचनाओं की विशेषताएँ हैं। इस युग में इतनी चुलबुली भाषा लिखने वाला और कोई नहीं हुआ। यह 'ब्राह्मण' नामक पत्र निकालते थे, जिसमें इनके निबन्ध छपते थे। छोटे-छोटे विषयों पर इतने बढ़िया, मनोरंजन और उच्च उद्देश्य को लेकर किसी लेखक ने नहीं लिखा। 'नाक', 'भौह', 'वृद्ध', 'दांत', 'पेट', 'मृच्छ' आदि विषयों को लेकर आपने अपने निबन्धों में मनोरंजन का सामान भी जुटाया और देश-प्रेम, समाज-सुधार, हिन्दी के प्रति प्रेम, स्वाभिमान, आत्म-गौरव का सन्देश भी दिया। इनकी शैली में घरेलू बोलचाल की शब्दावली तथा पूर्वी बोलियों की कहावतों और मुहावरों का प्रयोग मिलता है। लापरवाही के कारण भाषा की अशुद्धयाँ रहना साधारण बात है। 'आत्मीयता', 'चिन्ता', 'मनोयोग' इनके विचारात्मक निबन्ध हैं।

प्रेमघन जी अपने निरालेपन के लिए याद किए जाते हैं। उनका उद्देश्य यह नहीं था कि उनकी बात साधारण समाज तक पहुंचे, उसका मनोरंजन हो या उसके विचारों में परिवर्तन हो। कलम की करामात दिखाना ही उनका उद्देश्य था। वह स्वाभाविक, प्रवाहमय, सुबोध भाषा नहीं लिखते। बल्कि शब्दों की जड़ाई करते थे। भाषा बनावटी होते हुए भी उसमें कहीं-कहीं विवेचन की शक्ति पायी जाती है। आप 'नागरी नीरद' और 'आनन्द कादम्बिनी' नामक पत्र निकालते थे। इन्हीं में उनके निबन्ध छपा करते थे। इनके शीर्षक उनकी भाषा-शैली को प्रकट करते हैं जैसे सम्पादकीय, सम्पत्ति सीर, हास्य, हरितांकुर, विज्ञापन और वीर बधूटियां। 'हमारी मसहरी' और 'हमारी दिनचर्या' जैसे मनोरंजक लेख उन्हीं के लिखे हुए हैं। 'फागुन', 'मित्र', 'त्तु-वर्णन उनके अच्छे निबन्ध हैं।

बावमुकुन्द गुप्त इस युग के अन्तिम और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण निबन्धकार थे। 'शिवशम्भू' के नाम से 'भारतमित्र' में वह 'शिवसम्भू' का

चिट्ठा' लिखा करते थे। हास्य-व्यंग्य के बहाने 'शिवशम्भू का चिट्ठा नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए। उनका व्यंग्य शिष्ट और नागरिक होता था। भाषा मिली-जुली हिन्दी-उर्दू। राधाचरण गोस्वामीको भी इस युग के प्रगतिशील लेखकों में गिना जाएगा। 'यमपुर की यात्र' में उन्होंने धार्मिक अंधविश्वास का बहुत मजाक उड़ाया है। धार्मिक विचारों के लोग गाय की पूंछ पकड़कर वैतरणी पार करते हैं। इसमें कुत्ते के पूंछ पकड़कर वैतरणी पार कराई गई है। पहले ऐसी बात सोचना घोर पाप समझा जा सकता था।

भारतेन्दु-काल के निबन्धकारों की विशेषताएँ हैं—निबन्धों के विषयों की विविधता, व्याकरण-सम्बन्धी लापरवाही और अशुद्धयां, देशज या स्थानीय शब्दों का प्रयोग, शैली के विविध रूप और विचार-स्वतन्त्रता, समाज-सुधार, देश-भक्ति, पराधीनता के प्रति रोष आत्म-पतन पर खेद, देशोत्थान की कामना, हिन्दी-सम्मान की रक्षाभावना, हिन्दू, पर्व-त्यौहारों के लिए उत्साह और नवीन विचारों का स्वागत। निबन्ध की एक विशेष शैली भी इस युग की विशेषता है—'राजा भोज का सपना' (शिवप्रसाद सितारे हिन्द), एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न (भारतेन्दु) एक अनोखा स्वप्न (बालकृष्ण भट्ट), यमपुर की यात्र (राधाप्रसाद गोस्वामी)—इन रचनाओं में स्वप्न के बहाने राजनैतिक अधिकार पाने, समाज सुधार तथा धर्म-संस्कार का संदेश दिया गया है।

4

द्विवेदी युग में हिन्दी गद्य शैली का विकास

पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर ही इस युग का नाम द्विवेदी युग रखा गया। सन 1903 ईस्वी में द्विवेदी जी ने सरस्वती पत्रिका के संपादन का भार संभाला। उन्होंने खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को स्थिर किया और पत्रिका के माध्यम से रचनाकारों के एक बडे समुदाय को खड़ी बोली में लिखने को प्रेरित किया। इस काल में निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक एवं समालोचना का अच्छा विकास हुआ।

इस युग के निबंधकारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, श्याम सुंदर दास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बाल मुकंद गुप्त और अध्यापक पूर्ण सिंह आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबंध गंभीर, ललित एवं विचारात्मक हैं। किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू गोपाल राम गहमरी के उपन्यासों में मनोरंजन और घटनाओं की रोचकता है।

Interested\Enter your email below and join our growing community today

हिंदी कहानी का वास्तविक विकास द्विवेदी युग से ही शुरू हुआ। किशोरी लाल गोस्वामी की इंदुमती कहानी को कुछ विद्वान हिंदी की पहली कहानी मानते हैं। अन्य कहानियों में बंग महिला की दुलाई वाली, शुक्ल जी की ग्यारह वर्ष

का समय, प्रसाद जी की ग्राम और चंद्रधर शर्मा गुलेरी की उसने कहा था महत्त्वपूर्ण हैं। समालोचना के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा उल्लेखनीय हैं। हरिऔध, शिवनंदन सहाय तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण द्वारा कुछ नाटक लिखे गए। इस युग ने कई सम्पादकों जन्म दिया। पन्डित ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने आधा दर्जन से अधिक पत्रों का सम्पादन किया। शिव पूजन सहाय उनके योग्य शिष्यों में शुमार हुए। इस युग में हिन्दी आलोचना को एक दिशा मिली। इस युग ने हिन्दी के विकास की नींव रखी। यह कई मायनों में नई मान्यताओं की स्थापना करने वाला युग रहा।

नामकरण

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर ही यह काल 'द्विवेदी युग' के नाम से जाना जाता है। इसे 'जागरण-सुधारकाल' भी कहा जाता है। इस समय ब्रिटिश दमन-चक्र बहुत बढ़ गया था। जनता में असंतोष और क्षोभ की भावना प्रबल थी। ब्रिटिश शासकों द्वारा लोगों का अर्थिक-शोषण भी चरम पर था। देश के स्वाधीनता संग्राम के नेताओं द्वारा पूर्ण-स्वराज्य की मांग की जा रही थी। गोपालकृष्ण गोखले और लोकमान्य गंगाधर तिलक जैसे नेता देश के स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व कर रहे थे। इस काल के साहित्यकारों ने न सिर्फ देश की दुर्दशा का चित्रण किया, बल्कि देशवासियों को आजादी की प्राप्ति की प्रेरणा भी दी। राजनीतिक चेतना के साथ-साथ इस काल में भारत की आर्थिक चेतना भी विकसित हुई।

द्विवेदीजी का योगदान

सन 1903 में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के संपादन का भार संभाला। उन्होंने खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को स्थिर किया और पत्रिका के माध्यम से रचनाकारों के एक बड़े समुदाय को खड़ी बोली में लिखने को प्रेरित किया। इस काल में निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक एवं समालोचना का अच्छा विकास हुआ। इस युग के निबंधकारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, श्यामसुंदर दास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बालमुकंद गुप्त और अध्यापक पूर्णसिंह आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबंध गंभीर, ललित एवं विचारात्मक हैं, किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू गोपाल राम गहमरी के उपन्यासों में मनोरंजन और घटनाओं की रोचकता है। हिन्दी कहानी का वास्तविक विकास 'द्विवेदी युग' से ही शुरू हुआ। किशोरी लाल गोस्वामी की

'इंदुमती' कहानी को कुछ विद्वान् हिन्दी की पहली कहानी मानते हैं। अन्य कहानियों में बंग महिला की 'दुलाई वाली', रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय', जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' और चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। समालोचना के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा उल्लेखनीय हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', शिवनंदन सहाय तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण द्वारा भी कुछ नाटक लिखे गए।

साहित्य

महावीर प्रसाद द्विवेदी का साहित्य आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास का आदिकाल है। इसका पहला चरण 'भारतेन्दु युग' है एवं दूसरा चरण 'द्विवेदी युग'। महावीर प्रसाद द्विवेदी एक ऐसे साहित्यकार थे, जो बहुभाषाविद होने के साथ ही साहित्य के इतर विषयों में भी समान रुचि रखते थे। उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका का लगातार अठारह वर्षों तक संपादन कर हिन्दी पत्रकारिता में एक महान् कीर्तिमान स्थापित किया था। वे हिन्दी के पहले व्यवस्थित समालोचक थे, जिन्होंने समालोचना की कई पुस्तकें लिखी थीं। वे खड़ी बोली हिन्दी की कविता के प्रारंभिक और महत्त्वपूर्ण कवि थे। आधुनिक हिन्दी कहानी उन्हीं के प्रयत्नों से एक साहित्यिक विधा के रूप में मान्यता प्राप्त कर सकी थी। वे भाषाशास्त्री थे, अनुवादक थे, इतिहासज्ञ थे, अर्थशास्त्री थे तथा विज्ञान में भी गहरी रुचि रखने वाले थे। अंततः वे युगांतर लाने वाले साहित्यकार थे या दूसरे शब्दों में कहें, युग निर्माता थे। वे अपने चिन्तन और लेखन के द्वारा हिन्दी प्रवेश में नव-जागरण पैदा करने वाले साहित्यकार थे।

द्विवेदीजी हिन्दी के पहले साहित्यकार थे, जिनको 'आचार्य' की उपाधि मिली थी। इसके पूर्व संस्कृत में आचार्यों की एक परंपरा थी। मई, 1933 ई. में 'नागरी प्रचारिणी सभा' ने उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ पर बनारस में एक बड़ा साहित्यिक आयोजन कर द्विवेदीजी का अभिनंदन किया था। उनके सम्मान में 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ' का प्रकाशन कर उन्हें समर्पित किया था। इस अवसर पर द्विवेदी जी ने, जो अपना वक्तव्य दिया था, वह 'आत्म-निवेदन' नाम से प्रकाशित हुआ था। इस 'आत्म-निवेदन' में वे कहते हैं–'मुझे आचार्य की पदवीं मिली है। क्यों मिली है, मालूम नहीं। कब, किसने दी है, यह भी मुझे मालूम नहीं। मालूम सिर्फ इतना ही है कि मैं बहुधा-इस पदवी से विभूषित किया जाता हूँ। शंकराचार्य, मध्वाचार्य, सांख्याचार्य आदि के सदृश किसी आचार्य के

चरणरजरू कण की बराबरी मैं नहीं कर सकता। बनारस के संस्कृत कॉलेज या किसी विश्वविद्यालय में भी मैंने कदम नहीं रखा। फिर इस पदवी का मुस्तहक मैं कैसे हो गया?'

नाट्य साहित्य

शद्विवेदी युग' नाट्य साहित्य की दृष्टि से सबसे कम समृद्ध है। इस काल में मौलिक नाटकों के सृजन में कमी आई। ऐसा लगता है कि नाटकीय गतिविधि धीरे-धीरे काफी कम हो गई थीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में, जो नाटक मंडलियाँ थीं, वे व्यावसायिक तो थीं नहीं, इसलिए समय के साथ वे काल के गाल में समा गईं। इस युग के प्रसिद्ध रंगकर्मी एवं उच्च कोटि के अभिनेता माधव शुक्ल ने अव्यवसायिक रंगमंच को फिर से जिन्दा करने की कोशिश की। बात 1908 की है, जब उन्होंने इलाहाबाद की रामलीला नाटक मंडली को झाड़-पोछ कर सुरुचि सम्पन्न लोगों की पसंद लायक बनाया। यहाँ से कई नवजागरण का संदेश देने वाले नाटकों का मंचन हुआ। राष्ट्रीय संस्कृति और सामाजिक चेतना का संस्कार करने वाले नाटकों का रंगमंच पर अभिनय प्रस्तुत किया गया।

रचनाएँ

राधाकृष्णदास द्वारा लिखित 'राणाप्रताप' और माधव शुक्ल द्वारा स्वयं लिखित 'महाभारत' नाटकों के मंचन ने तो धूम ही मचा दी। इससे रंगमंच की दुनिया में एक नई हलचल मची। इससे प्रोत्साहित होकर कई रंगनाटक लिखे गए। माखनलाल चतुर्वेदी कृत 'कृष्णार्जुन युद्ध' (1918), बदरीनाथ भट्ट कृत 'दुर्गावती', 'कुरुवनदहन' और 'वेनचरित', बलदेव प्रसाद मिश्र कृत 'प्रभास मिलन' इस समय के लिखे हुए बहुत ही प्रभावशाली नाटक थे।

नाट्य लेखन

इस युग के पौराणिक नाटकों में प्रमुख थे-

भगवान श्रीकृष्ण के चरित से संबंधित नाटक–

राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्रीदामा' (1904), शिवनंदन सहाय कृत 'सुदामा' (1907), बनवारीलाल कृत 'कृष्णकथा' और 'कंसवध' (1909)।

रामचरित संबंधी नाटक-

रामनारायण मिश्र कृत 'जनक बाड़ा' (1906), गंगाप्रसाद कृत 'रामाभिषेक' (1910), गिरधरलाल कृत 'राम वनयात्र' (1910), नारायण सहाय कृत 'रामलीला' (1911), रामगुलामलाल कृत 'धनुषयज्ञ लीला' (1912)।

पौराणिक पात्रों को लेकर लिखे गए नाटक-

महावीर सिंह कृत 'नल-दमयंती' (1905), गौरचरण गोस्वामी कृत 'अभिमन्यु बध' (1906), सुदर्शनाचार्य कृत 'अनर्घ नलचरित' (1906), बांकेबिहारी लाल कृत 'सावित्री नाटिका' (1908), बालकृष्ण भट्ट कृत 'वेणु संहार' (1909), लक्ष्मी प्रसाद कृत 'उर्वशी' (1910), हनुमंत सिंह कृत 'सती-चरित्र' (1910), शिवनंदन मिश्र कृत 'शकुंतला' (1911), जयशंकर प्रसाद कृत 'करुणालय' (1912), बदरीनाथ भट्ट कृत 'कुरुवन-दहन' (1915), माधव धुक्ल कृत 'महाभारत पूर्वार्द्ध' (1916), हरिदास माणिक कृत 'पाण्डव-प्रताप' (1917), और माखनलाल चतुर्वेदी कृत 'कृष्णार्जुन युद्ध' (1918)।

इन नाटकों में चरित्रों के माध्यम से जनता को उपदेश देने का प्रयास किया गया है। नाटक कला का उपयुक्त विकास इनसे नहीं हुआ। अभिनय तत्त्व भी गौण ही है।

ऐतिहासिक नाटक

ऐतिहासिक नाटक में गंगाप्रसाद गुप्त कृत 'वीर जयमाल' (1903), वृंदावनलाल वर्मा कृत 'सेनापति उदल' (1909), बदरीनाथ भट्ट कृत 'चंद्रगुप्त' (1915), कृष्णप्रकाश सिंह कृत 'पन्ना' (1915), हरिदास माणिक कृत 'संयोगिताहरण' (1915), जयशंकर प्रसाद कृत 'राज्य श्री' (1915) और परमेष्ठीदास जैन कृत 'वीर चूड़ावत सरदार' (1918)।

जयशंकर प्रसाद जी के नाटक को छोड़कर किसी में इतिहास का निर्माण नहीं हो सका।

सामाजिक नाटक

सामाजिक नाटक में प्रतापनारायण मिश्र कृत 'भारत दुर्दशा' (1902), भगवती प्रसाद कृत 'वृद्ध-विवाह' (1905), जीवानंद शर्मा कृत 'भारत विजय' (1906), कृष्णानंद जोशी कृत 'उन्नति कहां से होगी' (1915), मिश्र बंधु कृत 'नेत्रोन्मीलन' (1915)।

इन नाटकों में सामाजिक विकृतियों को उभारने की कोशिश की गई है। इनका लक्ष्य समाज सुधार है। किन्तु नाट्यकला की दृष्टि से इनका महत्त्व अधिक नहीं है।

रोमांचकारी नाटक

इस युग में रोमांचकारी नाटक भी लिखे गए। अलौकिक घटनाओं को केन्द्र में रखकर ये नाटक पारसी रंगमंच की शैली में लिखे गए। इसकी विषयवस्तु फारसी प्रेम कथाओं पर आधारित होती थी। कुछ रोमांचकारी नाटक पौराणिक कथाओं पर भी आधारित थे। इन नाटकों की शुरुआत 'कोरस' से होती थी। मुख्य कथा के समानान्तर एक प्रहसन भी चलता रहता था। यह दर्शकों को हंसाने के लिए होता था। इन नाटकों की भाषा उर्दू मिश्रित हुआ करती थी। बाद के दिनों में साधारण बोलचाल की भाषा का भी प्रयोग शुरु हो गया। इस श्रेणी के नाटकों की रचना में मुहम्मद मियां 'रौनक', सैयद मेंहदी हसन 'अहसान', नारायण प्रसाद 'बेताब', आगा मोहम्मद 'हश्र' और राधेश्याम कथावचक ने प्रमुख भूमिका निभाई।

प्रहसन नाटक

इस युग में पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, रोमांचकारी, आदि विषयों के अलावा प्रहसन नाटक भी लिखे गए। बद्रीनाथ भाट्ट कृत 'चुंगी की उम्मीदवारी' (1912), गंगाप्रसाद श्रीवास्तव कृत 'उलटफेर' (1918) और 'नोंक झोंक' (1918)।

अनूदित नाटक

अनूदित नाटक की श्रीणी में संस्कृत से सदानंद अवस्थी ने 'नागानंद' (1906), लाला सीताराम ने 'मृच्छकटिक' (1913), कविरत्न सत्यनारायण ने 'उत्तर रामचरित' किया। अंग्रेजी से शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद लाला सीताराम और चतुर्भुज औदीच्य ने किया। बंगला से ब्रजनंदन सहाय ने किया।

रामचन्द्र शुक्ल की विवेचना

शद्विवेदी युग' के नाटकों की विवेचना करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं–'इन मौलिक रूपकों की सूची देखने से यह लक्षित हो जाता है कि

नाटक की कथावस्तु के लिये लोगों का ध्यान अधिकतर ऐतिहासिक और पौराणिक प्रसंगों की ओर ही गया है। वर्तमान सामाजिक और पारिवारिक जीवन के विविध उलझे हुए पक्षों का सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण करके उनके मार्मिक या अनूठे चित्र खड़ा करने वाली उद्‌भावना उनमें नहीं पाई जाती।' चूंकि इस युग में भारतेन्दु से आगे बढ़कर शिल्प और संवेदना के स्तर पर कोई नया प्रयोग तो नहीं ही हुआ, इसलिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी रंगमंच की स्थापना का जो काम शुरु किया था, वह आगे न बढ़ सका, बल्कि यो कहें कि इस युग में सृजन की दृष्टि से ह्रास ही हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि जनता की रुचि व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों की तरफ मुड़ गई।

साहित्य के लिए रचनात्मक संघर्ष

भाषा–परिमार्जन के साथ ही सर्जनात्मक साहित्य की हर विधा से लेकर साहित्य समालोचना के लिए द्विवेदी जी के संपादन में 'सरस्वती' ने युगांतकारी भूमिका निभाई। उदाहरण के लिए सिर्फ कहानी विधा को लें तो रामचंद्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' 1903 में द्विवेदी जी के संपादन में 'सरस्वती' में ही छपी। बंग महिला (राजेंद्रबाला घोष) की कहानी 'कुंभ की छोटी बहूश 'सरस्वती' के सितंबर 1906 के अंक में छपी। 'सरस्वती' में 1909 में वृंदावनलाल वर्मा की कहानी 'राखी बंद भाई' और 1915 में प्रेमचंद की पहली हिंदी कहानी 'सौत' और 1916 में उन्हीं की बहुचर्चित कहानी 'पंच परमेश्वर' छपी। 1915 में चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा थाश 'सरस्वती' में छपी। किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इंदुमती' और 'गुलबहार' तथा भगवान दास की कहानी 'प्लेग की चुड़ैल' पहले ही 'सरस्वती' में छप चुकी थीं।

श्सरस्वती' की संपादकीय टिप्पणियाँ और समालोचनाएँ महावीर प्रसाद द्विवेदी स्वयं लिखते थे और उनकी समालोचना की साख इतनी थी कि जिस भी किताब की वे प्रशंसा कर देते थे, उसकी प्रतियाँ देखते–देखते बिक जाती थीं।

द्विवेदी जी कला व साहित्य को अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखते थे। वे मराठी, गुजराती और बांग्ला की श्रेष्ठ पुस्तकों की समीक्षाएँ भी पूरे सम्मान से प्रकाशित करते थे। द्विवेदी जी ने बांग्ला कवि माइकल मधुसूदन दत्त के अवदान पर लंबा लेख 'सरस्वती' में छापा था। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के जनवरी 1904 के अंक में मराठी लेखक दत्तात्रेय की रानी लक्ष्मीबाई पर लिखी

पुस्तक की समीक्षा करते हुए लिखा था–जिनको मराठी में अभ्यास नहीं है, उनके, हम, अकेली एक यह पुस्तक पढ़ने की सिफारिश करते हैं। द्विवेदी जी ने दिखाया था कि भारतीय भाषाओं के साहित्य में सहकार संबंध कैसे बन सकता है। द्विवेदी जी मराठी, गुजराती और बांग्ला के भी ज्ञाता थे। वे हिंदी, उर्दू, संस्कृत, मराठी और अंग्रेजी के भी जानकार थे और इन सातों भाषाओं के साहित्य से वे स्वयं को अद्यतन रहते थे और उन भाषाओं के साहित्य की समालोचना कर सरस्वती के पाठकों को भी समृद्ध करते थे। द्विवेदी जी की संपादन कला की विशेषता थी कि उन्होंने साहित्य को कलाओं से जोड़ा। द्विवेदी जी ने संगीत कला पर स्वयं कई लेख लिखे। 'सरस्वती' के अक्टूबर 1907 के अंक में 'गायनाचार्य विष्णु दिगंबर पलुस्कर' और 'सरस्वती' के नवंबर 1907 के अंक में 'संगीत के स्वर' शीर्षक सुचिंतित लेख लिखे। और साहित्य की विधाओं–कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, जीवनी, आलोचना के समांतर समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, नागरिक शास्त्र, इतिहास और आधुनिक ज्ञान–विज्ञान को भी पत्रिका में महत्त्व दिया और इस तरह उसका फलक विस्तृत कर दिया। अनेक रचनाकारों को सबसे पहले द्विवेदी जी ने ही अवसर दिया और जिनकी कविता या कहानी या लेख 'सरस्वती' में छपते थे, वे भी चर्चा में आ जाते थे। 'सरस्वती' के रचनाकारों में श्यामसुंदर दास, कार्तिक प्रसाद खत्री, राधा कृष्ण दास, जगन्नाथ दास रत्नाकर, किशोरीलाल गोस्वामी, संत निहाल सिंह, माधव राव सप्रे, राम नरेश त्रिपाठी, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, मैथिली शरण गुप्त, गया प्रसाद शुक्ल स्नेही, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रनंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला,, महादेवी वर्मा, राय कृष्ण दास, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, रामधारी सिंह दिनकर जैसे साहित्यकार शामिल थे।

साहित्येतर विषयों के प्रति भी आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का बराबर रुझान रहा। द्विवेदी जी के अध्ययन–अनुशीलन का एक प्रमुख विषय अर्थशास्त्र था। अर्थशास्त्र पर द्विवेदी जी का पहला लेख फरवरी 1907 की 'सरस्वती' में छपा था। द्विवेदी जी राजनीतिक अर्थशास्त्र को संपत्ति शास्त्र कहते थे। उनकी पुस्तक 'संपत्ति शास्त्र' 1908 में आई थी। संपत्ति शास्त्र दरअसल हिंदी में अर्थशास्त्र पर कदाचित पहली पुस्तक है जिसे लिखने के लिए द्विवेदी जी ने अर्थशास्त्र और राजनीतिक अर्थशास्त्र पर अंग्रेजी में लिखी नौ और बांग्ला, उर्दू, मराठी व गुजराती में लिखित दो–दो पुस्तकों की यानी कुल सत्रह पुस्तकों की सहायता ली थी। इसका विवरण द्विवेदी जी ने संपत्तिशास्त्र की भूमिका में दिया

है। द्विवेदी जी ने अर्थशास्त्र संबंधी सिर्फ प्रकाशित पुस्तकों की ही मदद नहीं ली, अपितु अप्रकाशित पुस्तक की भी सहायता ली। वह अप्रकाशित पुस्तक माधवराव सप्रे की थी। संपत्तिशास्त्र की भूमिका में द्विवेदी जी ने अर्थशास्त्र संबंधी माधवराव सप्रे के प्रयास का उल्लेख पूरे सम्मान के साथ किया है। सप्रे जी ने अर्थशास्त्र पर एक किताब तैयार तो की थी, किंतु उसे लिखने के उपरांत वे संतुष्ट नहीं हुए, फलतः उसे प्रकाशित नहीं कराया। सप्रे जी ने वह हस्तलिखित किताब द्विवेदी जी को भेज दी। संपत्तिशास्त्र की भूमिका में द्विवेदी जी ने स्वीकार किया है कि सप्रे जी की हस्तलिखित पुस्तक से उन्होंने बहुत लाभ उठाया। भूमिका का आरंभ द्विवेदी जी इस तरह करते हैं, 'हिंदुस्तान संपत्तिहीन देश है। यहाँ संपत्ति की बहुत कमी है। जिधर आप देखेंगे उधर ही आँख को दरिद्र देवता का अभिनय किसी न किसी रूप में अवश्य ही दिख पड़ेगा।' कहने की जरूरत नहीं कि भारत की वह संपत्तिहीन दशा ब्रिटिश साम्राज्यवाद की संसाधनों की लूट का नतीजा थी। आज 2014 में मानो उन्हीं कठिन आर्थिक हालातों की पुनरावृत्ति हो रही है। अंग्रेज भारत में व्यापार करने ही आए थे और बाद में वे इसके भाग्यविधाता बन गए। 1991 से ही भारत में उदारीकरण की आँधी चल रही है और विदेशी कंपनियाँ भारत में आ रही हैं और यहाँ के संसाधनों का दोहन कर रही हैं। संपत्ति शास्त्र में द्विवेदी जी ने लिखा है, 'पाश्चात्य संपत्ति शास्त्र के कितने ही नियम ऐसे हैं जिनका अनुसरण करने से पश्चिमी देशों को तो लाभ है, पर हिंदुस्तान की सर्वथा हानि है।' कहने की जरूरत नहीं कि द्विवेदी जी अपने समय से बहुत आगे थे। उन्होंने 1908 में जो चिंताएँ जाहिर की थीं, उसमें आज समूचे गरीब भारत को शरीक होना पड़ रहा है। ये चिंताएँ प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश की अनुमति दिए जाने के बाद पैदा हुईं। दावा किया जा रहा था कि एफडीआई के दरवाजे खोलने से मंदी से उबरने में मदद मिलेगी। वह दावा खोखला साबित हो चुका है, क्योंकि भारत की आर्थिक विकास में गिरावट जारी है। यह दावा भी किया गया था कि नए आर्थिक सुधारों से देश की तरक्की होगी। 1991 में नए आर्थिक सुधार लागू हुए। तब से निश्चित ही तरक्की हुई है, लेकिन उसका लाभ देश-विदेश की चुनिंदा कंपनियों, निवेशकों, अमीरों, नेताओं और दलालों को मिला है। यानी देश के तीन से पाँच प्रतिशत लोगों की तरक्की हुई है और भारत में डालर अरबपतियों की संख्या 55 तक पहुँच गई। लेकिन देश की जो 95 प्रतिशत आबादी है, उसकी स्थिति और बिगड़ी है। आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया तेज होने के बाद इस देश में दो देश बने हैं। एक अत्यंत अमीरों का देश,

दूसरा अत्यंत गरीबों का देश। एक तरफ चमक-दमकवाली शापिंग माल का देश दिखता है, तो उसी के समानांतर देश के कई हिस्से किसानों के लिए सुसाइड जोन बने हुए हैं। नए आर्थिक सुधारों के कालखंड में यानी 1995 से 2010 के बीच भारत में ढाई लाख किसानों ने आत्महत्या की। किसान को उसके हाल पर छोड़ दिया गया। उसे खाद, बिजली, बीज आदि की बढ़ी कीमत अदा करनी पड़ी और उनके उत्पादन का उचित मूल्य नहीं मिला, उल्टे सस्ते विदेशी कृषि उत्पादों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ी। देश की बहुसंख्यक आबादी को आर्थिक सुधारों का लाभ नहीं मिलने के बावजूद उस प्रक्रिया को तेज किया गया है। प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश की सीमा बढ़ाते समय उसके दुष्परिणामों पर गौर करने का जहमत क्यों नहीं उठाया गया? बहुब्रांड खुदरा व्यवसाय में प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश की जो छूट दी गई है, उससे लाभ की तुलना में नुकसान ज्यादा हुआ है। जितना निवेश नहीं हुआ, उससे ज्यादा कई करोड़ नागरिक प्रभावित हुए हैं। भारतवर्ष में कृषि के बाद सबसे ज्यादा लोग खुदरा व्यवसाय से जुड़े हैं और इस क्षेत्र में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति देकर सरकार साधारण युवक-युवतियों को उनके खुदरा व्यवसाय से वंचित कर बेकारी की ओर पहले ही ढकेल चुकी है। खुदरा व्यवसाय में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश एक अंतरराष्ट्रीय परिकल्पना है, जो दरअसल कार्पोरेट श्रेणी का हरित लूट कार्यक्रम है। अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों का मकसद भारत के कृषि क्षेत्र का उपयोग अपने सोर्सिंग हब के रूप में करना है। देश की अर्थ व्यवस्था पर जब लगातार बेतरह प्रतिकूल प्रभाव पड़ना जारी है तो इन सुधारों को आर्थिक विकास कहा जाए या आर्थिक बिगाड़? विशेष आर्थिक क्षेत्र की आड़ में बहुराष्ट्रीय कार्पोरेट कंपनियों द्वारा भारत के संसाधनों का दोहन करने, जल-जंगल-जमीन को लूटने का जो दौर चल रहा है, उसने जंगल के साथ अन्योन्याश्रित संबंध बनाकर जीनेवाली एक समूची संस्कृति को विनाश के कगार पर ला खड़ा किया है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा विशेष आर्थिक क्षेत्र बनाने की आड़ में हो रहे प्रकृति के अंधाधुंध दोहन के सांघातिक नतीजे मनुष्य प्रजाति को भुगतने पड़ रहे हैं और आगे भी भुगतने होंगे। गांधी ने कहा था कि धरती पर इतना संसाधन है कि उससे मनुष्य की जरूरत की पूर्ति हो सकती है, किंतु लालच की नहीं। इसलिए प्रकृति सम्मत वैकल्पिक रास्तों पर चलना अनिवार्य है। प्रकृति व मनुष्य में संतुलन नहीं होने के कारण ही आज 'ग्लोबल वार्मिंग' का संकट हमारे सामने मुँह बाए खड़ा है। यह भी कहा जा रहा है कि अगला विश्वयुद्ध पानी के लिए लड़ा जाएगा। यदि समय रहते दुनिया इस पूँजीवादी

विनाशकारी राह को नहीं छोड़ती तो धरती से जीवों के गायब होने की आशंका को कम नहीं किया जा सकेगा। प्रकृति के सान्निध्य और साहचर्य में ही मनुष्य और समाज का विकास संभव है। अन्य जीवों के साथ मनुष्य इस धरती पर कैसे लंबे समय तक बना रहे, उन्हीं वैकल्पिक उपायों का संधान हम द्विवेदी जी की किताब संपत्ति शास्त्र में कर सकते हैं। यह किताब मनुष्य व समाज के विकास की राह में खड़े अवरोधों को हटाने में आज भी मददगार है। मनुष्य, समाज और विश्व को बेहतर बनाने के लिए नई सैद्धांतिकी गढ़ने के सूत्र संपत्ति शास्त्र के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध नामक दोनों खंडों में बिखरे पड़े हैं। दोनों खंडों को कई उप खंडों में विभक्त किया गया है। पूर्वार्द्ध के सात उपखंड 27 परिच्छेदों में और उत्तरार्द्ध के पाँच उपखंड बीस परिच्छेदों में विभक्त हैं। इन परिच्छेदों में द्विवेदी जी संपत्ति की उत्पत्ति के कारकों में जमीन, श्रम और पूँजी पर विचार करते हैं। वे मानते हैं कि प्रकृति प्रदत्त कच्ची सामग्री जब तक श्रम से नहीं जुड़ती, तब तक संपत्ति के रूप में नहीं बदलती। मार्क्सवाद-लेनिनवाद का राजनीतिक अर्थशास्त्र भी यही बात कहता है। वह बताता है कि आर्थिक तरक्की के बारे में जो घोषणाएँ की जाती हैं, उसके पीछे की राजनीति को समझना होगा।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने दिसंबर 1920 में 'सरस्वती' से विदा ली। उनका अंतिम संपादकीय 'संपादक की विदाई' शीर्षक से जनवरी 1921 की 'सरस्वती' में छपा। उसमें द्विवेदी जी ने लिखा, 'सरस्वती को निकलते पूरे 21 वर्ष हो चुके। जिस समय उसका आविर्भाव हुआ था, उस समय हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य की क्या दशा थी, यह बात लोगों से छिपी नहीं है। जिन्होंने उस समय को भी देखा है और जो इस समय को भी देख रहे हैं। 'सरस्वती' के आकार-प्रकार, उसके ढंग और लेखन शैली आदि को लोगों ने बहुत पसंद किया—अच्छी मासिक पुस्तक में जो गुण होने चाहिए, उसका शतांश भी मुझमें नहीं...।'

कहने की जरूरत नहीं कि अच्छी मासिक पुस्तक में जो गुण होने चाहिए, वे सभी द्विवेदी जी में थे। सही तो यह है कि जब तक द्विवेदी जी के संपादन में निकली 'सरस्वती' को धुरी मानकर नहीं चला जाएगा तब तक बीसवीं शताब्दी के पहले और दूसरे दशक के हिंदी साहित्य के इतिहास को नहीं समझा जा सकेगा। जाहिर है कि तब 'सरस्वती' की सहयात्री पत्रिका 'मर्यादा' के योगदान को भी ध्यान में रखना होगा। 'सरस्वती' 1975 तक निकलती रही किंतु द्विवेदी जी के संपादन के कालखंड यानी बीसवीं शताब्दी के पहले व दूसरे दशक की 'सरस्वती' का योगदान सबसे ऊपर है। इसी तरह बीसवीं शताब्दी के

तीसरे दशक के हिंदी साहित्य को समझने के लिए 'मतवाला', 'माधुरी', 'सुधा' और 'विशाल भारत' को धुरी बनाना होगा और चौथे दशक के 'हंस' को, पाँचवें दशक के 'प्रतीक' और 'ज्ञानोदय' को, छठे-सातवें दशक की 'कल्पना' को धुरी बनाना होगा। 'कहानी', 'नई कहानी' और उसके परवर्ती समय में 'सारिका', 'कथा', 'समालोचना' के योगदान को भी ध्यान में रखना होगा। आठवें दशक में 'पहल', 'आजकल', नवें–अंतिम दशक में 'हंस' (राजेंद्र यादव के संपादन वाली), 'कथादेश, 'वर्तमान साहित्य', 'वसुधा', 'साक्षात्कार' और 'अक्षरा' के रचनात्मक संघर्ष को ध्यान में रखना होगा। आज भी 'पुनर्नवा', 'अक्षर पर्वश 'आलोचना', 'तद्भव', 'बहुवचन', 'प्रगतिशील वसुधा', पुस्तक वार्ता, वागर्थ, वर्तमान साहित्य, 'परिकथा', 'कथा', 'कथाक्रम' और 'पाखी' जैसी पत्रिकाएँ और समकालीन भारतीय साहित्य, इंद्रप्रस्थ भारती, आजकल जैसी सरकारी पत्रिकाएँ भारतेंदु तथा द्विवेदी युग की ही परंपरा को आगे बढ़ा रही हैं।

द्विवेदी युगीन निबंध

भारतेन्दु-युग के बाद द्विवेदी-युग आता है। भारतेन्दु-युग गद्य-साहित्य के बचपन का समय था। बचपन में लापरवाही, खिलवाड़, विनोद, मनोरंजन, मुग्धता, चंचलता रहती है। किशोर अवस्था में थोड़ी जिम्मेदारी, समझदारी, शिक्षा, नियम-पालन, साज-संवार, स्थिरता आ जाती है। इसी अवस्था में प्रतिस्पर्धा की भावना भी जागती है। अन्य साथियों की शिष्टता, शील, ज्ञान, आत्मसम्मान आदि को देखकर उनके समान ही हम भी गुण विकसित करना चाहते हैं। यही बात भारतेन्दु युग के संदर्भ में समझनी चाहिए। भारतेन्दु-काल में साहित्य तो बहुत लिखा गया था, पर भाषा की भूलें साधारण बात थी। निबन्ध के विषय भी साधारण हुआ करते थे। इस युग में इन अभावों की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस काल के निबन्धों का आरम्भ दो अनुवाद-पुस्तकों से हुआ। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अंग्रेज लेखक बेकन के निबन्धों का अनुवाद 'बेकन-विचार-रत्नावली' के नाम से, गंगा प्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी लेखक चिपलूणकर के निबन्धों का अनुवाद प्रकाशित कराया। लेकिन यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि द्विवेदी-युग का निबन्ध-साहित्य भारतेन्दु-युग के निबन्ध-साहित्य के समान सम्पन्न नहीं है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, अध्यापक पूर्णसिंह और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं। गोविन्द नारायण मिश्र, पद्मसिंह शर्मा और श्यामसुन्दरदास का नाम दूसरी श्रेणी में लिया जा सकता है।

द्विवेदी–युग में महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम सबसे पहले आता है। अपने युग के यह आचार्य थे। आचार्य का काम होता है शिक्षा देना, ज्ञान–वर्द्धन कराना, समाज पर नया संस्कार डालना और सुधार करना। ये सब काम इन्होंने किये, इसलिए यह आचार्य कहलाए और इनके नाम पर ही इस काल का नाम द्विवेदी–युग रखा गया। अपने निबन्धों और समालोचनाओं के द्वारा सबसे मुख्य काम इन्होंने भाषा–सुधार का किया। 'किंकर्तव्य' नामक निबन्ध में यह लिखते हैं–'कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। शुद्ध भाषा का जितना मान होता है, अशुद्ध का नहीं होता। जहां तक सम्भव हो, शब्दों का मूल रूप न बिगाड़ना चाहिए। मुहावरे का विचार रखना चाहिए। क्रोध क्षमा कीजिए, इत्यादि वाक्य कान को अतिशय पीड़ा पहुंचाते हैं। ' इस अवतरण से इनके भाषा सम्बन्धी विचार स्पष्ट हो जाते हैं।

द्विवेदी जी ने सभी प्रकार के निबन्ध लिखे। 'कवि और कविता' 'प्रतिभा', 'साहित्य की महत्ता' इनके विचारात्मक निबन्ध हैं। 'लोभ', 'क्रोध' 'संतोष'–भावात्मक, 'हंस का क्षीरनीर विवेक', 'जापान में पतंगबाजी', 'हजारों वर्ष पुराने खंडहर' और 'प्रताप सुषमा'–वर्णनात्मक है और 'हंस–संदेश' तथा 'नल का दुस्तर दूत–कार्य'–विवरणात्मक। यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि इनके निबन्धों में जानकारी अधिक रहती है, इनकी रचनाओं को पढ़कर ऐसा लगता है कि एक आचार्य शिष्य–मण्डली को पढ़ा रहा है।

माधवप्रसाद मिश्र भारतीय संस्कृति, धर्म–दर्शन, साहित्य कला के सच्चे उपासक थे। इनका अपना व्यक्तित्त्व था। यदि ये किसी को भारतीय और प्राचीन साहित्य का गौरव घटाने का प्रयत्न करते हुए पाते थे, तो उनकी आलोचना करते थे। आचार्य द्विवेदी और श्रीधर पाठक की भी उन्होंने निर्भय आलोचना की थी। इनकी भाषा निर्दोष, साफ–सुथरी, विषयानुकूल, व्यंग्यात्मक और प्रभावशाली है। संस्कृत का प्रभाव उन पर स्पष्ट है। इनके लिखे 'धृति', 'क्षमा', 'श्री वैष्णव सम्प्रदाय', 'काव्यालोचना', 'वेबर' का भ्रम'–विचारात्मक और 'सब मिट्‌टी हो गया'–भावात्मक निबन्ध हैं। भारतेन्दु युग की यह परम्परा मिश्र जी के निबन्धों के साथ ही समाप्त हो गई।

अध्यापक पूर्णसिंह इस युग के सबसे प्रमुख, भावुक और विचारक निबन्धकार हैं। इससे अधिक गौरव की बात और क्या होगी कि इन्होंने केवल छः निबन्ध लिखे और फिर भी अपने समय के श्रेष्ठ लेखक माने गए। उनमें से प्रमुख हैं 'मजदूरी और प्रेम', 'आचरण की सभ्यता', और 'सच्ची वीरता'।

अध्यापक जी के निबन्धों में प्रेरणा देने वाले नए-नए विचार हैं। इनकी भाषा बड़ी ही शक्तिशाली है। उसमें एक खास बाँकपन है जिससे भाव का प्रकाशन भी निराले ढंग से होता है। विषय भी ऐसे नए कि अब तक किसी को सूझे ही नहीं। साथ, ही इनमें भावुकता का माधुर्य भरा है। वीरता, आचरण, शारीरिक परिश्रम का जो महत्त्व उन्होंने समझाया, उसको ठीक समझा जाए तो आज धर्म का नया रूप सामने आ जाए। समाज में क्रांति हो जाए, मनुष्य और सारा देश उन्नति के शिखर पर पहुंच जाए। ''जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पंडित और साधु-संन्यासी, हल कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं।'' 'मजदूरी और प्रेम' का यह उद्धरण कितना महान् संदेश देता है। भाषा की लाक्षणिकता इनकी विशेषता है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी स्वतंत्र विचारों के लिए प्रसिद्ध हैं। निबन्ध इन्होंने भी थोड़े ही लिखे। इनकी रचनाओं में भी जीवन को उठाने की प्रेरणा और नए विचारों का खजाना मिलता है। संस्कृत के महापण्डित होते हुए भी पुरानी लकीर पीटने वाले ये नहीं थे। प्राचीन धार्मिक कथाओं की ये वैज्ञानिक और बुद्धसम्मत व्याख्या करते थे। 'कछुआ धर्म' नामक निबंध भी गम्भीर तर्कपूर्ण, प्रभावशाली, विचार-प्रधान शैली इनकी विद्वता और तर्क-कुशलता का सुन्दर उदाहरण है।

गोविन्दनारायण मिश्र का नाम उनकी विचित्र अलंकारपूर्ण संस्कृत शब्दावली से लदी काव्यमय और बनावटी शैली के लिए लिया जा सकता है। आपको याद होगा भारतेन्दु-काल में 'प्रेमघन' जी भी इसलिए याद किए जाते हैं।

द्विवेदीयुगीन नाटक

भारतेन्दु के अनन्तर साहित्य का जो दूसरा उत्थान हुआ, उसके प्रमुख प्रेरणा-केन्द्र महावीर प्रसाद द्विवेदी थे। हिन्दी नाटकों के ऐतिहासिक विकास-क्रम में पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान भारतेन्दु की तुलना में इतना नगण्य है कि नाटक के क्षेत्र में द्विवेदी-युग को अलग से स्वीकार करना और महत्त्व प्रदान करना औचित्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता है। भारतेन्दु के अवसान के साथ नाटक के ह्रास के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। अपने युग की समस्याओं को नाट्यरूप प्रदान करने का जो अदम्य साहस भारतेन्दु युग के लेखकों में दिखाई पड़ा था उसके दर्शन द्विवेदी-युग में नहीं होते। इसके कई कारण थे। प्रथम तो हिन्दी के नाटककारों में नाटक के सूक्ष्म नियमों एवं विधियों की योजना की क्षमता न थी। दूसरे, नाटकों के इस उदयकाल की सामाजिक स्थिति विक्षोभ

पैदा करने वाली थी। इस प्रवृति ने कुछ कर बैठने की प्रेरणा तो दी किन्तु भावों और विचारों को घटनाओं के साथ कलात्मक ढंग से नियोजित करने के लिए मानसिक सन्तुलन नहीं प्रदान किया। तीसरे, आर्य समाज के आन्दोलन के लेखकों पर सुधारवादी जीवन दृष्टि और शास्त्रर्थ शैली का प्रभाव पड़ा जो निश्चय ही नाटकों के कलात्मक विकास में बाधक हुआ। चौथे, पाश्चात्य 'कॉमेडी' के अंधानुकरण के कारण भारतेन्दु के उपरान्त हिन्दी साहित्य में प्रहसनों की प्रवृत्ति भी पनप उठी। प्रहसनों की वृद्धि ने साहित्यिक एवं कलात्मक अभिनयपूर्ण नाटकों की रचना में व्याघात उपस्थित किया। पांचवें, द्विवेदी-युग नैतिकता और सुधार का युग था। नैतिकता और आदर्श के प्रतिस्थापन में उनकी दृष्टिकोण संस्कृत के नाटककारों की भांति उदारवादी था अतएव भारतेन्दु-युग की नवीनता परवर्ती युग के स्वभाव के अनुकूल न थी। अत: कठोर नीतिवादी अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद के फलस्वरूप द्विवेदी-युग, भारतेन्दु-युग की परम्परा को अग्रसर नहीं कर सका।

उपर्युक्त सभी कारणों के फलस्वरूप आलोच्य युग में मौलिक नाटकों की संख्या अत्यल्प है अनुवाद-कार्य पर अधिक बल रहा है। मौलिक नाटकों में साहित्य की दो धाराएं प्रमुख हैं–

(1) साहित्यिक नाटक (शौकिया रंगमंच),

(2) मनोरंजन प्रधान नाटक (व्यावसायिक पारसी रंगमंच)।

साहित्यिक नाट्य धारा को विकसित करने के उद्देश्य से अनेक नाटक मंडलियों की स्थापना की गई जेसे प्रयाग की 'हिन्दी नाटक मण्डली', कलकत्ते की नागरी नाटक मंडल' मुज्फरनगर की 'नवयुवक समिति' आदि। इनमें 'हिन्दी नाट्य-समिति' सबसे अधिक पुरानी थी। सन् 1893 ई. में यह 'रामलीला नाटक मंडली' के रूप में स्थापित हुई थी। इसके संस्थापकों में प्रमुख थे–पंडित माधव शुक्ल जो स्वयं अच्छे अभिनेता और रंगकर्मी थे और जिन्होंने राष्ट्रीयता चेतना प्रचार-प्रसार के लिए नाटकों को सशक्त माध्यम बनाया था। किन्तु हिन्दी रंगमंच समुचित साधन और संरक्षण के अभाव में तथा जनता की सस्ती रुचि के कारण अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाया। फलत: नाटक का साहित्यिक रूप ही सामने आया। संख्या की दृष्टि में आलोच्यकाल में लिखे गये नाटक कम नहीं हैं, किन्तु मौलिक नाटकों के नाम पर ऐतिहासिक पौराणिक प्रसंगों को ही नाटकों में या कथोपकथन में परिवर्तित कर दिया गया। अध्ययन की सुविधा के लिए आलोच्य युग के नाटकों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता

है–पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक उपादानों पर रचित नाटक, रोमांचकारी नाटक, प्रहसन और अनूदित नाटक।

पौराणिक नाटक

हृदय की वृत्तियों की सत्त्व की ओर उन्मुख करने का प्रयास भारतेन्दु-युग के नाटकों में बहुत पहले से होता आ रहा था। द्विवेदी-युग से इन वृत्तियों के उत्कर्ष के लिए पौराणिक आख्यानों का नि:संकोच ग्रहण किया गया। आलोच्य युग में पौराणिक नाटकों के तीन वर्ग देखने को मिलते हैं–कृष्णचरित-सम्बन्धी, रामचरित सम्बन्धी तथा अन्य पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं से सम्बन्धित। कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्रीदामा' (1904), ब्रज नन्दन सहाय-कृत 'उद्धव' (1909), नारायण मिश्र-कृत 'कंसवध' (1910), शिव नन्दन सहाय-कृत 'सुदामा।' (1907) और बनवारी लाल-कृत 'कृष्ण तथा कंसवध' (1910) को विशेष ख्याति प्राप्त है। रामचरित-सम्बन्धी नाटकों में रामनारायण मिश्र-कृत 'जनक बड़ा' (1906) गिरधर लाल-कृत 'रामवन यात्र' (1910) और गंगाप्रसाद-कृत 'रामाभिषेक' (1910), नारायण सहाय-कृत 'रामलीला' (1911), और राम गुलाम लाल-कृत 'धनुषयज्ञ लीला (1912), उल्लेखनीय हैं। अन्य पौराणिक घटनाओं से सम्बन्धित नाटकों में महावीर सिंह का 'नल दमयन्ती' (1905), सुदर्शनाचार्य का 'अनार्थ नल चरित' (1906), बांके बिहारी लाल का 'सावित्री नाटिका' (1908), बालकृष्ण भट्ट का 'बेणुसंहार' (1909), लक्ष्मी प्रसाद का 'उर्वशी' (1907) और हनुमंतसिंह का 'सती चरित' (1910), शिवनन्दन मिश्र का 'शकुन्तला' (1911), जयशंकर प्रसाद का 'करुणालय (1912) बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन दहन' (1915), माधव शुक्ल का 'महाभारत-पूर्वार्द्ध' (1916), हरिदास माणिक का 'पाण्डव-प्रताप' (1917) तथा माखन लाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध (1918) महत्त्वपूर्ण हैं।

इन नाटकों का विषय पौराणिक होते हुए भी पारसी रंगमंच के अनुरूप मनोरंजन करने के लिए हास-परिहास, शोखी और छेड़छाड़ के वातावरण का ही आधार ग्रहण किया गया है।

ऐतिहासिक नाटक

पौराणिक नाटकों के साथ ही इस काल में कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गए जिनमें–गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर जय माल' (1903), शालिग्राम कृत

'पुरु विक्रम' (1905), वृन्दावन लाल वर्मा का 'सेनापति ऊदल' (1909), कृष्ण प्रकाश सिंह कृत 'पन्ना' (1915), बद्रीनाथ भट्ट कृत 'चन्द्रगुप्त' (1915), हरिदास माणिक-कृत 'संयोगिता हरण' (1915), जयशंकर प्रसाद का 'राज्यश्री' (1915) और परमेश्वरदास जैन का 'वीर चूड़ावत सरदार' (1918) महत्त्वपूर्ण हैं। इन नाटकों में प्रसाद के 'राज्यश्री' नाटक को छोड़कर और किसी भी नाटक में इतिहास-तत्त्व की रक्षा नहीं हो सकी।

सामाजिक-राजनैतिक समस्यापरक नाटक

द्विवेदी-युग में भारतेन्दु-युग की सामाजिक-राजनीतिक और समस्यापरक नाटकों की प्रवृत्ति का अनुसरण भी होता रहा है। इस धारा के नाटकों में प्रताप नारायण मिश्र-कृत 'भारत दुर्दशा' (1903) भगवती प्रसाद-कृत 'वृद्ध विवाह' (1905), जीवानन्द शर्मा-कृत 'भारत विजय' (1906), रुद्रदत शर्मा-कृत 'कंठी जनेऊ का विवाह' (1906), कृष्णानन्द जोशी-कृत 'उन्नति कहां से होगी' (1915), मिश्र बन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' (1915) आदि कई नाटक गिनाए जा सकते हैं। नाट्यकला की दृष्टि से विशेष महत्त्व न रखते हुए भी ये नाटक, समाज सुधार और नैतिकवादी जीवन दृष्टि से युक्त हैं।

व्यावसायिक दृष्टि से लिखे नाटक

इस युग में पारसी रंगमंच सक्रिय रहा जिसके लिए निरन्तर रोमांचकारी, रोमानी और धार्मिक नाटक लिखे जाते रहे। पारसी नाटक कम्पनियों के रूप में व्यवसायी रंगमंच का प्रसार भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था। इस काल में 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी', 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी', 'एल्प्रफेड थियेट्रिकल कम्पनी', 'शेक्सपीयर थिटेट्रिकल कम्पनी', 'जुबिली कम्पनी' आदि कई कम्पनियां 'गुलबकावली', 'कनकतारा', 'इन्दर सभा', 'दिलफरोश', 'गुल फरोश', 'यहूदी की लड़की', जैसे रोमांचकारी नाटक खेलती थीं। रोमांचकारी रंगमंचीय नाटककारों में मोहम्मद मियाँ रादक', हुसैन मियाँ 'जर्राफ', मुन्शी विनायक प्रसाद 'तालिब', सैयद मेंहदी हसन 'अहसान', नारायण प्रसाद बेताब', आगा मोहम्मद हश्र' और राधेश्याम 'कथावाचक' उल्लेखनीय हैं। इनमें राधेश्याम कथावाचक और 'बेताब' ने सुरुचिपूर्ण धार्मिक-सामाजिक नाटक भी लिखे, किन्तु पारसी रंगमंच का सारा वातावरण दूषित ही रहा, जिसने द्विवेदी-युग में नाट्य लेखन की धारा को कुंठित कर दिया।

प्रहसन

इस काल में अनेकानेक स्वतंत्र प्रहसन भी लिखे गये। अधिकांश प्रहसन लेखकों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव है, इसलिए वे अमर्यादित एवं उच्द्‌ष्‌खल हैं। प्रहसनकारों में बदरीनाथ भट्ट एवं जी. पी. श्रीवास्तव के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। भट्ट जी के 'मिस अमेरिका', 'चुंगी की उम्मीदवारी', 'विवाह विज्ञापन', 'लबड़धोंधों' आदि शिष्ट-हास्यपूर्ण प्रहसन हैं। जी.पी. श्रीवास्तव ने छोटे-बड़े अनेक प्रहसन लिखे हैं। इन प्रहसनों में सौष्ठव और मर्यादा का अभाव है।

अनूदित नाटक

मौलिक नाटकों की कमी द्विवेदी-युग में अनूदित नाटकों द्वारा पूरी की गई। सामाजिक तथा राजनीतिक अशान्ति के इस वातावरण में लेखकों को हिन्दी नाटक-साहित्य की हीनता स्पष्ट दिखाई देती थी। अतः कुछ थोड़े उदात्तवादी परम्परा के लोगों का ध्यान संस्कृत नाटकों की ओर गया, परन्तु अधिकांश का अध्ययन बंगला तथा पाश्चात्य नाटकों की ओर ही अधिक था।

संस्कृत से लाला सीताराम ने 'नागानन्द', 'मृच्छकटिक', 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित', मालती माधव' और 'मालविकाग्निमित्र' और सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तररामचरित' का अनुवाद किया। अंग्रेजी से शेक्सपीयर के नाटकों 'हेमलेट', 'रिचर्ड' द्वितीय', 'मैकवेथ' आदि का हिन्दी में अनुवाद भी लाला सीताराम ने किया। प्रफांस के प्रसिद्ध नाटककार ओलिवर' के नाटकों को लल्लीप्रसाद पांडेय और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने अंग्रेजी के माध्यम से अनूदित किया।

बंगला नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत करने वालों में गोपालराम गहमरी स्मरणीय हैं। उन्होंने 'बनवीर' 'बभ्रुवाहन', 'देश दशा', 'विद्याविनोद', 'चित्रगंदा' आदि बंगला नाटकों के अनुवाद किये। बंगला नाटकों के अन्य समर्थ अनुवादक रामचन्द्र वर्मा तथा रूप नारायण पांडेय हैं। उन्होंने गिरीशचन्द्र घोष, द्विजेन्द्र लाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मनमोहन गोस्वामी, ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर तथा क्षीरोद प्रसाद के नाटकों का अनुवाद किया। पांडेय जी के अनुवाद बड़े सफल हैं, उनमें मूल नाटकों की आत्मा को अधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है।

इसी प्रकार भारतेन्दु-युग तथा प्रसाद-युग को जोड़ने वाले बीच के लगभग 25-30 वर्षों में कोई उल्लेखनीय नाटक नहीं मिलता। भले ही प्रसाद-युगीन

नाटककारों की आरम्भिक नाट्य कृतियाँ द्विवेदी-युग की सीमा में आती हैं, परन्तु आगे चलकर उनकी नाट्य कृतियों में, जो वैशिष्ट्य आता है, वह उन्हें द्विवेदी-युग के लेखकों से पृथक्क् कर देता है। द्विवेदी-युग में हिन्दी रंगमंच विशेष सक्रिय नहीं रहा। इस युग में बद्रीनाथ भट्ट ही अपवादस्वरूप एक ऐसे नाटककार थे, जिन्होंने नाटकीय क्षमता का परिचय दिया है, किन्तु इनके नाटक भी पारसी कम्पनियों के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उनमें उत्कृष्ट साहित्यिक तत्त्व का अभाव है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

डॉ. नगेंद्र के शब्दों में "इस काल-खंड के पथ-प्रदर्शक, विचारक और सर्वस्वीकृत साहित्य नेता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर इसका नाम 'द्विवेदी युग' उचित ही है। द्विवेदी इस युग के प्रवर्तक आचार्य हैं।

व्यक्तित्त्व—महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म रायबरेली (उत्तर प्रदेश) के दौलतपुर नामक गाँव में सन् 1864 में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा दौलतपुर की पाठशाला में पूरी कर जनपद के स्कूल में प्रवेश लिया। स्कूली शिक्षा के लिए जनपद उन्नाव के रनजीत पुरवा, फतेहपुर तथा उन्नाव के स्कूलों में प्रविष्ट हुए। स्कूली शिक्षा पूरी करके अपने पिता के पास मुंबई चले गए। मिडिल कक्षाओं में वैकल्पिक विषय के रूप में फारसी का अध्ययन किया। मुंबई में इन्होंने बंगला भाषा सीखने हेतु पर्याप्त अभ्यास किया। इसके अलावा इन्होंने मुंबई में संस्कृत, गुजराती, मराठी एवं अंग्रेजी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। प्रारंभ में आजीविका हेतु रेलवे की नौकरी की। सेवा मुक्त होकर पूर्ण रूपेण हिंदी भाषा और साहित्य में लग गए मानो इसीलिए सेवा से त्यागपत्र दिया हो। उच्चाधिकारी से कुछ कहासुनी हो जाने के परिणामस्वरूप त्याग पत्र दे दिया था। सन् 1903 ई. में 'सरस्वती' के संपादक नियुक्त हुए। सन् 1920 ई. तक अति परिश्रम एवं लगन से कार्य करके पद की प्रतिष्ठा बढ़ाई। इनके प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन में कवि एवं लेखकों की सेना खड़ी हो गई। खड़ी बोली को स्थायित्व देने तथा उसका परिष्कार करने का श्रेय इन्हीं को है। ये कवि, लेखक, आलोचक, निबंधकार, अनुवादक एवं संपादक सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार थे।

कृतित्त्व

काव्य–'काव्य मंजूषा', 'सुमन', 'कान्यकुब्ज अबला विलाप', 'अयोध्या का विलाप'।

अनूदित–'कवि कर्त्तव्य', 'ऋतु तरंगिनी', 'कुमारसंभव सार'।

संपादन–सरस्वती साहित्यिक पत्र।

साहित्यिक विशेषताएँ–कविता में सहजता, सरलता तथा उपदेशात्मकता के गुण विद्यमान थे। इनके काव्य में दो प्रकार की भाषा प्रयुक्त हुई है–' तत्सम प्रधान समस्त भाषा तथा प्रचलित शब्दावलीयुक्त सरल भाषा। पहले ब्रजभाषा में काव्य सृजन किया। बाद में ब्रजभाषा एकदम ही छोड़कर खड़ी बोली में काव्य सृजन करने लगे। कविताओं के बीच-बीच में सानुप्रास कोमल पदावली का व्यवहार द्विवेदी ने किया है। इस तथ्य पर सदैव बल दिया कि कविता की भाषा बोल चाल की भाषा होनी चाहिए। बोलचाल से उनका अभिप्राय ठेठ या हिंदूस्तानी भाषा नहीं था अपितु गद्य की व्यावहारिक भाषा को बोल-चाल की भाषा मानते थे।

संस्कृत वृत्तों का प्रयोग अधिक किया है। हिंदी के कुछ चलते छंदों में भी उन्होंने बहुत सी कविताएं लिखी हैं जिनमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग कम किया गया है। अनुवाद में इनको पूर्ण सफलता मिली है।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त

मैथिलीशरण गुप्त का जन्म सन् 1886 में जिला झांसी के चिरगांव में हुआ था। वे द्विवेदी युग के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि थे। इनकी आरंभिक रचनाएं कोलकाता से निकलने वाले 'वैश्योपकारक' में प्रकाशित होती थीं। बाद में आचार्य महावीर द्विवेदी से परिचय हो जाने पर 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगीं। मैथिलीशरण गुप्त प्रसिद्ध राम भक्त कवि थे। इन्होंने भारतीय जीवन को समग्रता में समझने तथा प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। 'मानस' के पश्चात् हिंदी में रामकाव्य का द्वितीय स्तंभ मैथिलीशरण गुप्त कृत 'साकेत' ही है। इन्होंने दो महाकाव्यों तथा उन्नीस खंड काव्यों का प्रणयन किया है।

कृतित्त्व

काव्य–'रंग में भंग', 'भारत भारती', 'साकेत', 'जयद्रथ वध', 'पंचवटी', 'झंकार', 'यशोधरा', 'द्वापर', 'जय भारत', 'विष्णु प्रिया'।

अनूदित–'प्लासी का युद्ध', 'मेघनाथ वध' तथा 'वृत्र संहार'।

नाटक–'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' तथा 'अनाथ'।

साहित्यिक विशेषताएँ–इनका चरित्र-चित्रण कौशल भी उत्कृष्ट प्रबंध कला का प्रमाण है। खड़ी बोली के स्वरूप निर्धारण और विकास में इनका अन्यतम योगदान है। खड़ी बोली को काव्योपयुक्त रूप प्रदान करने वालों में गुप्त अग्रगण्य हैं। ये भारतीय संस्कृति के अनन्य प्रस्तोता थे। सांस्कृतिक परंपराओं में पूर्ण आस्था रखने वाले गुप्त ने कभी युग धर्म की उपेक्षा नहीं की है। भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता होने के अलावा ये स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रीय कवि भी थे। इनका काव्य राष्ट्रीय भावना से भरपूर है।

पंडित रामचरित उपाध्याय

सन् 1872–1938 में जन्में रामचरित उपाध्याय उत्तर प्रदेश गाजीपुर जिले के रहने वाले थे। इनकी आरंभिक शिक्षा संस्कृत में हुई। बाद में ब्रजभाषा और खड़ी बोली पर भी अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया। पहले ये प्राचीन विषयों पर ही काव्य सृजन करते थे किन्तु आचार्य द्विवेदी के संपर्क में आने पर खड़ी बोली तथा नवीन विषयों को अपनाया।

कृतित्त्व–'रामचरित चिंतामणि'–प्रबंध काव्य सूक्ति 'मुक्तावली' तथा 'राष्ट्रभारती', 'देवदूत', 'देवसभा', 'विचित्र विवाह' आदि काव्य।

साहित्यिक विशेषताएं–विविध छंदों का प्रयोग प्रबंध काव्य में किया है। भाषा की सफाई तथा वाग्वैदग्ध्य है।

पंडित लोचन प्रसाद पांडेय

द्विवेदी युगीन कवियों में लोचन प्रसाद पांडेय (1886–1959 ई.) को विशेष प्रसिद्धि मिली थी। इनका जन्म सन् 1886 में विलासपुर (मध्य प्रदेश) जिले के बालापुर नामक गाँव में हुआ था। हिंदी, उड़िया, संस्कृत तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं के ज्ञाता थे। साहित्य सेवा के लिए 'काव्य विनोद' तथा 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि मिली थी।

कृतित्त्व–'प्रवासी', 'मेवाड़ गाथा', 'महानदी' तथा 'पद्य पुष्पांजलि'।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का जन्म सन् 1868–1915 में जबलपुर में हुआ था। वहीं पर बी.ए. एल.एल.बी. तक की शिक्षा प्राप्त कर कुछ दिनों तक वकालत की और बाद में कानपुर चले गए। वकालत के साथ-साथ ये सार्वजनिक कार्यों

में अति उत्साह के साथ सम्मिलित होते थे। ये संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। वेदांत में विशेष रुचि थी। व्यावसायिक तथा सामाजिक क्रियाकलापों की व्यस्तता में रहते हुए भी साहित्याध्ययन एवं प्रणयन में सदैव दत्त-चित्त थे।

कृतित्त्व

काव्य–'स्वदेशी कुंडल'–'मृत्युंजय', 'राम-रावण विरोध', तथा 'वसंत-वियोग' संग्रह।

अनूदित–'धाराधर धावन' (कालिदास के मेघदूत का अनुवाद)।

साहित्यिक विशेषता–काव्य में उपदेशात्मकता विद्यमान है–

पंडित नाथूराम शर्मा 'शंकर' का जन्म सन् 1859 में अलीगढ़ में हुआ था। ये हिंदी, उर्दू, फारसी तथा संस्कृत भाषाओं के ज्ञाता थे। 13 वर्ष की छोटी-सी आयु में ही इन्होंने अपने एक साथी पर एक दोहा लिखा था। कानपुर में भारतेंदुमंडल के प्रसिद्ध कवि प्रतापनारायण मिश्र के संपर्क में आते ही 'ब्राह्मण' नामक पत्रिका में इनकी रचनाएं प्रकाशित होने लगीं। बाद में इनको आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' के मुख्य कवियों में स्थान मिल गया। प्रारंभ में ये ब्रज भाषा के कवि रहे किंतु शीघ्र ही खड़ी बोली की ओर झुक गए। उर्दू में भी काव्य सृजन का अच्छा कार्य कर लेते थे।

कृतित्त्व–'अनुराग रत्न', 'शंकर सरोज', 'गर्भरंडा-रहस्य' (विधवाओं की बुरी स्थिति, तथा देव मंदिरों के अनाचार से संबंधित प्रबंध काव्य) तथा 'शंकर सर्वस्व'।

साहित्यिक विशेषताएं–इनके काव्य में सभी प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है। छंद शास्त्र के मर्मज्ञ थे। रीतिकालीन पद्धति में इन्होंनें श्रृंगारमयी रचनाएं भी कीं। भाषा मनोरंजक है।

पंडित गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'

कविवर गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' का जन्म सन् 1883 में ग्राम हड़हा जनपद उन्नाव में हुआ था। उर्दू के अधिकारी विद्वान होने के फलस्वरूप ये हिंदी-उर्दू दोनों भाषाओं में समान रूप से काव्य सृजन करते थे। प्राचीन एवं नवीन दोनों प्रकार की शैलियों में अभिरुचि थी। श्रृंगार आदि परंपरागत विषयों पर काव्य की रचना 'सनेही' उपनाम से तथा राष्ट्रीय भावनाओं संबंधित कविता का सृजन 'त्रिशूल' उपनाम से किया है।

कृतित्त्व

काव्य–'कृषक-क्रंदन', 'प्रेम पचीसी', 'राष्ट्रीय वीणा', 'त्रिशूल तरंग', 'करुणा कादंबिनी' आदि।

काव्य पत्रिका–'सुकवि' नामक काव्य पत्रिका के संपादक थे।

साहित्यिक विशेषताएं–खड़ी बोली में कवित्व और सवैया छंद प्रयोग में इन्हें सिद्ध-हस्तता प्राप्त थी। उर्दू बहरों के कुशल प्रयोगकर्ता रहे हैं। सामयिक आंदोलनों से संबंधित अनेक प्रयाण एवं बलिदान गीतों की रचना की।

पंडित राम नरेश त्रिपाठी

राम नरेश त्रिपाठी का जन्म सन् 1889 में ग्राम कोईरी पुर, जनपद जौनपुर में हुआ था। सुलतानपुर रेलवे स्टेशन के पश्चिम में ही आवास था। रेलवे के द्वारा भूमि का अधिग्रहण कर लिए जाने पर कोईरी पुर पैत्रिक स्थान पर चले गए। रुद्रपुर, सुलतानपुर में स्थित प्रेस अब भी चल रहा है जिसकी देखभाल इनके सुपुत्र कर रहे हैं। इनकी प्रारंभिक शिक्षा ग्राम की पाठशाला में ही हुई। अंग्रेजी पढ़ने हेतु जौनपुर के स्कूल में प्रवेश ले लिया, किंतु अध्ययन क्रम नौंवी कक्षा से आगे नहीं चल सका। कविता के प्रति बचपन से ही रुचि थी। ग्राम के प्रधानाचार्य ब्रजभाषा में कविता लिखते थे।

कृतित्त्व–'ग्राम्यगीत', (संग्रह), 'मिलन', 'पथिक', 'मानसी' तथा 'स्वप्न', 'मिलन', 'पथिक', 'स्वप्न' काल्पनिक कथाश्रित प्रेमाख्यानक खंड काव्य हैं। मानसी मुक्त कविता संग्रह है।

संपादन–'कविता कौमुदी' (आठ भाग)

साहित्यिक विशेषताएं–मुक्त कविताओं में देश भक्ति, प्रकृति चित्रण तथा नीति निरूपण की प्रधानता है। खंड काव्यों में उपदेशात्मकता प्रधान है।

लाला भगवानदीन 'दीन'

लाला भगवानदीन 'दीन' का जन्म सन् 1866 में ग्राम बरबर जनपद फतहपुर में हुआ था। काव्य शास्त्र के पंडित थे। हिंदी उर्दू तथा फारसी के ज्ञाता थे।

कृतित्त्व

काव्य–'वीर क्षत्राणी', 'वीर बालक', 'वीर पंचरत्न' तथा 'नवीन बीन' अन्य कविता संग्रह हैं। 'नदीमें दीन' फुटकल काव्य संग्रह है।

संपादन–लक्ष्मी के संपादक।

साहित्यिक विशेषताएँ–युवावस्था में पुराने ढंग की कविताएँ लिखीं। संपादक बनकर खड़ी बोली की ओर मुंह मोड़ा तथा फड़कती कविताएँ लिखने लगे किंतु तर्ज मुंशियाना ही बनाए रखा। उर्दू की बहरों में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग करते थे। खड़ी बोली की कविताएँ वीर रस से संबंधित होने के फलस्वरूप जोशीले भाषण का रूप धारण कर लेती हैं। वीर काव्यों में पौराणिक एवं ऐतिहासिक बहादुरों के चरित्र-चित्रण में ओजस्वी भाषा का प्रयोग किया है। प्राचीन काव्यों की टीकाएं लिखकर हिंदी साहित्य का अत्यधिक उपकार किया है।

पंडित रूपनारायण पांडेय

रूपनारायण पांडेय का जन्म सन् 1884 ई. में उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में हुआ। प्रारंभ में ब्रजभाषा में कविता करते थे किंतु आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रभावस्वरूप खड़ी बोडी में काव्य सृजन करने लगे।

कृतित्त्व

काव्य–'पराग' तथा 'वन-वैभव' मौलिक कविताओं के संकलन हैं।

संपादन–'नागरी-प्रचारकं', 'इंदु' तथा 'माधुरी' आदि पत्रिकाओं का सफलतापूर्वक संपादन किया।

साहित्यिक विशेषताएँ–इनका काव्य अति सरल एवं भावुकतामय है। इनकी सहानुभूति पशु पक्षियों तक पहु जाती है। संस्कृत तथा बंगला–काव्यों का अनुवाद कार्य भी किया।

पंडित सत्यनारायण 'कविरत्न'

पंडित सत्यनारायण 'कविरत्न' का जन्म सन् 1880 में अलीगढ़ में हुआ था। बाल्यावस्था में ही माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। ताजगंज, आगरा के बाबा रघुबरदास ने इनको पाला। सन् 1910 में सेंट जौंस कॉलेज आगरा से बी. ए. परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गए। क्रमिक शिक्षा का अंत हो गया। छात्र काल में काव्य सृजन करने लगे थे। आरंभ में विनय के पद तथा समस्यापूर्ति लिखते थे। ये रसिक जीव थे। ब्रज की एकांत भूमि में अकेले बैठे ब्रज की सरस पदावली की रस मग्नता में खोए रहते थे। नंददास आदि कवियों की प्रणाली में पदों की रचना की। वेशभूषा सरल थी। काव्यमय जीवन था।

कृतित्त्व–'प्रेमकली' एवं 'भ्रमर दूत' कविताएं 'हृदय तरंग', (संग्रह)

अनूदित–होरेशस का अनुवाद।

साहित्यिक विशेषताएंः इनकी रचनाओं में देश की नई पुकार भी कहीं-कहीं सुनाई पड़ती है। ब्रज भाषा के सवैया पढ़ने का इनका ढंग ऐसा आकर्षक था कि श्रोता मंत्र मुग्ध हो जाते थे। इनके कुछ पदों में गहरी खिन्नता दृष्टिगोचर होती है। नारी-शिक्षा के पक्षधर थे।

वियोगी हरि

वियोगी हरि ब्रजभूमि, ब्रजभाषा तथा ब्रजपति के अनन्य उपासक थे। उन्होंने अधिकतर पुराने कृष्णोपासक भक्त कवियों की प्रणाली पर अनेक रसमय पदों की रचना की है। कभी-कभी अनन्य प्रेमधारा से हटकर देश की दशा पर लेखनी चला दी है।

कृतित्त्व–'वीर सतसई'

साहित्यिक विशेषताएं–अधिकांश भक्तिपरक एवं प्रेम प्रधान रचनाएँ की। देशभक्ति का चित्रण भी किया है। 'वीर सतसई' में प्रसिद्ध बहादुरों की प्रशंसाएं हैं, जो दोहा छंद में लिखी गई हैं। इनके पदों को पढ़कर या सुनकर रसिक भक्त बलिहारी जाते हैं।

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का जन्म सन् 1865 में ग्राम निजामाबाद जनपद आजमगढ़ में हुआ था। ये द्विवेदी युग की महान विभूति तथा खड़ी बोली को काव्य भाषा पद पर प्रतिष्ठित करने वाले महान कवि थे। ये सर्वप्रथम-निजामाबाद के मिडिल स्कूल में अध्यापक नियुक्त हुए फिर सरकारी कानूनगों पद पर नियुक्त हो गए। वहां से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी में हिंदी के अवैतनिक प्राध्यापक हो गए। वृद्धावस्था के कारण विश्वविद्यालय की सेवा छोड़कर घर पर रहकर ही साहित्य साधना करने लगे।

कृतित्त्व

काव्य–'प्रिय प्रवास', 'पद्य प्रसून', 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदें', 'वैदेही वनवास', 'पद्-प्रमोद', 'पारिजात', 'बोल-चाल', 'ऋतु मुकुर', 'काव्योपवन', 'प्रेम पुष्पोपहार', 'प्रेम प्रपंच', 'प्रेमांबु प्रस्रवण', 'प्रेमांबु-वारिधि' आदि।

रीतिग्रंथ–'रस कलस'।

गद्य–'ठेठ हिंदी का ठाट', 'अधखिला फूल', 'प्रेमकांता', 'वेनिस का बांका', एवं 'हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास'।

साहित्यिक विशेषताएं

हरिऔध द्विवेदी युग के ख्यातिप्राप्त कवि, उपन्यासकार, आलोचक, इतिहासकार तथा भाषा विज्ञान वेत्ता हैं। साहित्य सेवा के प्रति समर्पित। 'प्रिय प्रवास' खड़ी बोली में लिखा गया हिंदी का प्रथम महाकाव्य है जिसमें राधा कृष्ण को सामान्य नायिका-नायक के स्तर से उठाकर विश्व सेवी तथा विश्व प्रेमी के रूप में चित्रित किया गया है। 'रस कलस' में रस-स्वरूप, प्रकार का सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

काव्य में सरलता, प्रांजलता एवं सौंदर्य की प्रधानता है। एक ओर निरलंकार सौंदर्य है तो दूसरी ओर संस्कृत की आलंकारिक समस्त पदावली की छटा विद्यमान है। खड़ी बोली को काव्योपयुक्त भाषा का रूप दिया है। दोहा, कविता, सवैया आदि के साथ साथ संस्कृत वर्णिक छंदों का समावेश किया है। काव्य शैली अत्यन्त मार्मिक एवं भावपूर्ण है। संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग है। प्रकृति चित्रण अति सजीव तथा परिस्थितियों से प्रभावित है। हरिऔध सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी, प्रबुद्ध साहित्यकार हैं।

गिरिधर शर्मा–'नवरत्न'

गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' (सन् 1881-1961 ई.) का जन्म सन् 1881 में जयपुर में हुआ था। इनकी अधिकांश शिक्षा काशी में हुई। 'सरस्वती' तथा अन्य पत्रिकाओं में इनकी कविताएं प्रकाशित होती रहती थीं।

कृतित्त्व–'मातृवंदना'–मौलिक काव्य।

साहित्यिक विशेषताएं–इनकी कविताओं का मुख्य विषय स्वदेश-प्रेम था। हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत के भी कवि थे। संस्कृत बंगला से हिंदी में पद्यानुवाद भी किए।

सैयद अमीर अली 'मीर'

सैयद अमीर अली 'मीर' का जन्म सन् 1873 में मध्य प्रदेश में हुआ था। बचपन में ही इनके पिता का स्वर्गवास हो गया जिसके परिणामस्वरूप चाचा के पास देवरी ग्राम सागर में रहे।

कृतित्त्व–'उलाहना पंचक' तथा 'अन्योक्ति शतक' मुख्य काव्य कृतियाँ हैं।

साहित्यिक विशेषताएं–साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश समस्यापूर्ति के द्वारा हुआ। इन्होंने देवरी में 'मीर मंडल' कवि समाज की स्थापना की। हिंदी प्रेमी एवं राष्ट्रभाषा समर्थक थे। 'रामचरितमानस' के प्रति विशेष लगाव था। ईश्वर भक्ति और देश प्रेम इनकी कविता का मुख्य विषय था।

कामता प्रसाद गुरु

व्यक्तित्त्व–कामता प्रसाद गुरु का जन्म सागर, मध्य प्रदेश में हुआ।

कृतित्त्व

पद्य ग्रंथ–'भौमासुर वध' तथा 'विनय पचासा' ब्रजभाषा में लिखे गये पद्य ग्रंथ हैं।

कविता संग्रह–'पद्य पुष्पावली'।

कविताएँ–'शिवाजी' तथा 'दासी रानी'।

व्याकरण ग्रंथ–हिंदी व्याकरण

साहित्यिक विशेषताएं–इनकी कविताएं सरल एवं भावपूर्ण हैं। ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली दोनों में रचनाएं कीं। गुरु की ख्याति का मुख्य श्रेय उनके 'हिंदी व्याकरण' को है जिसे वर्तमान समय में भी हिंदी का आदर्श व्याकरण स्वीकारा जाता है।

बाल मुकुंद गुप्त

बाल मुकुंद गुप्त का जन्म सन् 1865 में ग्राम गुड़ियाना, जनपद रोहतक, हरियाणा प्रदेश में हुआ था। ये भारतेंदु युग एवं द्विवेदी युग को जोड़ने वाली कड़ी हैं।

कृतित्त्व–'स्फुट कविता', इनकी कविताओं का संकलन है।

साहित्यिक विशेषताएं–ये अच्छे कवि, अनुवादक और अपने समय के कुशल संपादक थे। हिंदी प्रेम इनकी कविताओं का विषय रहा है। ये अच्छे जीवट एवं हास्य-व्यंग्य प्रधान व्यक्ति थे।

श्रीधर पाठक

श्रीधर पाठक (सन् 1859–1928 ई.) का जन्म सन् 1859 में ग्राम जोंधारी जनपद आगरा में हुआ था। हिंदी के अलावा अंग्रेजी एवं संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। आजीविका चलाने हेतु पाठक ने सरकारी सेवा कार्य अपनाया था। सेवा काल में ही इन्हें सरकारी कार्य से कश्मीर एवं नैनीताल भी जाना पड़ा था जहां इन्हें प्राकृतिक छटा देखने का भव्य अवसर मिला था।

कृतित्त्व

काव्य–'वनाष्टक', 'काश्मीर सुषमा', 'देहरादून' तथा 'भारत गीत'।

कविताएं–'भारतोत्थान', 'भारत–प्रशंसा', 'जार्ज–प्रशंसा' तथा 'बाल–विधवा' आदि।

अनुवाद–कालिदास कृत 'ऋतुसंहार'–गोल्ड स्मिथ कृत 'हरमिट'–'एकांतवासी योगी', डेजर्टेड 'विलेज'–'उजाड़ गांव', तथा 'द ट्रैवेलर'–'श्रांत पथिक' नाम से काव्यानुवाद किया।

साहित्यिक विशेषताएं–ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में अच्छी कविताएं लिखी। ब्रजभाषा का स्वरूप सहज एवं बाह्याडंबर विहीन है। खड़ी बोली के श्रीधर प्रथम समर्थ कवि हैं। इनकी कविता के मुख्य विषय देश प्रेम, समाज सुधार तथा प्रकृति चित्रण हैं। देश का गौरवगान इन्होंने अति मनोयोग से किया किन्तु भारतेंदु युगीन कवियों की तरह श्रीधर पाठक में भी देशभक्ति के साथ साथ राजभक्ति भी मिलती है। एक ओर इन्होंने 'भारतोत्थान' तथा 'भारत प्रशंसा' आदि जैसी देशभक्तिपूर्ण कविताएँ लिखीं तो दूसरी ओर 'जार्ज वंदना' जैसी कविताओं में राजभक्ति का भी प्रदर्शन किया गया है।

विधवाओं की स्थिति तथा उनकी व्यथा का कारुणिक चित्र उपस्थित किया है।

व्यक्तित्त्व–ठाकुर गोपाल शरण सिंह (सन् 1891–1960 ई.) नई गढ़ी, रीवां में जन्मे थे।

कृतित्त्व

काव्य–'माधवी', 'मानवी', 'संचिता' तथा 'ज्योतिष्मती' इनकी प्रमुख काव्यकृतियाँ हैं।

साहित्यिक विशेषताएँ–इन्होंने खड़ी बोली को परिमार्जित करने तथा उसे माधुर्यपूर्ण रूप प्रदान करने में विशेष योगदान किया।

ब्रजभाषा के समान ही खड़ी बोली में सरस–मधुर कवित्त–सवैया आदि का सृजन किया। इनके काव्य में जीवन की विविध दशाओं के चित्र दृष्टिगोचर होते हैं।

मुकुटधर पांडेय

व्यक्तित्त्व–लोचन प्रसाद पांडेय के छोटे भाई मुकुटधर पांडेय का जन्म सन् 1895 ई. में हुआ।

कृतित्त्व–'पूजा-फूल' तथा 'कानन-कुसुम' काव्य संकलन हैं।

साहित्यिक विशेषताएं–ये अच्छे कवि थे। प्रकृति की उपासना करने वाले थे। इनके काव्य में भावात्मकता आंतरिक संवेदना तथा रहस्यात्मक अनुभूति दृष्टिगोचर होती है। इन्हें द्विवेदी युग का सर्वश्रेष्ठ प्रगीतकार माना गया है। इनका काव्य छायावादाभास देता है।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त द्विवेदी युग के सहयोगियों में लोकमणि, सत्य शरण रतूड़ी, मन्नन द्विवेदी, पदुम लाल पुन्ना लाल बख्शी, शिव कुमार त्रिपाठी, पार्वती देवी, तोष कुमारी आदि भी उल्लेखनीय हैं जिन्होंने तत्कालीन साहित्य की श्रीवृद्धि की है।

5

शुक्ल युग में हिन्दी गद्य शैली का विकास

आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिन्दी आलोचक, निबन्धकार, साहित्येतिहासकार, कोशकार, अनुवादक, कथाकार और कवि थे। उनके द्वारा लिखी गई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है हिन्दी साहित्य का इतिहास, जिसके द्वारा आज भी काल निर्धारण एवं पाठ्यक्रम निर्माण में सहायता ली जाती है। हिन्दी में पाठ आधारित वैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात उन्हीं के द्वारा हुआ। हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में भी शुक्ल जी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भाव, मनोविकार सम्बंधित मनोविश्लेषणात्मक निबंध उनके प्रमुख हस्ताक्षर हैं। शुक्ल जी ने इतिहास लेखन में रचनाकार के जीवन और पाठ को समान महत्त्व दिया। उन्होंने प्रासंगिकता के दृष्टिकोण से साहित्यिक प्रत्ययों एवं रस आदि की पुर्नव्याख्या की।

जीवन परिचय

आचार्य रामचंद्र शुक्ल बीसवीं शताब्दी के हिन्दी के प्रमुख साहित्यकार हैं। उनका जन्म बस्ती, उत्तर प्रदेश में हुआ। उनके द्वारा लिखी गई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है हिन्दी साहित्य का इतिहास, जिसके द्वारा आज भी काल निर्धारण एवं पाठ्यक्रम निर्माण में सहायता ली जाती है। शुक्ल जी ने इतिहास

लेखन में रचनाकार के जीवन और पाठ को समान महत्त्व दिया। हिंदी में पाठ आधारित वैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात उन्हीं के द्वारा हुआ। हिन्दी निबंध के क्षेत्र में भी शुक्ल जी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भाव, मनोविकार संबंधित मनोविश्लेषणात्मक निबंध उनके प्रमुख हस्ताक्षर हैं। उन्होंने प्रासंगिकता के दृष्टिकोण से साहित्यिक प्रत्ययों एवं रस आदि की पुर्नव्याख्या की। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का जन्म सन् 1884 में बस्ती जनपद के अगोना नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता श्री चन्द्रबली शुक्ल सरकारी कर्मचारी थे। पिता पं. चंद्रबली शुक्ल की नियुक्ति सदर कानूनगो के पद पर मिर्जापुर में हुई तो समस्त परिवार मिर्जापुर में आकर रहने लगा। जिस समय शुक्ल जी की अवस्था नौ वर्ष की थी, उनकी माता का देहांत हो गया। मातृ सुख के अभाव के साथ-साथ विमाता से मिलने वाले दु:ख ने उनके व्यक्तित्त्व को अल्पायु में ही परिपक्व बना दिया। अध्ययन के प्रति लग्नशीलता शुक्ल जी में बाल्यकाल से ही थी। किंतु इसके लिए उन्हें अनुकूल वातावरण न मिल सका। किसी तरह उन्होंने एंन्ट्रेंस और एफ. ए. की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। उनके पिता की इच्छा थी कि शुक्ल जी कचहरी में जाकर दफ्तर का काम सीखें, किंतु शुक्ल जी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। पिता जी ने उन्हें वकालत पढ़ने के लिए इलाहाबाद भेजा पर उनकी रुचि वकालत में न होकर साहित्य में थी। अत: परिणाम यह हुआ कि वे उसमें अनुत्तीर्ण रहे। शुक्ल जी के पिताजी ने उन्हें नायब तहसीलदारी की जगह दिलाने का प्रयास किया, किंतु उनकी स्वाभिमानी प्रकृति के कारण यह संभव न हो सका। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा राठ (हमीरपुर) में हुई। इसके पश्चात इन्होंने मिर्जापुर से हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद इनका नियमित नियमित विद्यालयीय शिक्षा का क्रम टूट गया। मिर्जापुर के ही मिशन स्कुल में कला अध्यापक के रूप में अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। बाद में शुक्ल जी हिंदी शब्द सागर के संपादन में वैतनिक सहायक के रूप में बनारस आ गये। यहीं पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा के विभिन्न पदों पर कार्य करते हुए ख्याति प्राप्त की। आपने कुछ दिनों तक नागरी प्रचारिणी पत्रिका का संपादन भी किया। कोश का कार्य पूरा हो जाने के बाद आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिंदी के अध्यापक के रूप में नियुक्त हो गये। बाबू श्यामसुन्दर दास के अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में ही हिंदी विभाग में विभागाध्यक्ष हो गये। वे बराबर साहित्य, मनोविज्ञान, इतिहास आदि के अध्ययन में लगे रहे। उन्होंने हिंदी,

उर्दू, संस्कृत एवं अंग्रेजी के साहित्य का गहन अनुशीलन किया। उन्होंने 'हिंदी शब्द सागर' के साथ 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का संपादन भी किया। सन् 1937 ई. में वे बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी-विभागाध्यक्ष नियुक्त हुए एवं इस पद पर रहते हुए ही सन् 1941 में उनकी हृदय गति रुक जाने से मृत्यु हो गई।

कृतियाँ–शुक्ल जी ने निबंध, शोध, इतिहास एवं समालोचना के क्षेत्र में त्रिस्तरीय ग्रंथों की रचना की। आपकी कृतियाँ का परिचय इस प्रकार है-

निबंध साहित्य–'चिंतामणि' तथा 'विचार वीथि' आपके निबंध ग्रंथ हैं।

समालोचना साहित्य–'सूरदास', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'त्रिवेणी', 'रस-मीमांसा'।

इतिहास ग्रन्थ–'हिंदी साहित्य का इतिहास'।

सम्पादित ग्रन्थ–जायसी, ग्रंथावली, हिंदी-शब्द-सागर, नागरी प्रचारिणी पत्रिका।

वर्ण्य विषय– शुक्ल जी ने प्रायः साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक निबंध लिखे हैं। साहित्यिक निबंधों के 3 भाग किए जा सकते हैं दृ

1. सैद्धान्तिक आलोचनात्मक निबंध–'कविता क्या है'। 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचियवाद', आदि निबंध सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत आते हैं। आलोचना के साथ-साथ अन्वेषण और गवेषणा करने की प्रवृत्ति भी शुक्ल जी में पर्याप्त मात्र में है। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' उनकी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है।

2. व्यवहारिक आलोचनात्मक निबंध–भारतेंदु हरिश्चंद्र, तुलसी का भक्ति मार्ग, मानस की धर्म भूमि आदि निबंध व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत आते हैं।

3. मनोवैज्ञानिक निबंध–मनोवैज्ञानिक निबंधों में करुणा, श्रद्धा, भक्ति, लज्जा, ग्लानि, क्रोध, लोभ, प्रीति आदि भावों तथा मनोविकारों पर लिखे गए निबंध आते हैं। शुक्ल जी के ये मनोवैज्ञानिक निबंध सर्वथा मौलिक हैं। उनकी भांति किसी भी अन्य लेखक ने उपर्युक्त विषयों पर इतनी प्रौढ़ता के साथ नहीं लिखा। शुक्ल जी के निबंधों में उनकी अभिरुचि, विचार धारा अध्ययन आदि का पूरा-पूरा समावेश है। वे लोकादर्श के पक्के समर्थक थे। इस समर्थन की छाप उनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलती है।

भाषा–शुक्ल जी की भाषा पर पूर्णाधिकार था। उनकी भाषा विषयानुरूप परिवर्तित होती है। गंभीर एवं सहितियिक विषयों पर लिखते समय भाषा शब्द

प्रधान नहीं है। व्यवहारिक विषयों पर लिखते समय उनका सरल स्वरूप सम्मुख आया है। भाषा का सुगठित होना, व्यर्थ का एक भी शब्द न आना तथा मुहावरों, लोकोक्तियों और सूक्तियों का प्रयोग आपके लेखन की विशेषता है। शुक्ल जी के गद्य–साहित्य की भाषा खड़ी बोली है और उसके प्राय: दो रूप मिलते हैं–

क्लिष्ट और जटिल–गंभीर विषयों के वर्णन तथा आलोचनात्मक निबंधों के भाषा का क्लिष्ट रूप मिलता है। विषय की गंभीरता के कारण ऐसा होना स्वाभाविक भी है। गंभीर विषयों को व्यक्त करने के लिए जिस संयम और शक्ति की आवश्यकता होती है, वह पूर्णत: विद्यमान है। अत: इस प्रकार को भाषा क्लिष्ट और जटिल होते हुए भी स्पष्ट है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है।

सरल और व्यवहारिक–भाषा का सरल और व्यवहारिक रूप शुक्ल जी के मनोवैज्ञानिक निबंधों में मिलता है। इसमें हिंदी के प्रचलित शब्दों को ही अधिक ग्रहण किया गया है यथा स्थान उर्दू और अंग्रेजी के अतिप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। भाषा को अधिक सरल और व्यवहारिक बनाने के लिए शुक्ल जी ने तड़क–भड़क अटकल–पच्चू आदि ग्रामीण बोलचाल के शब्दों को भी अपनाया है तथा नौ दिन चले अढ़ाई कोस, जिसकी लाठी उसकी भैंस, पेट फूलना, काटों पर चलना आदि कहावतों व मुहावरों का भी प्रयोग निस्संकोच होकर किया है। शुक्ल जी का दोनों प्रकार की भाषा पर पूर्ण अधिकार था। वह अत्यंत संभत, परिमार्जित, प्रौढ़ और व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण निर्दोष है। उसमें रंचमात्र भी शिथिलता नहीं। शब्द मोतियों की भांति वाक्यों के सूत्र में गुंथे हुए हैं। एक भी शब्द निरर्थक नहीं, प्रत्येक शब्द का अपना पूर्ण महत्त्व है।

साहित्य में स्थान–शुक्ल जी हिंदी साहित्य के कीर्ति स्तंभ हैं। हिंदी में वैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात उन्हीं के द्वारा हुआ। तुलसी, सूर और जायसी की जैसी निष्पक्ष, मौलिक और विद्वत्तापूर्ण आलोचनाएँ उन्होंने प्रस्तुत की वैसी अभी तक कोई नहीं कर सका। शुक्ल जी की ये आलोचनाएँ हिंदी साहित्य की अनुपम विधियां हैं। निबंध के क्षेत्र में शुक्ल जी का स्थान बहुत ऊंचा है। वे श्रेष्ठ और मौलिक निबंधकार थे। हिन्दी में गद्य–शैली के सर्वश्रेष्ठ प्रस्थापकों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी का नाम सर्वोपरि है। उन्होंने अपने दृष्टिकोण से भाव, विभाव, रस आदि की पुनव्याख्या की, साथ ही साथ विभिन्न भावों की व्याख्या में उनका पांडित्य, मौलिकता और सूक्ष्म पर्यवेक्षण पग–पग पर दिखाई देता है। हिन्दी की सैधांतिक आलोचना को परिचय और सामान्य विवेचन के धरातल से ऊपर

उठाकर गंभीर स्वरुप प्रदान करने का श्रेय शुक्ल जी को ही है। "काव्य में रहस्यवाद" निबंध पर इन्हें हिन्दुस्तानी अकादमी से 500 रुपये का तथा चिंतामणि पर हिन्दी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग द्वारा 1200 रुपये का मंगला प्रशाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था।

शैली–शुक्ल जी की लेखन शैली के अनेक रूप है, जो संक्षेप में इस प्रकार है–

1. समीक्षात्मक शैली–इसका प्रयोग प्रधान रूप से समालोचनात्मक निबंधों तथा ग्रंथों में हुआ है।
2. गवेषणात्मक शैली–शोध प्रधान विषयों पर लिखते समय इसका रुप सामने आया है।
3. विचारात्मक शैली–साहित्यिक विषयों पर लिखते समय इस शैली का उपयोग हुआ है।
4. वर्णनात्मक शैली–वर्णन और विवरण के प्रसंग में शैली भी अपनाई गई है।
5. सूक्ति परक शैली–शुक्ल जी की यह विशिष्ट शैली है। आप सूक्ति परक वाक्य का प्रयोग करके विषय को रोचकता तथा गंभीरता प्रदान करते हैं। यथा विश्वासपात्र मित्र जीवन की एक औषध है।
6. हास्य व्यंगात्मक शैली–गंभीरता को कम करने के लिए शुक्ला जी ने बीच-बीच में हास्य व्यंग शैली का प्रयोग किया है।

कार्यक्षेत्र– मिर्जापुर के तत्कालीन कलक्टर ने रामचन्द्र शुक्ल को एक कार्यालय में नौकरी भी दे दी थी, पर हैड क्लर्क से उनके स्वाभिमानी स्वभाव की पटी नहीं। उसे उन्होंने छोड़ दिया। फिर कुछ दिनों तक रामचन्द्र शुक्ल मिर्जापुर के मिशन स्कूल में चित्रकला के अध्यापक रहे। सन् 1909 से 1910 ई. के लगभग वे 'हिन्दी शब्द सागर' के सम्पादन में वैतनिक सहायक के रूप में काशी आ गये, यहीं पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा के विभिन्न कार्यों को करते हुए उनकी प्रतिभा चमकी। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन भी उन्होंने कुछ दिनों तक किया था। कोश का कार्य समाप्त हो जाने के बाद शुक्ल जी की नियुक्ति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक के रूप में हो गई। वहाँ से एक महीने के लिए वे अलवर राज्य में भी नौकरी के लिये गए, पर रुचि का काम न होने से पुनः विश्वविद्यालय लौट आए। सन् 1937 ई. में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष नियुक्त हुए एवं इस पद पर

रहते हुए ही सन् 1941 ई. में उनकी श्वास के दौरे में हृदय गति बन्द हो जाने से मृत्यु हो गई।

महत्त्वपूर्ण विशेषता–उनकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता समसामयिक काव्य चिन्तन सम्बन्धी जागरूकता है। उन्होंने जिन साहित्य–मीमांसकों एवं रचनाकारों को उद्धृत किया है, उनमें से अधिकांश को आज भी हिन्दी के तमाम आचार्य और स्वनाम धन्य आलोचक नहीं पढ़ते। सम्भवत: रामचन्द्र शुक्ल उन प्रारम्भिक व्यक्तियों में होंगे, जिन्होंने इलियट और कमिंग्ज जैसे रचनाकारों का भारतवर्ष में पहली बार उल्लेख किया है। 1935 ई. में इन्दौर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्य परिषद् के अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण 'काव्य में अभिव्यंजनवाद' में इस जागरूकता के सम्बन्ध में सबसे अधिक दर्शन होते हैं। उन्होंने जे.एस. फ्लिण्ट की चर्चा की है तथा हेराल्ड मुनरो की तारीफ की है तथा कैलीफोर्निया युनीवर्सिटी के अध्यापकों द्वारा लिखित सद्यरू प्रकाशित आलोचनात्मक निबन्धों के संग्रह के उद्धरण दिये हैं।इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि पहली बार हिन्दी में शुक्ल जी ने सामाजिक मनोवैज्ञानिक आधार पर किसी कवि की विवेचना करके आलोचना को एक व्यक्तित्त्व प्रदान किया, उसे जड़ से गतिशील किया। एक ओर उन्होंने सामाजिक सन्दर्भ को महत्त्व प्रदान किया एवं दूसरी ओर रचनाकार की व्यक्तिगत मनरूस्थिति का हवाला दिया। शुक्ल जी के व्यक्तित्त्व का एक गुण यह भी है कि वे श्रुति नहीं, मुनि–मार्ग के अनुयायी थे। किसी भी मत, विचार या सिद्धान्त को उन्होंने बिना अपने विवेक की कसौटी पर कसे स्वीकार नहीं किया। यदि उनकी बुद्धि को वह ठीक नहीं जँचा, तो उसके प्रत्याख्यान में तनिक भी मोह नहीं दिखाया। इसी विश्वास के कारण वे क्रोचे, रवीन्द्र, कुन्तक, ब्लेक या स्पिनगार्न की तीखी समीक्षा कर सके थे।आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने सदैव लोक–संग्रह की भूमिका पर काव्य को परखना चाहा तथा लोकसंग्रह सम्बन्धी धारणा में उनकी मध्यवर्गीय तथा कुछ मध्ययुगीन नैतिकता एवं स्थूल आदर्शवाद का भी मिश्रण था। इस कारण उनकी आलोचना यत्र–तत्र स्खलित भी हुई है। शुक्ल जी ने अपने समीक्षादर्श में 'एक की अनुभूति को दूसरे तक पहुँचाया' काव्य का लक्ष्य माना है तथा इस प्रेषण के द्वारा मनुष्य की सजीवता के प्रमाण मनोविकारों को परिष्कृत करके उनके उपयुक्त आलम्बन लाने में उसकी सार्थकता और सिद्धि देखी है। कवि की अनुभूति को सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त समझने के कारण उन्होंने कविकर्म के लिए यह महत्त्वपूर्ण माना कि "वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को ढालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव

करे"। इस कसौटी की ही अगली परिणति है कि ऐसी भावदशाओं के लिए अधिक अवकाश होने के कारण उन्होंने महाकाव्य को खण्ड-काव्य या मुक्तक-काव्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया। कुछ इसी कारण 'रोमाण्टिक', 'रहस्यात्मक' या 'लिरिकल' संवेदना वाले काव्य को वे उतनी सहानुभूति नहीं दे सके हैं।

साधारणीकरण—शुक्ल जी असाधारण वस्तु योजना अथवा ज्ञानातीत दशाओं के चित्रण के पक्षपाती भी इसीलिए नहीं थे कि उनसे प्रेषणीयता में बाधा पहुँचती है। इस सिद्धान्त के स्वीकरण के फलस्वरूप साधारणीकरण के सम्बन्ध में कुछ नयी व्याख्या देते हुए उन्होंने 'आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण' माना। यह उनके स्वतंत्र काव्य-चिन्तन तथा अपने अध्ययन (विशेष रूप से तुलसी के अध्ययन) के द्वारा प्राप्त निष्कर्ष का परिचायक भी है। अपनी क्लासिकल रस दृष्टि के कारण ही उन्होंने काव्य में कल्पना को अधिक महत्त्व नहीं दिया। अनुभूति प्रसूत भावुकता उन्हें स्वीकार्य थी, कल्पना प्रसूत नहीं। इस धारणा के कारण ही वे छायावाद जैसे काव्यान्दोलनों को उचित मूल्य नहीं दे सके। इसी कारण शुद्ध चमत्कार एवं अलंकार वैचित्र्य को भी उन्होंने निम्न कोटि प्रदान की। अलंकार को उन्होंने वर्णन प्रणाली मात्र माना। उनके अनुसार अलंकार का काम "वस्तु निर्देश" नहीं है। इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने लाक्षणिकता, औपचारिकता आदि को अलंकार से भिन्न शैलीतत्त्व के अंतर्गत माना है। काव्य शैली के क्षेत्र में उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थापना 'बिम्ब ग्रहण' की श्रेष्ठ मानने सम्बन्धी है, वैसे ही जैसे काव्य वस्तु के क्षेत्र में प्रकृति चित्रणसम्बन्धी विशेष आग्रह उनकी अपनी देन है।

भावयोग—शुक्ल ने काव्य को कर्मयोग एवं ज्ञानयोग के समकक्ष रखते हुए 'भावयोग' कहा, जो मनुष्य के हृदय को मुक्तावस्था में पहुँचाता है। काव्य को 'मनोरंजन' के हल्के-फुल्के उद्देश्य से हटाकर इस गम्भीर दायित्व को सौंपने में उनकी मौलिक एवं आचार्य दृष्टि द्रष्टव्य है। वे "कविता को शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध" स्थापित करने वाला साधन मानते हैं, वस्तुतः काव्य को शक्ति के शील-विकास का महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठतम साधन उन्होंने माना।

सर्वांगीण विचार—नवीन साहित्य रूपों एवं चरित्रविधान की नयी परिपाटियों के कारण उन्होंने अपने रस-सिद्धान्त में केवल साधारणीकरण का ही नये सिरे से विवेचन नहीं किया, साथ ही "रसात्मक बोध के विविध रूपों" की चर्चा करते हुए अपेक्षाकृत हीनतर रस-दशाओं या 'शील-वैचित्र्य' बोध का विचार

किया है। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से भी उन्होंने 'सिद्धावस्था' और 'साधनावस्था' की दृष्टि से विभाजन किया है। काव्य के अतिरिक्त उन्होंने अपने साहित्य में निबन्ध, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि साहित्यरूपों के स्वरूप पर भी संक्षिप्त, पर महत्त्वपूर्ण सर्वांगीण विचार प्रकट किये हैं।

समीक्षा-दृष्टि–शुक्ल जी की समीक्षा का मूलस्वर यद्यपि व्याख्यात्मक है, पर आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने आकलन सम्बन्धी निर्णय लेने में साहस की कमी नहीं दिखाई है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण उनके इतिहास का आधुनिक काल से सम्बन्धित अंश है। यह अवश्य है कि इन निर्णयों या व्याख्याओं में उनके वैयक्तिक एवं वर्गगत आग्रह तथा उस युग तक की इतिहास दृष्टि की सीमाएँ थीं। वस्तुतः शुक्ल जी समीक्षा के प्रथम उठान के चरम विकास थे और आगे जिन लोगों ने उनका अनुगमन किया, वे वहीं महत्त्वपूर्ण हुए। शुक्लजी की समीक्षा-दृष्टि की सम्भावनाएँ बहुत विकासशील नहीं थीं।

साहित्यिक इतिहास लेखक–रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के प्रथम साहित्यिक इतिहास लेखक हैं, जिन्होंने मात्र कवि-वृत्त-संग्रह से आगे बढ़कर, "शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते आये हैं, जिन-जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किये हुए सुसंगठित काल विभाग" की ओर ध्यान दिया। इस प्रकार उन्होंने साहित्य को शिक्षित जनता के साथ सम्बद्ध किया और उनका इतिहास केवल कवि-जीवनी या "ढीले सूत्र में गुँथी आलोचनाओं" से आगे बढ़कर सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों से संकलित हो उठा। वह कवि मात्र व्यक्ति न रहकर, परिस्थितियों के साथ आबद्ध होकर जाति के कार्य-कलाप को भी सूचित करने लगे। इसके अतिरिक्त उन्होंने सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर कालविभाजन और उन युगों का नामकरण किया। इस प्रवृत्ति-साम्य एवं युग के अनुसार कवियों को समुदायों में रखकर उन्होंने "सामूहिक प्रभाव की ओर" ध्यान आकर्षित किया। वस्तुतः उनका समीक्षक रूप यहाँ पर भी उभर आया है, और उनकी रसिक दृष्टि कवियों के काव्य सामर्थ्य के उद्घाटन में अधिक प्रवृत्त हुई हैं, तथ्यों की खोजबीन की ओर कम। यों साहित्यिक प्रवाह के उत्थान-पतन का निर्धारण उन्होंने अपनी लोक-संग्रह वाली कसौटी पर करना चाहा है, पर उनकी इतिहास दृष्टि निर्मल नहीं थी। यह उस समय तक की प्रबुद्ध वर्ग की इतिहास सम्बन्धी चेतना की सीमा भी थी। शीघ्र ही युग और कवियों के कार्य-कारण सम्बन्ध की असंगतियाँ

सामने आने लगीं। जैसे कि भक्तिकाल के उदभव सम्बन्धी उनकी धारणा बहुत शीघ्र अयथार्थ सिद्ध हुई। वस्तुतः साहित्य को शिक्षित जन नहीं, सामान्य जन-चेतना के साथ सम्बद्ध करने की आवश्यकता थी। उनका औसतवाद का सिद्धान्त भी अवैज्ञानिक है। इस अवैज्ञानिक सिद्धान्त के कारण ही उन्हें कवियों का एक फूटकल खाता भी खोलना पड़ा था। यदि वे युगों के विविध अन्तर्विरोधों को प्रभावित कर सके होते तो ऐसी असंगतियाँ न आतीं।

निबन्धकार–रामचन्द्र शुक्ल का तीसरा महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्त्व निबन्धकार का है। उनके निबन्धों के सम्बन्ध में बहुधा यह प्रश्न उठाया गया है कि वे विषयप्रधान निबन्धकार हैं या व्यक्तिप्रधान। वस्तुतः उनके निबन्घ आत्मव्यंजक या भावात्मक तो किसी प्रकार भी नहीं कहे जा सकते हाँ इतना अवश्य है कि बीच-बीच में आत्मपरक अंश आ गये हैं, पर ऐसे अंश इतने कम हैं कि उनको प्रमाण नहीं माना जा सकता। उनके निबन्ध अत्यन्त गहरे रूप में बौद्धिक एवं विषयनिष्ठ हैं। उन्हें हम ललित निबन्ध की कोटि में नहीं रख सकते। पर इन निबन्धों में जो गम्भीरता, विवेचन में जो पाण्डित्य एवं तार्किकता तथा शैली में जो कसाव मिलता है, वह इन्हें अभूतपूर्व दीप्ति दे देता है। वास्वत में निबन्धों के क्षेत्र में शुक्ल जी की परम्परा हिन्दी में बराबर चलती जा रही है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि उनके निबन्धों के आलोकपुंज के समक्ष कुछ दिनों के लिए लंलित भावात्मक निबन्धों का प्रणयन एकदम विरल हो गया। उनके महत्त्वपूर्ण निबन्धों को मनोविकार सम्बन्धी, सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी एवं व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी तीन भागों में बाँटा जा सकता है। यद्यपि इनमें आन्तरिक सम्बन्ध सूत्र बना रहता है। इनमें भी प्रथम प्रकार के निबन्ध शुक्ल जी के महत्तम लेखन के अंतर्गत परिगणनीय हैं। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ीबोली में फुटकर कविताएँ लिखीं तथा एडविन आर्नल्ड के 'लाइट ऑफ एशिया' का 'बुद्ध चरित' के नाम ब्रजभाषा में पद्यानुवाद से किया। मनोविज्ञान, इतिहास, संस्कृति, शिक्षा एवं व्यवहार संबंधी लेखों एवं पत्रिकाओं के भी अनुवाद किए हैं। दर्शन के क्षेत्र में भी उनकी 'विश्व प्रपंच' पुस्तक उपलब्ध है। संपूर्ण लेखन में उनका सबसे महत्त्वपूर्ण एवं कालजयी रूप समीक्षक, निबंध-लेखक एवं साहित्यिक इतिहासकार के रूप में प्रकट हुआ।

साहित्यिक योगदान–बहुमुखी प्रतिभा के धनी शुक्ल जी को हिंदी साहित्य के उन्नायकों में अति विशिष्ठ स्थान प्राप्त है। आपने निबंधकार, समालोचक, संपादक, अनुवादक, कोशकार आदि विभिन्न रूपों में हिंदी-साहित्य

को समृद्ध किया। आचार्य शुल्क को हिंदी के मनोवैज्ञानिक निबंध लेखन परम्परा का जनक माना जाता है। उन्होंने हिंदी–साहित्य में इतिहास लेखन की परम्परा की शुरुआत की। इस दृष्टि से उनका हिंदी–साहित्य का इतिहास आज भी विशिष्ठ स्थान है।

प्रेमचंद

प्रेमचंद (31 जुलाई 1880–8 अक्टूबर 1936) हिन्दी और उर्दू के महानतम भारतीय लेखकों में से एक थे। मूल नाम धनपत राय श्रीवास्तव, प्रेमचंद को नवाब राय और मुंशी प्रेमचंद के नाम से भी जाना जाता है। उपन्यास के क्षेत्र में उनके योगदान को देखकर बंगाल के विख्यात उपन्यासकार शरतचंद्र चट्टोपाध्याय ने उन्हें उपन्यास सम्राट कहकर संबोधित किया था। प्रेमचंद ने हिन्दी कहानी और उपन्यास की एक ऐसी परंपरा का विकास किया जिसने पूरी सदी के साहित्य का मार्गदर्शन किया। आगामी एक पूरी पीढ़ी को गहराई तक प्रभावित कर प्रेमचंद ने साहित्य की यथार्थवादी परंपरा की नींव रखी। उनका लेखन हिन्दी साहित्य की एक ऐसी विरासत है जिसके बिना हिन्दी के विकास का अध्ययन अधूरा होगा। वे एक संवेदनशील लेखक, सचेत नागरिक, कुशल वक्ता तथा सुधी (विद्वान) संपादक थे। बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में, जब हिन्दी में तकनीकी सुविधाओं का अभाव था,उनका योगदान अतुलनीय है। प्रेमचंद के बाद जिन लोगों ने साहित्य को सामाजिक सरोकारों और प्रगतिशील मूल्यों के साथ आगे बढ़ाने का काम किया, उनमें यशपाल से लेकर मुक्तिबोध तक शामिल हैं। उनके पुत्र हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार अमृतराय हैं, जिन्होंने इन्हें कलम का सिपाही नाम दिया था।

जीवन परिचय

प्रेमचंद का जन्म वाराणसी के निकट लमही गाँव में हुआ था। उनकी माता का नाम आनन्दी देवी था तथा पिता मुंशी अजायबराय लमही में डाकमुंशी थे। उनकी शिक्षा का आरंभ उर्दू, फारसी से हुआ और जीवनयापन का अध्यापन से पढ़ने का शौक उन्हें बचपन से ही लग गया। 13 साल की उम्र में ही उन्होंने तिलिस्म–ए–होशरुबा पढ़ लिया और उन्होंने उर्दू के मशहूर रचनाकार रतननाथ 'शरसार', मिर्जा हादी रुस्वा और मौलाना शरर के उपन्यासों से परिचय प्राप्त कर लिया। 1898 में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वे एक स्थानीय

विद्यालय में शिक्षक नियुक्त हो गए। नौकरी के साथ ही उन्होंने पढ़ाई जारी रखी।1910 में उन्होंने अंग्रेजी, दर्शन, फारसी और इतिहास लेकर इंटर पास किया और 1919 में बी.ए. पास करने के बाद शिक्षा विभाग के इंस्पेक्टर पद पर नियुक्त हुए।

सात वर्ष की अवस्था में उनकी माता तथा चौदह वर्ष की अवस्था में पिता का देहान्त हो जाने के कारण उनका प्रारंभिक जीवन संघर्षमय रहा। उनका पहला विवाह उन दिनों की परंपरा के अनुसार पंद्रह साल की उम्र में हुआ, जो सफल नहीं रहा। वे आर्य समाज से प्रभावित रहे जो उस समय का बहुत बड़ा धार्मिक और सामाजिक आंदोलन था। उन्होंने विधवा-विवाह का समर्थन किया और 1906 में दूसरा विवाह अपनी प्रगतिशील परंपरा के अनुरूप बाल-विधवा शिवरानी देवी से किया। उनकी तीन संताने हुई–श्रीपत राय, अमृत राय और कमला देवी श्रीवास्तव। 1910 में उनकी रचना सोजे-वतन (राष्ट्र का विलाप) के लिए हमीरपुर के जिला कलेक्टर ने तलब किया और उन पर जनता को भड़काने का आरोप लगाया। सोजे-वतन की सभी प्रतियाँ जब्त कर नष्ट कर दी गईं। कलेक्टर ने नवाबराय को हिदायत दी कि अब वे कुछ भी नहीं लिखेंगे, यदि लिखा तो जेल भेज दिया जाएगा। इस समय तक प्रेमचंद, धनपत राय नाम से लिखते थे। उर्दू में प्रकाशित होने वाली जमाना पत्रिका के सम्पादक और उनके अजीज दोस्त मुंशी दयानारायण निगम ने उन्हें प्रेमचंद नाम से लिखने की सलाह दी। इसके बाद वे प्रेमचन्द के नाम से लिखने लगे। उन्होंने आरंभिक लेखन जमाना पत्रिका में ही किया। जीवन के अंतिम दिनों में वे गंभीर रूप से बीमार पड़े। उनका उपन्यास मंगलसूत्र पूरा नहीं हो सका और लम्बी बीमारी के बाद 8 अक्टूबर 1936 को उनका निधन हो गया। उनका अंतिम उपन्यास मंगल सूत्र उनके पुत्र अमृत ने पूरा किया।

कार्यक्षेत्र

प्रेमचंद आधुनिक हिन्दी कहानी के पितामह और उपन्यास सम्राट माने जाते हैं। यों तो उनके साहित्यिक जीवन का आरंभ 1901 से हो चुका था पर उनकी पहली हिन्दी कहानी सरस्वती पत्रिका के दिसम्बर अंक में 1915 में सौत नाम से प्रकाशित हुई और 1936 में अंतिम कहानी कफन नाम से प्रकाशित हुई। बीस वर्षों की इस अवधि में उनकी कहानियों के अनेक रंग देखने को मिलते हैं। उनसे पहले हिंदी में काल्पनिक, एय्यारी और पौराणिक धार्मिक रचनाएं ही की जाती

थी। प्रेमचंद ने हिंदी में यथार्थवाद की शुरूआत की। ' भारतीय साहित्य का बहुत सा विमर्श जो बाद में प्रमुखता से उभरा चाहे वह दलित साहित्य हो या नारी साहित्य उसकी जड़ें कहीं गहरे प्रेमचंद के साहित्य में दिखाई देती हैं।' प्रेमचंद के लेख 'पहली रचना' के अनुसार उनकी पहली रचना अपने मामा पर लिखा व्यंग्य थी, जो अब अनुपलब्ध्ध है। उनका पहला उपलब्ध लेखन उनका उर्दू उपन्यास 'असरारे मआबिद' है। प्रेमचंद का दूसरा उपन्यास 'हमखुर्मा व हमसवाब' जिसका हिंदी रूपांतरण 'प्रेमा' नाम से 1907 में प्रकाशित हुआ। इसके बाद प्रेमचंद का पहला कहानी संग्रह सोजे-वतन नाम से आया जो 1908 में प्रकाशित हुआ। सोजे-वतन यानी देश का दर्द। देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत होने के कारण इस पर अंग्रेजी सरकार ने रोक लगा दी और इसके लेखक को भविष्य में इस तरह का लेखन न करने की चेतावनी दी। इसके कारण उन्हें नाम बदलकर लिखना पड़ा। 'प्रेमचंद' नाम से उनकी पहली कहानी बड़े घर की बेटी जमाना पत्रिका के दिसम्बर 1910 के अंक में प्रकाशित हुई। मरणोपरांत उनकी कहानियाँ मानसरोवर नाम से 8 खंडों में प्रकाशित हुई। कथा सम्राट प्रेमचन्द का कहना था कि साहित्यकार देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई नहीं बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है। यह बात उनके साहित्य में उजागर हुई है। 1921 में उन्होंने महात्मा गांधी के आह्वान पर अपनी नौकरी छोड़ दी। कुछ महीने मर्यादा पत्रिका का संपादन भार संभाला, छह साल तक माधुरी नामक पत्रिका का संपादन किया, 1930 में बनारस से अपना मासिक पत्र हंस शुरू किया और 1932 के आरंभ में जागरण नामक एक साप्ताहिक और निकाला। उन्होंने लखनऊ में 1936 में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के सम्मेलन की अध्यक्षता की। उन्होंने मोहन दयाराम भवनानी की अजंता सिनेटोन कंपनी में कहानी-लेखक की नौकरी भी की। 1934 में प्रदर्शित मजदूर नामक फिल्म की कथा लिखी और कंट्रेक्ट की साल भर की अवधि पूरी किये बिना ही दो महीने का वेतन छोड़कर बनारस भाग आये क्योंकि बंबई (आधुनिक मुंबई) का और उससे भी ज़्यादा वहाँ की फिल्मी दुनिया का हवा-पानी उन्हें रास नहीं आया। उन्होंने मूल रूप से हिंदी में 1915 से कहानियां लिखना और 1918 (सेवासदन) से उपन्यास लिखना शुरू किया। प्रेमचंद ने कुल करीब तीन सौ कहानियाँ, लगभग एक दर्जन उपन्यास और कई लेख लिखे। उन्होंने कुछ नाटक भी लिखे और कुछ अनुवाद कार्य भी किया। प्रेमचंद के कई साहित्यिक कृतियों का अंग्रेजी, रूसी, जर्मन सहित अनेक भाषाओं

में अनुवाद हुआ। गोदान उनकी कालजयी रचना है। कफन उनकी अंतिम कहानी मानी जाती है। उन्होंने हिंदी और उर्दू में पूरे अधिकार से लिखा। उनकी अधिकांश रचनाएं मूल रूप से उर्दू में लिखी गई हैं, लेकिन उनका प्रकाशन हिंदी में पहले हुआ। तैंतीस वर्षों के रचनात्मक जीवन में वे साहित्य की ऐसी विरासत सौंप गए जो गुणों की दृष्टि से अमूल्य है और आकार की दृष्टि से असीमीत।

कृतियाँ

प्रेमचन्द की रचना-दृष्टि विभिन्न साहित्य रूपों में प्रवृत्त हुई। बहुमुखी प्रतिभा संपन्न प्रेमचंद ने उपन्यास, कहानी, नाटक, समीक्षा, लेख, सम्पादकीय, संस्मरण आदि अनेक विधाओं में साहित्य की सृष्टि की। प्रमुखतया उनकी ख्याति कथाकार के तौर पर हुई और अपने जीवन काल में ही वे 'उपन्यास सम्राट' की उपाधि से सम्मानित हुए। उन्होंने कुल 15 उपन्यास, 300 से कुछ अधिक कहानियाँ, 3 नाटक, 10 अनुवाद, 7 बाल-पुस्तकें तथा हजारों पृष्ठों के लेख, सम्पादकीय, भाषण, भूमिका, पत्र आदि की रचना की लेकिन जो यश और प्रतिष्ठा उन्हें उपन्यास और कहानियों से प्राप्त हुई, वह अन्य विधाओं से प्राप्त न हो सकी। यह स्थिति हिन्दी और उर्दू भाषा दोनों में समान रूप से दिखायी देती है।

उपन्यास

प्रेमचंद के उपन्यास न केवल हिन्दी उपन्यास साहित्य में बल्कि संपूर्ण भारतीय साहित्य में मील के पत्थर हैं। प्रेमचन्द कथा-साहित्य में उनके उपन्यासकार का आरम्भ पहले होता है। उनका पहला उर्दू उपन्यास (अपूर्ण) 'असरारे मआबिद उर्फ देवस्थान रहस्य' उर्दू साप्ताहिक 'आवाज-ए-खल्क' में 8 अक्टूबर, 1903 से 1 फरवरी, 1905 तक धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ। उनका दूसरा उपन्यास 'हमखुर्मा व हमसवाब' जिसका हिंदी रूपांतरण 'प्रेमा' नाम से 1907 में प्रकाशित हुआ। चूंकि प्रेमचंद मूल रूप से उर्दू के लेखक थे और उर्दू से हिंदी में आए थे, इसलिए उनके सभी आरंभिक उपन्यास मूल रूप से उर्दू में लिखे गए और बाद में उनका हिन्दी तर्जुमा किया गया। उन्होंने 'सेवासदन' (1918) उपन्यास से हिंदी उपन्यास की दुनिया में प्रवेश किया। यह मूल रूप से उन्होंने 'बाजारे-हुस्न' नाम से पहले उर्दू में लिखा, लेकिन इसका हिंदी रूप 'सेवासदन' पहले प्रकाशित कराया। 'सेवासदन'

एक नारी के वेश्या बनने की कहानी है। डॉ रामविलास शर्मा के अनुसार 'सेवासदन' में व्यक्त मुख्य समस्या भारतीय नारी की पराधीनता है। इसके बाद किसान जीवन पर उनका पहला उपन्यास 'प्रेमाश्रम' (1921) आया। इसका मसौदा भी पहले उर्दू में 'गोशाए-आफियत' नाम से तैयार हुआ था, लेकिन 'सेवासदन' की भांति इसे पहले हिंदी में प्रकाशित कराया। 'प्रेमाश्रम' किसान जीवन पर लिखा हिंदी का संभवतः पहला उपन्यास है। यह अवध के किसान आंदोलनों के दौर में लिखा गया। इसके बाद 'रंगभूमि' (1925), 'कायाकल्प' (1926), 'निर्मला' (1927), 'गबन' (1931), 'कर्मभूमि' (1932) से होता हुआ यह सफर 'गोदान' (1936) तक पूर्णता को प्राप्त हुआ। रंगभूमि में प्रेमचंद एक अंधे भिखारी सूरदास को कथा का नायक बनाकर हिंदी कथा साहित्य में क्रांतिकारी बदलाव का सूत्रपात कर चुके थे।

गोदान का हिंदी साहित्य ही नहीं, विश्व साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें प्रेमचंद की साहित्य संबंधी विचारधारा 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' से 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' तक की पूर्णता प्राप्त करती है। एक सामान्य किसान को पूरे उपन्यास का नायक बनाना भारतीय उपन्यास परंपरा की दिशा बदल देने जैसा था। सामंतवाद और पूंजीवाद के चक्र में फंसकर हुई कथानायक होरी की मृत्यु पाठकों के जहन को झकझोर कर रख जाती है। किसान जीवन पर अपने पिछले उपन्यासों 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' में प्रेमंचद यथार्थ की प्रस्तुति करते-करते उपन्यास के अंत तक आदर्श का दामन थाम लेते हैं। लेकिन गोदान का कारुणिक अंत इस बात का गवाह है कि तब तक प्रेमचंद का आदर्शवाद से मोहभंग हो चुका था। यह उनकी आखिरी दौर की कहानियों में भी देखा जा सकता है। 'मंगलसूत्र' प्रेमचंद का अधूरा उपन्यास है। प्रेमचंद के उपन्यासों का मूल कथ्य भारतीय ग्रामीण जीवन था। प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास को जो ऊँचाई प्रदान की, वह परवर्ती उपन्यासकारों के लिए एक चुनौती बनी रही। प्रेमचंद के उपन्यास भारत और दुनिया की कई भाषाओं में अनुदित हुए, खासकर उनका सर्वाधिक चर्चित उपन्यास गोदान।

असरारे मआबिद उर्फ देवस्थान रहस्य' उर्दू साप्ताहिक 'श्आवाज-ए-खल्कघ्' में 8 अक्टूबर, 1903 से 1 फरवरी, 1905 तक प्रकाशित। सेवासदन 1918, प्रेमाश्रम 1922, रंगभूमि 1925, निर्मला 1925, कायाकल्प 1927, गबन 1928, कर्मभूमि 1932, गोदान 1936, मंगलसूत्र (अपूर्ण), प्रतिज्ञा, प्रेमा, रंगभूमि, मनोरमा, वरदान।

कहानी

उनकी अधिकतर कहानियाँ में निम्न व मध्यम वर्ग का चित्रण है। डॉ. कमलकिशोर गोयनका ने प्रेमचंद की संपूर्ण हिंदी–उर्दू कहानी को प्रेमचंद कहानी रचनावली नाम से प्रकाशित कराया है। उनके अनुसार प्रेमचंद ने कुल 301 कहानियाँ लिखी हैं जिनमें 3 अभी अप्राप्य हैं। प्रेमचंद का पहला कहानी संग्रह सोजे वतन नाम से जून 1908 में प्रकाशित हुआ। इसी संग्रह की पहली कहानी दुनिया का सबसे अनमोल रतन को आम तौर पर उनकी पहली प्रकाशित कहानी माना जाता रहा है। डॉ. गोयनका के अनुसार कानपुर से निकलने वाली उर्दू मासिक पत्रिका जमाना के अप्रैल अंक में प्रकाशित सांसारिक प्रेम और देश–प्रेम (इश्के दुनिया और हुब्बे वतन) वास्तव में उनकी पहली प्रकाशित कहानी है।

उनके जीवन काल में कुल नौ कहानी संग्रह प्रकाशित हुए—सोजे वतन, 'सप्त सरोज', 'नवनिधि', 'प्रेमपूर्णिमा', 'प्रेम–पचीसी', 'प्रेम–प्रतिमा', 'प्रेम–द्वादशी', 'समरयात्र', 'मानसरोवरश—भाग एक व दो और 'कफन'। उनकी मृत्यु के बाद उनकी कहानियाँ 'मानसरोवर' शीर्षक से 8 भागों में प्रकाशित हुई। प्रेमचंद साहित्य के मुदराधिकार से मुक्त होते ही विभिन्न संपादकों और प्रकाशकों ने प्रेमचंद की कहानियों के संकलन तैयार कर प्रकाशित कराए। उनकी कहानियों में विषय और शिल्प की विविधता है। उन्होंने मनुष्य के सभी वर्गों से लेकर पशु–पक्षियों तक को अपनी कहानियों में मुख्य पात्र बनाया है। उनकी कहानियों में किसानों, मजदूरों, स्त्रियों, दलितों, आदि की समस्याएं गंभीरता से चित्रित हुई हैं। उन्होंने समाजसुधार, देशप्रेम, स्वाधीनता संग्राम आदि से संबंधित कहानियाँ लिखी हैं। उनकी ऐतिहासिक कहानियाँ तथा प्रेम संबंधी कहानियाँ भी काफी लोकप्रिय साबित हुई। प्रेमचंद की प्रमुख कहानियों में ये नाम लिये जा सकते हैं–

शपंच परमेश्वर', 'गुल्ली डंडा', 'दो बैलों की कथा', 'ईदगाह', 'बड़े भाई साहब', 'पूस की रात', 'कफन', 'ठाकुर का कुआँ', 'सद्गति', 'बूढ़ी काकी', 'तावान', 'विध्वंस', 'दूध का दाम', 'मंत्र' आदि।

नाटक

प्रेमचंद ने संग्राम (1923), कर्बला (1924) और प्रेम की वेदी (1933) नाटकों की रचना की। ये नाटक शिल्प और संवेदना के स्तर पर अच्छे हैं, लेकिन उनकी कहानियों और उपन्यासों ने इतनी ऊँचाई प्राप्त कर ली थी कि नाटक के

क्षेत्र में प्रेमचंद को कोई खास सफलता नहीं मिली। ये नाटक वस्तुतः संवादात्मक उपन्यास ही बन गए हैं।

लेखधनिबंध

प्रेमचंद एक संवेदनशील कथाकार ही नहीं, सजग नागरिक व संपादक भी थे। उन्होंने 'हंस', 'माधुरी', 'जागरण' आदि पत्र–पत्रिकाओं का संपादन करते हुए व तत्कालीन अन्य सहगामी साहित्यिक पत्रिकाओं 'चाँद', 'मर्यादा', 'स्वदेश' आदि में अपनी साहित्यिक व सामाजिक चिंताओं को लेखों या निबंधों के माध्यम से अभिव्यक्त किया। अमृतराय द्वारा संपादित 'प्रेमचंद–विविध प्रसंग' (तीन भाग) वास्तव में प्रेमचंद के लेखों का ही संकलन है। प्रेमचंद के लेख प्रकाशन संस्थान से 'कुछ विचार' शीर्षक से भी छपे हैं। प्रेमचंद के मशहूर लेखों में निम्न लेख शुमार होते हैं–साहित्य का उद्देश्य, पुराना जमाना नया जमाना, स्वराज के फायदे, कहानी कला (1,2,3), कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार, हिंदी–उर्दू की एकता, महाजनी सभ्यता, उपन्यास, जीवन में साहित्य का स्थान आदि।

अनुवाद

प्रेमचंद एक सफल अनुवादक भी थे। उन्होंने दूसरी भाषाओं के जिन लेखकों को पढ़ा और जिनसे प्रभावित हुए, उनकी कृतियों का अनुवाद भी किया। 'टॉलस्टॉय की कहानियाँ' (1923), गाल्सवर्दी के तीन नाटकों का हड़ताल (1930), चाँदी की डिबिया (1931) और न्याय (1931) नाम से अनुवाद किया। आजाद-कथा (उर्दू से, रतननाथ सरशार), पिता के पत्र पुत्री के नाम (अंग्रेजी से, जवाहरलाल नेहरू) उनके द्वारा रतननाथ सरशार के उर्दू उपन्यास फसान-ए-आजाद का हिंदी अनुवाद आजाद कथा बहुत मशहूर हुआ।

विविध

1. बाल साहित्य–रामकथा, कुत्ते की कहानी, जंगल की कहानियाँ, दुर्गादास
2. विचार–प्रेमचंद–विविध प्रसंग, प्रेमचंद के विचार (तीन खंडों में)
3. संपादन–मर्यादा, माधुरी, हंस, जागरण।

समालोचना

प्रेमचन्द उर्दू का संस्कार लेकर हिन्दी में आए थे और हिन्दी के महान लेखक बने। हिन्दी को अपना खास मुहावरा और खुलापन दिया। कहानी और

उपन्यास दोनो में युगान्तरकारी परिवर्तन किए। उन्होने साहित्य में सामयिकता प्रबल आग्रह स्थापित किया। आम आदमी को उन्होंने अपनी रचनाओं का विषय बनाया और उसकी समस्याओं पर खुलकर कलम चलाते हुए उन्हें साहित्य के नायकों के पद पर आसीन किया। प्रेमचंद से पहले हिंदी साहित्य राजा-रानी के किस्सों, रहस्य-रोमांच में उलझा हुआ था। प्रेमचंद ने साहित्य को सच्चाई के धरातल पर उतारा। उन्होंने जीवन और कालखंड की सच्चाई को पन्ने पर उतारा। वे सांप्रदायिकता, भ्रष्टाचार, जमींदारी, कर्जखोरी, गरीबी, उपनिवेशवाद पर आजीवन लिखते रहे। प्रेमचन्द की ज्यादातर रचनाएँ उनकी ही गरीबी और दैन्यता की कहानी कहती है। ये भी गलत नहीं है कि वे आम भारतीय के रचनाकार थे। उनकी रचनाओं में वे नायक हुए, जिसे भारतीय समाज अछूत और घृणित समझा था। उन्होंने सरल, सहज और आम बोल-चाल की भाषा का उपयोग किया और अपने प्रगतिशील विचारों को दृढ़ता से तर्क देते हुए समाज के सामने प्रस्तुत किया। 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ के पहले सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने कहा कि लेखक स्वभाव से प्रगतिशील होता है और जो ऐसा नहीं है वह लेखक नहीं है। प्रेमचंद हिन्दी साहित्य के युग प्रवर्तक हैं। उन्होंने हिन्दी कहानी में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की एक नई परंपरा शुरू की।

प्रेमचंद के जीवन संबंधी विवाद

इतने महान रचनाकार होने के बावजूद प्रेमचंद का जीवन आरोपों से मुक्त नहीं है। प्रेमचंद के अध्येता कमलकिशोर गोयनका ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद–अध्ययन की नई दिशाएं' में प्रेमचंद के जीवन पर कुछ आरोप लगाकर उनके साहित्य का महत्त्व कम करने की कोशिश की। प्रेमचंद पर लगे मुख्य आरोप हैं–प्रेमचंद ने अपनी पहली पत्नी को बिना वजह छोड़ा और दूसरे विवाह के बाद भी उनके अन्य किसी महिला से संबंध रहे (जैसा कि शिवरानी देवी ने 'प्रेमचंद घर में' में उद्धृत किया है), प्रेमचंद ने 'जागरण विवाद' में विनोदशंकर व्यास के साथ धोखा किया, प्रेमचंद ने अपनी प्रेस के वरिष्ठ कर्मचारी प्रवासीलाल वर्मा के साथ धोखाधडी की, प्रेमचंद की प्रेस में मजदूरों ने हड़ताल की, प्रेमचंद ने अपनी बेटी के बीमार होने पर झाड़-फूंक का सहारा लिया आदि। कमलकिशोर गोयनका द्वारा लगाए गए ये आरोप प्रेमचंद के जीवन का एक पक्ष जरूर हमारे सामने लाते हैं जिसमें उनकी इंसानी कमजोरियों जाहिर होती हैं, लेकिन उनके व्यापक साहित्य के मूल्यांकन पर इन आरोपों का कोई असर नहीं पड़ पाया है। प्रेमचंद्र को लोग

आज उनकी काबिलियत की वजह से याद करते हैं, जो विवादों को बहुत कम जगह देती है।

मुंशी के विषय में विवाद

प्रेमचंद को प्रायः 'मुंशी प्रेमचंद' के नाम से जाना जाता है। प्रेमचंद के नाम के साथ 'मुंशी' कब और कैसे जुड़ गया? इस विषय में अधिकांश लोग यही मान लेते हैं कि प्रारम्भ में प्रेमचंद अध्यापक रहे। अध्यापकों को प्रायः उस समय मुंशी जी कहा जाता था। इसके अतिरिक्त कायस्थों के नाम के पहले सम्मान स्वरूप 'मुंशी' शब्द लगाने की परम्परा रही है। संभवतः प्रेमचंद जी के नाम के साथ मुंशी शब्द जुड़कर रूढ़ हो गया। प्रोफेसर शुकदेव सिंह के अनुसार प्रेमचंद जी ने अपने नाम के आगे 'मुंशी' शब्द का प्रयोग स्वयं कभी नहीं किया। उनका यह भी मानना है कि मुंशी शब्द सम्मान सूचक है, जिसे प्रेमचंद के प्रशंसकों ने कभी लगा दिया होगा। यह तथ्य अनुमान पर आधारित है। लेकिन प्रेमचंद के नाम के साथ मुंशी विशेषण जुड़ने का प्रामाणिक कारण यह है कि 'हंस' नामक पत्र प्रेमचंद एवं 'कन्हैयालाल मुंशी' के सह संपादन में निकलता था। जिसकी कुछ प्रतियों पर कन्हैयालाल मुंशी का पूरा नाम न छपकर मात्र 'मुंशी' छपा रहता था साथ ही प्रेमचंद का नाम इस प्रकार छपा होता था–

(हंस की प्रतियों पर देखा जा सकता है)।

मुंशी, प्रेमचंद

शहंस के संपादक प्रेमचंद तथा कन्हैयालाल मुंशी थे। परन्तु कालांतर में पाठकों ने 'मुंशी' तथा 'प्रेमचंद' को एक समझ लिया और 'प्रेमचंदश–'मुंशी प्रेमचंद' बन गए। यह स्वाभाविक भी है। सामान्य पाठक प्रायः लेखक की कृतियों को पढ़ता है, नाम की सूक्ष्मता को नहीं देखा करता। आज प्रेमचंद का मुंशी अलंकरण इतना रूढ़ हो गया है कि मात्र 'मुंशी' से ही प्रेमचंद का बोध हो जाता है तथा 'मुंशी' न कहने से प्रेमचंद का नाम अधूरा-अधूरा सा लगता है।

विरासत

प्रेमचंद ने अपनी कला के शिखर पर पहुँचने के लिए अनेक प्रयोग किए। जिस युग में प्रेमचंद ने कलम उठाई थी, उस समय उनके पीछे ऐसी कोई ठोस विरासत नहीं थी और न ही विचार और प्रगतिशीलता का कोई मॉडल ही उनके

सामने था। लेकिन होते-होते उन्होंने गोदान जैसे कालजयी उपन्यास की रचना की जो कि एक आधुनिक क्लासिक माना जाता है। उन्होंने चीजों को खुद गढ़ा और खुद आकार दिया। जब भारत का स्वतंत्रता आंदोलन चल रहा था तब उन्होंने कथा साहित्य द्वारा हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं को जो अभिव्यक्ति दी उसने सियासी सरगर्मी को, जोश को और आंदोलन को सभी को उभारा और उसे ताकतवर बनाया और इससे उनका लेखन भी ताकतवर होता गया। प्रेमचंद इस अर्थ में निश्चित रूप से हिंदी के पहले प्रगतिशील लेखक कहे जा सकते हैं। 1936 में उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ के पहले सम्मेलन को सभापति के रूप में संबोधन किया था। उनका यही भाषण प्रगतिशील आंदोलन के घोषणा पत्र का आधार बना। प्रेमचंद ने हिन्दी में कहानी की एक परंपरा को जन्म दिया और एक पूरी पीढ़ी उनके कदमों पर आगे बढ़ी, 50-60 के दशक में रेणु, नागार्जुन और इनके बाद श्रीनाथ सिंह ने ग्रामीण परिवेश की कहानियाँ लिखी हैं, वो एक तरह से प्रेमचंद की परंपरा के तारतम्य में आती हैं।

प्रेमचंद एक क्रांतिकारी रचनाकार थे, उन्होंने न केवल देशभक्ति बल्कि समाज में व्याप्त अनेक कुरीतियों को देखा और उनको कहानी के माध्यम से पहली बार लोगों के समक्ष रखा। उन्होंने उस समय के समाज की जो भी समस्याएँ थीं उन सभी को चित्रित करने की शुरुआत कर दी थी। उसमें दलित भी आते हैं, नारी भी आती हैं। ये सभी विषय आगे चलकर हिन्दी साहित्य के बड़े विमर्श बने। प्रेमचंद हिन्दी सिनेमा के सबसे अधिक लोकप्रिय साहित्यकारों में से हैं। सत्यजित राय ने उनकी दो कहानियों पर यादगार फिल्में बनाई। 1977 में शतरंज के खिलाड़ी और 1981 में सद्गति। उनके देहांत के दो वर्षों बाद के सुब्रमण्यम ने 1938 में सेवासदन उपन्यास पर फिल्म बनाई जिसमें सुब्बालक्ष्मी ने मुख्य भूमिका निभाई थी। 1977 में मृणाल सेन ने प्रेमचंद की कहानी कफन पर आधारित ओका ऊरी कथा नाम से एक तेलुगू फिल्म बनाई जिसको सर्वश्रेष्ठ तेलुगू फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला। 1963 में गोदान और 1966 में गबन उपन्यास पर लोकप्रिय फिल्में बनीं। 1980 में उनके उपन्यास पर बना टीवी धारावाहिक निर्मला भी बहुत लोकप्रिय हुआ था।

प्रेमचंद संबंधी नए अध्ययन

हिंदी साहित्य व आलोचना में प्रेमचंद को प्रतिष्ठित करने का श्रेय डॉ. रामविलास शर्मा को दिया जाता है, परन्तु यह एक गलत धारणा है। दरअसल एक

कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में प्रेमचंद की लोकप्रियता उनके जीवनकाल में ही इतनी ज्यादा थी कि उन्हें 'उपन्यास सम्राट' कहा जाने लगा था। प्रेमचंद को स्थापित करने वाले उनके पाठक थे, आलोचक नहीं। प्रेमचंद के पत्रों को सहेजने का काम अमृतराय और मदनगोपाल ने किया। प्रेमचंद पर हुए नए अध्ययनों में कमलकिशोर गोयनका और डॉ. धर्मवीर का नाम उल्लेखनीय है। कमलकिशोर गोयनका ने प्रेमचंद के जीवन के कमजोर पक्षों को उजागर करने के साथ-साथ प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य (दो भाग) व 'प्रेमचंद विश्वकोश' (दो भाग) का संपादन भी किया है। डॉ. धर्मवीर ने दलित दृष्टि से प्रेमचंद साहित्य का मूलयांकन करते हुए प्रेमचंद–सामंत का मुंशी व प्रेमचंद की नीली आँखें नाम से पुस्तकें लिखी हैं।

पुरस्कार व सम्मान

प्रेमचंद की स्मृति में भारतीय डाकतार विभाग की ओर से 31 जुलाई 1980 को उनकी जन्मशती के अवसर पर 30 पैसे मूल्य का एक डाक टिकट जारी किया गया। गोरखपुर के जिस स्कूल में वे शिक्षक थे, वहाँ प्रेमचंद साहित्य संस्थान की स्थापना की गई है। इसके बरामदे में एक भित्तिलेख है जिसका चित्र दाहिनी ओर दिया गया है। यहाँ उनसे संबंधित वस्तुओं का एक संग्रहालय भी है। जहाँ उनकी एक वक्षप्रतिमा भी है। प्रेमचंद की 125वीं सालगिरह पर सरकार की ओर से घोषणा की गई कि वाराणसी से लगे इस गाँव में प्रेमचंद के नाम पर एक स्मारक तथा शोध एवं अध्ययन संस्थान बनाया जाएगा। प्रेमचंद की पत्नी शिवरानी देवी ने प्रेमचंद घर में नाम से उनकी जीवनी लिखी और उनके व्यक्तित्त्व के उस हिस्से को उजागर किया है, जिससे लोग अनभिज्ञ थे। यह पुस्तक 1944 में पहली बार प्रकाशित हुई थी, लेकिन साहित्य के क्षेत्र में इसके महत्त्व का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसे दुबारा 2005 में संशोधित करके प्रकाशित की गई, इस काम को उनके ही नाती प्रबोध कुमार ने अंजाम दिया। इसका अंग्रेजी व हसन मंजर का किया हुआ उर्दू अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। उनके ही बेटे अमृत राय ने कलम का सिपाही नाम से पिता की जीवनी लिखी है। उनकी सभी पुस्तकों के अंग्रेजी व उर्दू रूपांतर तो हुए ही हैं, चीनी, रूसी आदि अनेक विदेशी भाषाओं में उनकी कहानियाँ लोकप्रिय हुई हैं।

भगवती चरण वर्मा

भगवती चरण वर्मा (30 अगस्त 1903–5 अक्टूबर 1988) हिन्दी के साहित्यकार थे। उन्हें साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में भारत सरकार द्वारा सन 1971 में पद्‌म भूषण से सम्मानित किया गया था।

जीवन परिचय

भगवती चरण वर्मा का जन्म उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के शफीपुर गाँव में हुआ था। वर्माजी ने ख्व्इलाहाबादद्यप्रायगराज से बी.ए., एल.एल.बी. की डिग्री प्राप्त की और प्रारम्भ में कविता लेखन किया। फिर उपन्यासकार के नाते विख्यात हुए। 1933 के करीब प्रतापगढ़ के राजा साहब भदरी के साथ रहे। 1936 के लगभग फिल्म कारपोरेशन, कलकत्ता में कार्य किया। कुछ दिनों 'विचार' नामक साप्ताहिक का प्रकाशन–संपादन, इसके बाद बंबई में फिल्म–कथालेखन तथा दैनिक 'नवजीवन' का सम्पादन, फिर आकाशवाणी के कई केंन्दों में कार्य। बाद में, 1957 से मृत्यु–पर्यंत स्वतंत्न साहित्यकार के रूप में लेखन। 'चित्रलेखा' उपन्यास पर दो बार फिल्म–निर्माण और 'भूले–बिसरे चित्र' साहित्य अकादमी से सम्मानित। पद्‌मभूषण तथा राज्यसभा की मानद सदस्यता प्राप्त।

कार्यक्षेत्र

प्रारंभ में कविता लेखन फिर उपन्यासकार के नाते विख्यात। 1936 में फिल्म कारपोरेशन कलकत्ता में कार्य। विचार नामक साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन संपादन। इसके बाद बम्बई में फिल्म कथा लेखन तथा दैनिक नवजीवन का संपादन। आकाशवाणी के कई केन्द्रों में कार्य। 1957 से स्वतंत्र लेखन। 'चित्रलेखा' उपन्यास पर दो बार फिल्म निर्माण और भूले बिसरे चित्र पर साहित्य अकादमी पुरस्कार। पद्‌मभूषण तथा राज्यसभा की मानद सदस्यता प्राप्त।

भगवती चरण वर्मा और हिन्दी साहित्य

हिंदी साहित्य का आधुनिक काल भारत के इतिहास के बदलते हुए स्वरूप से प्रभावित था। स्वतंत्रता संग्राम और राष्ट्रीयता की भावना का प्रभाव साहित्य में भी आया। भारत में औद्योगीकरण का प्रारंभ होने लगा था। आवागमन के साधनों का विकास हुआ। अंग्रेजी और पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव बढा और जीवन में बदलाव आने लगा। ईश्वर के साथ साथ मानव को समान महत्त्व दिया गया।

भावना के साथ-साथ विचारों को पर्याप्त प्रधानता मिली। पद्य के साथ-साथ गद्य का भी विकास हुआ और छापेखाने के आते ही साहित्य के संसार में एक नई क्रांति हुई। आधुनिक हिन्दी गद्य का विकास केवल हिन्दी भाषी क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रहा। पूरे देश में और हर प्रदेश में हिन्दी की लोकप्रियता फैली और अनेक अन्य भाषी लेखकों ने हिन्दी में साहित्य रचना करके इसके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

प्रकाशित पुस्तकें

उपन्यास
पतन (1928),
चित्रलेखा (1934),
तीन वर्ष,
टेढ़े-मेढे रास्ते (1946)–इसमें मार्क्सवाद की आलोचना की गई थी।
अपने खिलौने (1957),
भूले-बिसरे चित्र (1959),
वह फिर नहीं आई,
सामर्थ्य और सीमा (1962),
थके पाँव,
रेखा,
सीधी सच्ची बातें,
युवराज चूण्डा,
सबहिं नचावत राम गोसाई, (1970)
प्रश्न और मरीचिका, (1973)
धुप्पल,
चाणक्य
क्या निराश हुआ जाए
कहानी-संग्रह
मोर्चाबंदी
कविता-संग्रह
मधुकण (1932)
तदन्तर दो और काव्यसंग्रह–'प्रेम-संगीत' और 'मानव' निकले।

नाटक
वसीहत
रुपया तुम्हें खा गया
सबसे बड़ा आदमी
संस्मरण
अतीत के गर्भ से
साहित्यालोचन
साहित्य के सिद्धान्त
रुप
भगवती चरण वर्मा की कुछ रचनाएँ

चित्रलेखा

चित्रलेखा न केवल भगवतीचरण वर्मा को एक उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठा दिलाने वाला पहला उपन्यास है, बल्कि हिन्दी के उन विरले उपन्यासों में भी गणनीय है, जिनकी लोकप्रियता बराबर काल की सीमा को लाँघती रही है।

चित्रलेखा की कथा पाप और पुण्य की समस्या पर आधारित है–पाप क्या है? उसका निवास कहाँ है ? इन प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए महाप्रभु रत्नांबर के दो शिष्य, श्वेतांक और विशालदेव, क्रमशः सामंत बीजगुप्त और योगी कुमारगिरि की शरण में जाते हैं। और उनके निष्कर्षों पर महाप्रभु रत्नांबर की टिप्पणी है, ''संसार में पाप कुछ भी नहीं है, यह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है। हम न पाप करते हैं और न पुण्य करते हैं, हम केवल वह करते हैं, जो हमें करना पड़ता है। ''

टेढ़े-मेढ़े रास्ते

टेढ़े मेढ़े रास्ते सन् 1948 में प्रकाशित उनका प्रथम वृहत उपन्यास था जिसे हिन्दी साहित्य के प्रथम राजनीतिक उपन्यास का दर्जा मिला। टेढ़े–मेढ़े रास्ते को उन्होंने अपनी प्रथम शुद्ध बौद्धिक गद्य–रचना माना है। इसमें मार्क्सवाद की आलोचना की गयी है। इसके जवाब में रांगेय राघव ने 'सीधा–सादा रास्ता' लिखी थी।

बाबू गुलाबराय

बाबू गुलाबराय का जन्म इटावा, उत्तर प्रदेश में हुआ। उनके पिता श्री भवानी प्रसाद धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उनकी माता भी कृष्ण की उपासिका थीं और सूर, कबीर के पदों को तल्लीन होकर गाया करती थी। माता-पिता की इस धार्मिक प्रवृत्ति का प्रभाव बाबू गुलाबराय जी पर भी पड़ा। गुलाब राय जी की प्रारम्भिक शिक्षा मैनपुरी में हुई। तहसीली स्कूल के पश्चात उन्हें अंग्रेजी शिक्षा के लिए जिला विद्यालय में भेजा गया। एन्ट्रेस परीक्षा पास करने के बाद उन्होंने आगरा कॉलेज से बी.ए. की परीक्षा पास की। दर्शन शास्त्र में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात गुलाबराय जी छतरपुर चले गए और वहाँ के महाराज के निजी सचिव हो गए। इसके बाद वे वहाँ दीवान और चीफ जज भी रहे। छतरपुर महाराजा के निधन के पश्चात गुलाबराय जी ने वहाँ से अवकाश ग्रहण किया और आगरा आकर रहने लगे। आगरा आकर उन्होंने सेंट जॉन्स में हिंदी विभागाध्यक्ष के पद पर कार्य किया। गुलाबराय जी अपने जीवन के अंतिम काल तक साहित्य-साधना में लीन रहे। उनकी साहित्यिक सेवाओं के फलस्वरूप आगरा विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट. की उपाधि से सम्मानित किया। सन 1963 में आगरा में उनका स्वर्गवास हो गया।

मैनपुरी प्रारंभिक शिक्षा, बसे इटावा जाकर।
एम.ए., डी.लिट हुई आगरा, लिखा 'प्रबंध प्रभाकर'।।
नवरस', 'तर्कशास्त्र', 'ठलुआ क्लब', 'कुछ उथले कुछ गहरे।
व्यवहारिक, संस्कृत गर्भित, भाषा शब्द सुनहरे।।
आलोचना, व्यंग, भाषात्मक, परिचय, आत्मक और व्यंजक।
शैली के छः रूप मनोहर, क्रमशः है व्याख्यात्मक।।
बाबू जी थे प्रथम मनीषी, कलाकार आलोचक।
दर्शन के पण्डित प्रकाण्ड थे, थे उच्च व्यंग के लेखक।।

वर्ण्य विषय

गुलाब राय जी की रचनाएँ दो प्रकार की हैं–दार्शनिक और साहित्यिक। गुलाब राय जी की दार्शनिक रचनाएँ उनके गंभीर अध्ययन और चिंतन का परिणाम है। उन्होंने सर्व प्रथम हिंदी को अपने दार्शनिक विचारों का दान दिया। उनसे पूर्व हिंदी में इस विषय का सर्वथा अभाव था। गुलाबराय जी की साहित्यिक रचनाओं के अंतर्गत उनके आलोचनात्मक निबंध आते हैं। ये

आलोचनात्मक निबंध सैद्धांतिक और व्यवहारिक दोनों ही प्रकार के हैं। गुलाबराय जी ने सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक आदि विविध विषयों पर भी अपनी लेखनी चलाकर हिंदी साहित्य की अभिवृद्धि की है।

भाषा-शैली

गुलाबराय जी की भाषा शुद्ध तथा परिष्कृत खड़ी बोली है। उसके मुख्यत: दो रूप देखने को मिलते हैं—क्लिष्ट तथा सरल। विचारात्मक निबंधों की भाषा क्लिष्ट और परिष्कृत हैं। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रधानता है, भावात्मक निबंधों की भाषा सरल है। उसमें हिंदी के प्रचलित शब्दों की प्रधानता है साथ उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। कहावतों और मुहावरों को भी अपनाया गया है। गुलाबराय जी की भाषा आडंबर शून्य है। संस्कृत के प्रकांड पंडित होते हुए भी गुलाबराय जी ने अपनी भाषा में कहीं भी पांडित्य-प्रदर्शन का प्रयत्न नहीं किया। संक्षेप में गुलाब राय जी का भाषा संयत, गंभीर और प्रवाहपूर्ण है।

गुलाब राय जी की रचनाओं में हमें निम्नलिखित शैलियों के दर्शन होते हैं-

1. **विवेचनात्मक शैली**—यह शैली गुलाब राय जी के आलोचनात्मक तथा विचारात्मक निबंधों में मिलती है। इस शैली में साहित्यिक तथा दार्शनिक विषयों पर गंभीरता से विचार करते समय वाक्य अपेक्षाकृत लंबे और दुरुह हो जाते हैं, किंतु जहाँ वर्तमान समस्याएँ, प्राचीन सिद्धांतों की व्याख्याएँ अथवा कवियों की व्याख्यात्मक आलोचनाएँ प्रस्तुत की गई हैं, वहाँ वाक्य सरल और भावपूर्ण हैं। इस शैली का एक उदाहरण—'राष्ट्रीय पर्व' का मनाना कोरी भावुकता नहीं है। इस भावुकता का मूल्य है। भावुकता में संक्रामकता होती है और फिर शक्ति का संचार करती है। विचार हमारी दशा का निदर्शन कर सकते हैं, किंतु कार्य संपादन की प्रबल प्रेरणा और शक्ति भावों में ही निहित रहती है।

2. **भावात्मक शैली**—गुलाब राय जी की इस शैली में विचारों और भावों का सुंदर समन्वय है। यह शैली प्रभावशालीन है और इसमें गद्य काव्य का-सा आनंद आता है। इसकी भाषा अत्यंत सरल है। वाक्य छोटे-छोटे हैं और कहीं-कहीं उर्दू के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। 'नर से नारायण' नामक निबंध से इस शैली का एक उदाहरण—'सितंबर के महीने में आगरे में पानी की त्रहि-त्रहि मची थी। मैंने भी वैश्य धर्म के पालने के लिए पास के एक खेत में चरी 'बो' रखी थी। ज्वार की पत्तियाँ ऐंठ-ऐंठ कर बत्तियाँ बन गई थीं।

3. हास्य और विनोदपूर्ण शैली–गुलाब राय जी ने अपने निबंधों की नीरसता को दूर करने के लिए गंभीर विषयों के वर्णन में हास्य और व्यंग्य का पुट भी दिया है। इस विषय में उन्होंने लिखा है–'अब मैं प्राय: गंभीर विषयों में भी हास्य का समावेश करने लगा हूँ। जहाँ हास्य के कारण अर्थ का अनर्थ होने की संभावना हो अथवा अत्यंत करुण प्रसंग हो तो हास्य से बचूँगा अन्यथा मैं प्रसंग गत हास्य का उतना ही स्वागत करता हूँ जितना कि कृपण या कोई भी अनायास आए हुए धन का।' इस शैली में हास्य का समावेश करने के लिए गुबाब राय जी या तो मुहावरों का सहारा लेते हैं या श्लेष का। इस शैली के वाक्य कुछ बड़े हैं। इसमें उर्दू, फारसी के शब्दों और मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है।

भारतीय डाकटिकट पर बाबू गुलाबराय

कृतियाँ

गुलाबराय जी ने मौलिक ग्रंथों की रचना के साथ-साथ अनेक ग्रंथों का संपादन भी किया है। उनकी कृतियाँ इस प्रकार हैं-

आलोचनात्मक रचनाएँ–नवरस, हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास हिंदी, नाट्य विमर्श, आलोचना कुसुमांजलि, काव्य के रूप, सिद्धांत और अध्ययन आदि।

दर्शनसंबंधी–कर्तव्य शास्त्र, तर्क शास्त्र, बौद्ध धर्म, पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, भारतीय संस्कृति की रूपरेखा।

निबंध संग्रह–प्रकार प्रभाकर, जीवन-पशु, ठलुआ क्लब, मेरी असफलताएँ, मेरे मानसिक उपादान आदि।

बाल साहित्य–विज्ञान वार्ता, बाल प्रबोध आदि।

संपादन ग्रंथ–सत्य हरिश्चंद्र, भाषा-भूषण, कादंबरी कथा-सार आदि।

इनके अतिरिक्त गुलाब राय जी की बहुत-सी स्फुट रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं।

कृतियाँ एवं रचना-वर्ष

शांति धर्म–1913
मैत्री धर्म–1913
कर्तव्य शास्त्र–1915

तर्क शाास्त्र–1916
पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास–1917
फिर निराशा क्यों–1918
नवरस–1933
प्रबंध प्रभाकर–1933
निबंध रत्नाकर–1934
विज्ञान विनोद–1937
हिंदी साहित्य का सुबोध इतिहास–1940
हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास–1943
मेरी असफलताएँ–1946
सिद्धांत और अध्ययन–1946
काव्य के रूप–1947
हिंदी काव्य विमर्श–1947
साहित्य समीक्षा–1947
हिंदी नाट्य विमर्श–1947
भारतीय संस्कृति की रूप रेखा–1952
गांधीय मार्ग–1953
मन की बाते–1954
अभिनव भारत के प्रकाश स्तम्भ–1955
सत्य और स्वतंत्रता के उपासक–1955
कुछ उथले कुछ गहरे–1955
मेरे निबंध–1955
जीवन पथ–1954
अध्ययन और अस्वाद–1956
विद्यार्थी जीवन–1956
हिंदी कविता और रहस्यवाद–1956

विरासत

आधुनिक युग के निबंध लेखकों और आलोचकों में बाबू गुलाब राय का स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने आलोचना और निबंध दोनों ही क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा और मौलिकता का परिचय दिया है। हिंदी में सर्व प्रथम उन्होंने ही दर्शन संबंधी

निबंधों की रचना की। गुलाब राय जी के निबंधों में नैतिकता का संदेश, समाज के लिए प्रगति, शील दृष्टिकोण, दर्शन के जटिल सिद्धातों की सरलतम व्याख्या और राष्ट्र प्रेम की उदात्त भावना है। एक मौलिक निबंधकार, उत्कृष्ट समालोचक एवं सफल संपादक के रूप में गुलाब राय जी ने हिंदी की जो सेवा की है, उसके लिए वे सदैव प्रशंसा और धन्यवाद के पात्र हैं। उनके सम्मान में भारतीय डाकतार विभाग ने 22 जून 2002 को एक टिकट जारी किया जिसका मूल्य 5 रुपये था और जिस पर बाबू गुलाबराय के चित्र के साथ उनकी तीन प्रमुख पुस्तकों को भी प्रदर्शित किया गया था।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' उपन्यासकार, निबन्धकार, लेखक, कहानीकार हैं। अश्क जी ने आदर्शोन्मुख, कल्पनाप्रधान अथवा कोरी रोमानी रचनाएँ की।

जीवन परिचय

उपेन्द्रनाथ अश्क जी का जन्म पंजाब प्रान्त के जालंधर नगर में 14 दिसम्बर, 1910 को एक मध्यमवर्गीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। अश्क जी छः भाइयों में दूसरे हैं। इनके पिता 'पण्डित माधोराम' स्टेशन मास्टर थे। जालंधर से मैट्रिक और फिर वहीं से डी. ए. वी. कॉलेज से इन्होंने 1931 में बी.ए. की परीक्षा पास की। बचपन से ही अश्क अध्यापक बनने, लेखक और सम्पादक बनने, वक्ता और वकील बनने, अभिनेता और डायरेक्टर बनने और थियेटर अथवा फिल्म में जाने के अनेक सपने देखा करते थे।

साहित्यिक परिचय

हिन्दी-उर्दू के प्रेमचंदोत्तर कथा साहित्य के विशिष्ट कथाकार उपेन्द्रनाथ अश्क की पहचान, बहुविधावादी रचनाकार होने के बावजूद, कथाकार के रूप में ही है। राष्ट्रीय आंदोलन के बेहद उथलपुथल से भरे दौर में उनका रचनात्मक विकास हुआ, जलियांवाला बाग जैसी नृशंस घटनाओं का उनके बाल मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा था। उनका गंभीर और व्यवस्थित लेखन प्रगतिशील आंदोलन के दौर में शुरू हुआ। उसकी आधारभूत मान्यताओं का समर्थन करने के बावजूद उन्होंने अपने को उस आंदोलन से बांधकर नहीं रखा। यद्यपि जीवन से उनके सघन जुड़ाव और परिवर्तनकामी मूल्य-चेतना के प्रति झुकाव, उस आंदोलन की ही देन थी।

साहित्य में व्यक्तिवादी–कलावादी रुझानों से बचकर जीवन की समझ का शऊर और सलीका उन्होंने इसी आंदोलन से अर्जित किया था। भाषा एवं शैलीगत प्रयोग की विराट परिणति उनकी इसी सावधानी की परिणति थी। उनकी कहानियाँ मानवीय नियति के प्रश्नों, जीवनगत विडंबनाओं, मध्यवर्गीय मनुष्य के दैनंदिन जीवन की गुत्थियों के चित्रण के कारणय नागरिक जीवन के हर पहलू संबद्ध रहने के कारण सामान्य पाठकों को उनकी कहानियाँ अपनापे से भरी लगती हैं, उनमें राजनीतिक प्रखरता और उग्रता के अभाव से किसी रिक्तता बोध नहीं होता।

कार्यक्षेत्र

बी.ए. पास करते ही उपेन्द्रनाथ अश्क जी अपने ही स्कूल में अध्यापक हो गये। पर 1933 में उसे छोड़ दिया और जीविकोपार्जन हेतु साप्ताहिक पत्र ‘भूचाल’ का सम्पादन किया और एक अन्य साप्ताहिक ‘गुरु घण्टाल’ के लिए प्रति सप्ताह एक रुपये में एक कहानी लिखकर दी। 1934 में अचानक सब छोड़ लॉ कॉलेज में प्रवेश ले लिया और 1936 में लॉ पास किया। उसी वर्ष लम्बी बीमारी और प्रथम पत्नी के देहान्त के बाद इनके जीवन में एक अपूर्व मोड़ आया। 1936 के बाद अश्क के लेखक व्यक्तित्त्व का अति उर्वर युग प्रारम्भ हुआ। 1941 में अश्क जी ने दूसरा विवाह किया। उसी वर्ष ‘ऑल इण्डिया रेडियो’ में नौकरी की। 1945 के दिसम्बर में बम्बई के फिल्म जगत के निमंत्रण को स्वीकार कर वहाँ फिल्मों में लेखन का कार्य करने लगे। 1947–1948 में अश्क जी निरन्तर अस्वस्थ रहे। पर यह उनके साहित्यिक सर्जन की उर्वरता का स्वर्ण–समय था। 1948 से 1953 तक अश्क जी दम्पत्ति (पत्नी कौशल्या अश्क) के जीवन में संघर्ष के वर्ष रहे। पर इन्हीं दिनों अश्क यक्ष्मा के चंगुल से बचकर इलाहाबाद आये, इन्होंने ‘नीलाभ प्रकाशन गृह’ की व्यवस्था की, जिससे उनके सम्पूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्त्व को रचना और प्रकाशन दोनों दृष्टि से सहज पथ मिला। अश्क जी ने अपनी कहानी, उपन्यास, निबन्ध, लेख, संस्मरण, आलोचना, नाटक, एकांकी, कविता आदि के क्षेत्रों में कार्य किया है।

कृतियाँ

उर्दू के सफल लेखक उपेन्द्रनाथ ‘अश्क’ ने मुंशी प्रेमचंद की सलाह पर हिन्दी में लिखना आरम्भ किया। 1933 में प्रकाशित उनके दूसरे कहानी संग्रह ‘औरत की फितरत’ की भूमिका मुंशी प्रेमचन्द ने ही लिखी थी। अश्क ने इससे

पहले भी बहुत कुछ लिखा था। उर्दू में 'नव-रत्न' और 'औरत की फितरत' उनके दो कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके थे। प्रथम हिन्दी संग्रह 'जुदाई की शाम का गीत' (1933) की अधिकांश कहानियाँ उर्दू में छप चुकी थी। जैसा कि अश्क जी ने स्वंय लिखा है, 1936 के पहले की ये कृतियाँ उतनी अच्छी नहीं बनी। अनुभूति का स्पर्श उन्हें कम मिला था। 1936 के बाद अश्क जी की कृतियों में सुख-दुरूखमय जीवन के व्यक्तिगत अनुभव से अदभुत रंग भर गया। 'उर्दू काव्य की एक नई धारा' (आलोचक ग्रन्थ), 'जय पराजय' (ऐतिहासिक नाटक), 'पापी', 'वेश्या', 'अधिकार का रक्षक', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'जोंक', 'पहेली' और 'आपस का समझौता' (एकांकी), 'स्वर्ग की झलक' (सामाजिक नाटक)-कहानी संग्रह 'पिंजरा' की सभी कहानियाँ, 'छींटें' की कुछ कहानियाँ और 'प्रात प्रदीप' (कविता संग्रह) की सभी कविताएँ उनकी पत्नी की मृत्यु (1936) के दो ढाई साल के ही अल्प समय में लिखी गई।

नाटक

नाटक के क्षेत्र में 1937 से लेकर उन्होंने जितनी कृतियाँ सम्पूर्ण नाटक और एकांकी के रूप में लिखी हैं, सब प्रायः अपने लेखनकाल के उपरान्त उसी वर्ष क्रम से प्रकाशित हुई हैं। अश्क जी के नाटक 'अलग अलग रास्ते' में विवाह, प्रेम, और सामाजिक प्रतिष्ठा की समस्या को प्रस्तुत किया गया हैं। वर्तमान समाज में व्यवस्था के चक्र में उलझी दो नारियों के अन्तर्मन में बसने वाली पीड़ा, घायल संस्कार और प्यासी खूंखार प्रवृत्तियों का प्रदर्शन हुआ है। इसमें समय, स्थान और कार्य-सम्पादन की एकता का कलात्मक ढ़ंग से निर्वाह किया हैं। उल्लेखनीय तथ्य यह हैं कि इस नाटक का आकलन रंगमंच के उपयुक्त बनाने के लिए रंग निर्देशों का सुंदर प्रयोग इसमें हुआ हैं। अलग-अलग रास्ते नाटक का मंच बिना किसी अतिरंजना के साथ हुआ हैं जिसके फलस्वरूप नाटक के रस का साधारणीकरण दर्शक या पाठक को सहज ही अनुभूत होती हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क के नाटक

सन	कृति
1937	जय पराजय
1938	एकांकी-श्पापी
1938	वेश्या

1938	लक्ष्मी का स्वागत
1938	अधिकार का रक्षक
1939	स्वर्ग की झलक
1939	जोंक
1939	आपस का समझौता
1939	पहेली
1939	देवताओं की छाया में
1940	विवाह के दिन
1940	छठा बेटा
1941	नया पुराना
1941	चमत्कार
1941	खिड़की
1941	सूखी डाली
1942	बहनें
1942	कामदा
1942	मेमूना
1942	चिलमन
1942	चुम्बक
1943	तौलिये
1944	पक्का गाना
1946	कइसा साब कइसी आया
1947	तूफान से पहले
1948	चरवाहे
1950	आदि मार्ग
1950	बतसिया
1950	कस्बे क क्रिकेट क्लब का उदघाटन
1950	कैद और उड़ान
1951	मस्केबाजों का स्वर्ग
1951	पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ
1953	पैंतरे
1954	अलग–अलग रास्ते

1954	आदर्श और यथार्थ
1955	अंजोदीदी
1956	अन्धी गली के आठ एकांकी
1961	भँवर

कहानियाँ

अंकुर, नासुर, चट्टान, डाची, पिंजरा, गोखरू, बैगन का पौधा, मेमने, दालिये, काले साहब, बच्चे, उबाल, केप्टन रशीद आदि अश्क जी की प्रतिनिधि कहानियों के नमूने सहित कुल डेढ़-दो सौ कहानियों में अश्क जी का कहानीकार व्यक्तित्त्व सफलता से व्यक्त हुआ है।

काव्य ग्रन्थ

'दीप जलेगा' (1950)
'चाँदनी रात और अजगर' (1952)
'बरगर की बेटी' (1949)

संस्मरण

1 'मण्टो मेरा दुश्मन' (1956)
2. 'निबन्ध, लेख, पत्र, डायरी और विचार ग्रन्थ-श्ज्यादा अपनी कम परायी' (1959)
3. 'रेखाएँ और चित्र' (1955)।

अनुवाद

'रंग साज' (1958)–रूस के प्रसिद्ध कहानीकार 'ऐंतन चेखव' के लघु उपन्यास का अनुवाद।

'ये आदमी ये चूहे' (1950)–स्टीन बैंक के प्रसिद्ध उपन्यास 'आव माइस एण्ड मैन' का अनुवाद।

'हिज एक्सेलेन्सी' (1959)–अमर कथाकार दॉस्त्यॉवस्की के लघु उपन्यास 'डर्टी स्टोरी' का हिन्दी अनुवाद।

सम्पादन

‘प्रतिनिधि एकांकी’ 1950
‘रंग एकांकी’ 1956
‘संकेत’ 1953

उपन्यास

सन्	**कृति**
1940	सितारों के खेल
1945	बड़ी-बड़ी आँखें
1947	गिरती दीवार
1952	गर्म राख
1957	पत्थर अलपत्थर
1963	शहर में घूमता आईना
1969	एक नन्हीं किंदील

समृद्धता का अनुमान

सृजन की इतनी क्षमता से सहज ही अश्क जी की लेखन शक्ति और भाव जगत् की समृद्धता का अनुमान लगाया जा सकता है। उपन्यास, नाटक, कहानी और काव्य क्षेत्र में अश्क जी की उपलब्धि मुख्यत: नाटक, उपन्यास और कहानी में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। ‘गिरती दीवार’ और ‘गर्म राख’ हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में यथार्थवादी परम्परा के उपन्यास हैं। सम्पूर्ण नाटकों में ‘छठा बेटा’, ‘अंजोदीदी’ और ‘कैद’ अश्क जी की नाट्यकला के सफलतम उदाहरण हैं। ‘छठा बेटा’ के शिल्प में हास्य और व्यंग, ‘अंजोदीदी’ के स्थापत्य में व्यावहारिक रंगमंच के सफलतम तत्त्व और शिल्प का अनूठापन तथा ‘कघ्द’ में स्त्री का हृदयस्पर्शी चरित्र चित्रण तथा उसके रचना विधान में आधुनिक नाट्यतत्त्व की जैसी अभिव्यक्ति हुई है, उससे अश्क जी की नाट्य कला और रंगमंच के परिचय का संकेत मिलता है। एकांकी नाटकों में ‘भँवर’, ‘चरवाहे’, ‘चिलमन’, ‘तौलिए’ और ‘सूखी डाली’ अश्क जी की एकांकी कला के सुन्दरतम उदाहरण हैं। सभी एकांकी रंगमंच के स्वायत्त अधिकारी हैं। अश्क जी की कहानियाँ प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद अथवा विकास क्रम से प्राप्त विशुद्ध यथार्थवादी परम्परा की हैं। कहानी कला और रचना शिल्प स्पष्ट कथा तत्त्व के सहित मूलत: चरित्र

के केन्द्र बिन्दु से पूर्ण होता है। अश्क जी के समस्त चरित्र उपन्यास, नाटक अथवा कहानी किसी भी साहित्य प्रकार में सर्वथा यथार्थ हैं। उनसे सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की समस्त समस्याओं-राग द्वेष का प्रतिनिधित्व होता है।

यादगार घटनाएँ

हिन्दी साहित्य के यादगार बातों में उपेन्द्रनाथ अश्क से जुड़ा हुआ परचूनवाला उल्लेख भी मशहूर है। इलाहाबाद में अश्कजी ने परचून की दुकान खोली। मीडिया ने इसे उनके किसी किस्म के असंतोष या मोहभंग से जोड़ते हुए खबर प्रचारित की। गौरतलब है कि तब का मीडिया राजनीतिक दांव पेंच के साथ साथ साहित्य की अखाड़ेबाजी को भी खबरों में खूब तरजीह देता था। खैर, परचून तक तो बात ठीक थी मगर धन्य है अनुवाद आधारित पत्रकारिता जिसने इसमें सिर्फ चूना देखा और बात चूने की दुकान तक गई। कुछ लोगों को यह चूना सचमुच लाइम नजर आया और कुछ को नींबू। उर्वराबुद्धि वालों ने इसमें पानी और जोड़ दिया और प्रचारित हो गया कि अश्क जी इलाहाबाद में नींबू पानी बेच रहे हैं। मामला साहित्यकार की दुर्दशा से जुड़ गया। अश्क जी को खुद सारी बातें साफ करनी पड़ी।

इलाहाबाद की घटना है। एक छात्र ने उपेन्द्रनाथ अश्क से ऑटोग्राफ बही पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा। अश्क जी अपनी पुस्तकों की बिक्री में खुद रुचि लेते थे। ऑटोग्राफ बुक में लिखा–'पुस्तकें खरीद कर पढ़ों-अश्क'। इसके बाद छात्र ने धर्मवीर भारती को ऑटोग्राफ देने के लिए कहा तो उन्होंने लिखा-

1. पुस्तक खरीदने का पता–नीलाभ प्रकाशन, खुसरो बाग, इलाहाबाद
2. यह पता अश्क जी के प्रकाशन संस्थान का था।
3. सम्मान और पुरस्कार

उपेन्द्रनाथ अश्क जी को सन् 1972 ई. में 'सोवियत लैन्ड नेहरू पुरस्कार' से भी सम्मानित किया गया था। इसके अलावा उपेन्द्रनाथ अश्क को 1965 में संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया था।

निधन

उपेन्द्रनाथ अश्क जी का 19 जनवरी, सन् 1996 ई. में निधन हो गया था।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

हजारीप्रसाद द्विवेदी (19 अगस्त 1907–19 मई 1979) हिन्दी निबन्धकार, आलोचक और उपन्यासकार थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म श्रावण शुक्ल एकादशी संवत् 1964 तदनुसार 19 अगस्त 1907 ई0 को उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के आरत दुबे का छपरा, ओझवलिया नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री अनमोल द्विवेदी और माता का नाम श्रीमती ज्योतिष्मती था। इनका परिवार ज्योतिष विद्या के लिए प्रसिद्ध था। इनके पिता पं. अनमोल द्विवेदी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। द्विवेदी जी के बचपन का नाम वैद्यनाथ द्विवेदी था।

द्विवेदी जी की प्रारंभिक शिक्षा गाँव के स्कूल में ही हुई। उन्होंने 1920 में बसरिकापुर के मिडिल स्कूल से प्रथम श्रेणी में मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद उन्होंने गाँव के निकट ही पराशर ब्रह्मचर्य आश्रम में संस्कृत का अध्ययन प्रारंभ किया। सन् 1923 में वे विद्याध्ययन के लिए काशी आये। वहाँ रणवीर संस्कृत पाठशाला, कमच्छा से प्रवेशिका परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान के साथ उत्तीर्ण की। 1927 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी वर्ष भगवती देवी से उनका विवाह सम्पन्न हुआ। 1929 में उन्होंने इंटरमीडिएट और संस्कृत साहित्य में शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण की। 1930 में ज्योतिष विषय में आचार्य की उपाधि प्राप्त की। शास्त्री तथा आचार्य दोनों ही परीक्षाओं में उन्हें प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई। 8 नवम्बर 1930 से द्विवेदीजी ने शांति निकेतन में हिन्दी का अध्यापन प्रारम्भ किया। वहाँ गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन के प्रभाव से साहित्य का गहन अध्ययन किया तथा अपना स्वतंत्र लेखन भी व्यवस्थित रूप से आरंभ किया। बीस वर्षों तक शांतिनिकेतन में अध्यापन के उपरान्त द्विवेदीजी ने जुलाई 1950 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्रोफेसर और अध्यक्ष के रूप में कार्यभार ग्रहण किया। 1957 में राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मभूषण' की उपाधि से सम्मानित किये गये।

प्रतिद्वन्द्वियों के विरोध के चलते मई 1960 में द्विवेदीजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिये गये। जुलाई 1960 से पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में हिंदी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष रहे। अक्टूबर 1967 में पुनः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिंदी विभागाध्यक्ष होकर लौटे। मार्च 1968 में विश्वविद्यालय के रेक्टर पद पर उनकी नियुक्ति हुई और 25 फरवरी 1970 को इस पद से मुक्त हुए। कुछ समय के लिए 'हिन्दी का ऐतिहासिक व्याकरण' योजना के निदेशक भी बने। कालान्तर में उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के

अध्यक्ष तथा 1972 से आजीवन उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ के उपाध्यक्ष पद पर रहे। 1973 में 'आलोक पर्व' निबन्ध संग्रह के लिए उन्हें 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। 4 फरवरी 1979 को पक्षाघात के शिकार हुए और 19 मई 1979 को ब्रेन ट्यूमर से दिल्ली में उनका निधन हो गया।

द्विवेदी जी का व्यक्तित्त्व बड़ा प्रभावशाली और उनका स्वभाव बड़ा सरल और उदार था। वे हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत और बाङ्ला भाषाओं के विद्वान थे। भक्तिकालीन साहित्य का उन्हें अच्छा ज्ञान था। लखनऊ विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट. की उपाधि देकर उनका विशेष सम्मान किया था। हिन्दी साहित्य के लिए उनके अवदान अविस्मरणीय है।

रचनाएँ

हजारी प्रसाद द्विवेदी जी की प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं
By Sachin Kumar
आलोचनात्मक
सूर साहित्य (1936)
हिन्दी साहित्य की भूमिका (1940)
प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद (1952)
कबीर (1942)
नाथ संप्रदाय (1950)
हिन्दी साहित्य का आदिकाल (1952)
आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार (1949)
साहित्य का मर्म (1949)
मेघदूत: एक पुरानी कहानी (1957)
लालित्य तत्त्व (1962)
साहित्य सहचर (1965)
कालिदास की लालित्य योजना (1965)
मध्यकालीन बोध का स्वरूप (1970)
हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास (1952)
मृत्युंजय रवीन्द्र (1970)
सहज साधना (1963)

निबंध संग्रह
अशोक के फूल (1948)
कल्पलता (1951)
विचार और वितर्क (1954)
विचार-प्रवाह (1959)
कुटज (1964)
विश के दन्त
उपन्यास
बाणभट्ट की आत्मकथा (1946)
चारु चंद्रलेख(1963)
पुनर्नवा(1973)
अनामदास का पोथा(1976)
अन्य
संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो (1957)
संदेश रासक (1960)
सिक्ख गुरुओं का पुण्य स्मरण (1979)
महापुरुषों का स्मरण (1977)

ग्रन्थावली एवं ऐतिहासिक व्याकरण

अगस्त 1981 ई. में आचार्य द्विवेदी की उपलब्ध सम्पूर्ण रचनाओं का संकलन 11 खंडों में हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली के नाम से प्रकाशित हुआ। यह प्रथम संस्करण 2 वर्ष से भी कम समय में समाप्त हो गया। द्वितीय संशोधित परिवर्धित संस्करण 1998 ई0 में प्रकाशित हुआ।

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक व्याकरण के क्षेत्र में भी काम किया था। उन्होंने 'हिन्दी भाषा का बृहत् ऐतिहासिक व्याकरण' के नाम से चार खण्डों में विशाल व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। इसकी पांडुलिपि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को सौंपी गयी थी, परंतु लंबे समय तक वहाँ से इसका प्रकाशन नहीं हुआ और अंततः वहाँ से पांडुलिपियाँ ही गायब हो गयीं। द्विवेदी जी के पुत्र मुकुन्द द्विवेदी को उक्त बृहत् ग्रन्थ के प्रथम खण्ड की प्रतिकापी मिली और सन 2011 ई. में इस विशाल ग्रंथ का पहला खण्ड हिन्दी भाषा का बृहत् ऐतिहासिक व्याकरण के नाम से प्रकाशित हुआ। इसी ग्रंथ को

यथावत् ग्रन्थावली के 12वें खंड के रूप में भी सम्मिलित करके अब 12 खण्डों में 'हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली' का प्रकाशन हो रहा है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी विषयक साहित्य

शांतिनिकेतन से शिवालिक–सं.-शिवप्रसाद सिंह (1967, द्वितीय संशोधित-परिवर्धित संस्करण-1988, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली सेय नवीन संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली से)

दूसरी परम्परा की खोज–नामवर सिंह (1982, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से)

हजारीप्रसाद द्विवेदी (विनिबन्ध)–विश्वनाथ प्रसाद तिवारी (1989, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली से)

साहित्यकार और चिन्तक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी–डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी (1997, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद से)

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी–व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व–सं.–डॉ. व्यास मणि त्रिपाठी (2008, हिंदी साहित्य कला परिषद, पोर्टब्लेयर, अंडमान से)

व्योमकेश दरवेश आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का पुण्य स्मरण, (जीवनी एवं आलोचना)–विश्वनाथ त्रिपाठी (2011, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से)

हजारीप्रसाद द्विवेदी–समग्र पुनरावलोकन–चौथीराम यादव (2012, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद सेय हरियाणा साहित्य अकादमी से पूर्व प्रकाशित 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्य' का संशोधित-परिवर्धित संस्करण)

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की जय-यात्र–नामवर सिंह (आचार्य द्विवेदी पर नामवर जी द्वारा लिखित समस्त सामग्री का एकत्र संकलनय राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से)

रचनात्मक वैशिष्ट्य

वर्ण्य विषय

द्विवेदी जी के निबंधों के विषय भारतीय संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष, साहित्य विविध धर्मों और संप्रदायों का विवेचन आदि है। वर्गीकरण की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबंध दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं–विचारात्मक और

आलोचनात्मक। विचारात्मक निबंधों की दो श्रेणियाँ हैं। प्रथम श्रेणी के निबंधों में दार्शनिक तत्त्वों की प्रधानता रहती है। द्वितीय श्रेणी के निबंध सामाजिक जीवन संबंधी होते हैं। आलोचनात्मक निबंध भी दो श्रेणियों में बांटें जा सकते हैं। प्रथम श्रेणी में ऐसे निबंध हैं जिनमें साहित्य के विभिन्न अंगों का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन किया गया है और द्वितीय श्रेणी में वे निबंध आते हैं जिनमें साहित्यकारों की कृतियों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार हुआ है। द्विवेदी जी के इन निबंधों में विचारों की गहनता, निरीक्षण की नवीनता और विश्लेषण की सूक्ष्मता रहती है।

भाषा

द्विवेदी जी की भाषा परिमार्जित खड़ी बोली है। उन्होंने भाव और विषय के अनुसार भाषा का चयनित प्रयोग किया है। उनकी भाषा के दो रूप दिखलाई पड़ते हैं–(1) प्राँजल व्यावहारिक भाषा, (2) संस्कृतनिष्ठ शास्त्रीय भाषा। प्रथम रूप द्विवेदी जी के सामान्य निबंधों में मिलता है। इस प्रकार की भाषा में उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का भी समावेश हुआ है। द्वितीय शैली उपन्यासों और सैद्धांतिक आलोचना के क्रम में परिलक्षित होती है। द्विवेदी जी की विषय प्रतिपादन की शैली अध्यापकीय है। शास्त्रीय भाषा रचने के दौरान भी प्रवाह खण्डित नहीं होता।

शैली

द्विवेदी जी की रचनाओं में उनकी शैली के निम्नलिखित रूप मिलते हैं–

(1) गवेषणात्मक शैली द्विवेदी जी के विचारात्मक तथा आलोचनात्मक निबंध इस शैली में लिखे गए हैं। यह शैली द्विवेदी जी की प्रतिनिधि शैली है। इस शैली की भाषा संस्कृत प्रधान और अधिक प्रांजल है। वाक्य कुछ बड़े-बड़े हैं। इस शैली का एक उदाहरण देखिए–लोक और शास्त्र का समन्वय, ग्राहस्थ और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृति का समन्वय,निर्गुण और सगुण का समन्वय, कथा और तत्त्व ज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय, रामचरित मानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।

(2) वर्णनात्मक शैली द्विवेदी जी की वर्णनात्मक शैली अत्यंत स्वाभाविक एवं रोचक है। इस शैली में हिंदी के शब्दों की प्रधानता है, साथ ही संस्कृत के तत्सम और उर्दू के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। वाक्य अपेक्षाकृत बड़े हैं।

(3) व्यंग्यात्मक शैली द्विवेदी जी के निबंधों में व्यंग्यात्मक शैली का बहुत ही सफल और सुंदर प्रयोग हुआ है। इस शैली में भाषा चलती हुई तथा उर्दू, फारसी आदि के शब्दों का प्रयोग मिलता है।

(4) व्यास शैली द्विवेदी जी ने जहाँ अपने विषय को विस्तारपूर्वक समझाया है, वहां उन्होंने व्यास शैली को अपनाया है। इस शैली के अंतर्गत वे विषय का प्रतिपादन व्याख्यात्मक ढंग से करते हैं और अंत में उसका सार दे देते हैं।

महत्त्वपूर्ण कार्य

द्विवेदी जी का हिंदी निबंध और आलोचनात्मक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे उच्च कोटि के निबंधकार और सफल आलोचक हैं। उन्होंने सूर, कबीर, तुलसी आदि पर जो विद्वत्तापूर्ण आलोचनाएं लिखी हैं, वे हिंदी में पहले नहीं लिखी गई। उनका निबंध-साहित्य हिंदी की स्थाई निधि है। उनकी समस्त कृतियों पर उनके गहन विचारों और मौलिक चिंतन की छाप है। विश्व-भारती आदि के द्वारा द्विवेदी जी ने संपादन के क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

मानवतावाद और द्विवेदी जी

आचार्य द्विवेदी जी के साहित्य में मानवता का परिशीलन सर्वत्र दिखाई देता है। उनके निबंध तथा उपन्यासों में यह दृष्टि विशेष रूप से प्रतीत होती है।

सम्मान

हजारी प्रसाद द्विवेदी को साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में सन 1957 में पद्म भूषण से सम्मानित किया गया।

जयशंकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद (30 जनवरी 1889-15 नवंबर 1937), हिन्दी कवि, नाटककार, उपन्यासकार तथा निबन्धकार थे। वे हिन्दी के छायावादी युग के चार

प्रमुख स्तंभों में से एक हैं। उन्होंने हिन्दी काव्य में एक तरह से छायावाद की स्थापना की जिसके द्वारा खड़ी बोली के काव्य में न केवल कमनीय माधुर्य की रससिद्ध धारा प्रवाहित हुई, बल्कि जीवन के सूक्ष्म एवं व्यापक आयामों के चित्रण की शक्ति भी संचित हुई और कामायनी तक पहुँचकर वह काव्य प्रेरक शक्तिकाव्य के रूप में भी प्रतिष्ठित हो गया। बाद के प्रगतिशील एवं नई कविता दोनों धाराओं के प्रमुख आलोचकों ने उसकी इस शक्तिमत्ता को स्वीकृति दी। इसका एक अतिरिक्त प्रभाव यह भी हुआ कि खड़ी बोली हिन्दी काव्य की निर्विवाद सिद्ध भाषा बन गई।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनके कृतित्त्व का गौरव अक्षुण्ण है। वे एक युगप्रवर्तक लेखक थे। जिन्होंने एक ही साथ कविता, नाटक, कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में हिंदी को गौरवान्वित होने योग्य कृतियाँ दीं। कवि के रूप में वे निराला, पन्त, महादेवी के साथ छायावाद के प्रमुख स्तम्भ के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं, नाटक लेखन में भारतेन्दु के बाद वे एक अलग धारा बहाने वाले युगप्रवर्तक नाटककार रहे, जिनके नाटक आज भी पाठक न केवल चाव से पढ़ते हैं, बल्कि उनकी अर्थगर्भिता तथा रंगमंचीय प्रासंगिकता भी दिनानुदिन बढ़ती ही गयी है। इस दृष्टि से उनकी महत्ता पहचानने एवं स्थापित करने में वीरेन्द्र नारायण, शांता गाँधी, सत्येन्द्र तनेजा एवं अब कई दृष्टियों से सबसे बढ़कर महेश आनन्द का प्रशंसनीय ऐतिहासिक योगदान रहा है। इसके अलावा कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में भी उन्होंने कई यादगार कृतियाँ दीं। विविध रचनाओं के माध्यम से मानवीय करुणा और भारतीय मनीषा के अनेकानेक गौरवपूर्ण पक्षों का उद्घाटन। 48 वर्षो के छोटे से जीवन में कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास और आलोचनात्मक निबंध आदि विभिन्न विधाओं में रचनाएँ की।

जी का जन्म माघ शुक्ल 10, संवत् 1946 वि. (तदनुसार 30जनवरी 1889ई0 दिन–गुरुवार) को काशी के सरायगोवर्धन में हुआ। इनके पितामह बाबू शिवरतन साहू दान देने में प्रसिद्ध थे और इनके पिता बाबू देवीप्रसाद जी कलाकारों का आदर करने के लिये विख्यात थे। इनका काशी में बड़ा सम्मान था और काशी की जनता काशीनरेश के बाद 'हर हर महादेव' से बाबू देवीप्रसाद का ही स्वागत करती थी। किशोरावस्था के पूर्व ही माता और बड़े भाई का देहावसान हो जाने के कारण 17 वर्ष की उम्र में ही प्रसाद जी पर आपदाओं का पहाड़ ही टूट पड़ा। कच्ची गृहस्थी, घर में सहारे के रूप में केवल विधवा भाभी, कुटुबियों, परिवार से संबद्ध अन्य लोगों का संपत्ति हड़पने का षड्यंत्र, इन सबका

सामना उन्होंने धीरता और गंभीरता के साथ किया। प्रसाद जी की प्रारंभिक शिक्षा काशी में क्वींस कालेज में हुई, किंतु बाद में घर पर इनकी शिक्षा का व्यापक प्रबंध किया गया, जहाँ संस्कृत, हिंदी, उर्दू, तथा फारसी का अध्ययन इन्होंने किया। दीनबंधु ब्रह्मचारी जैसे विद्वान् इनके संस्कृत के अध्यापक थे। इनके गुरुओं में 'रसमय सिद्ध' की भी चर्चा की जाती है।

घर के वातावरण के कारण साहित्य और कला के प्रति उनमें प्रारंभ से ही रुचि थी और कहा जाता है कि नौ वर्ष की उम्र में ही उन्होंने 'कलाधर' के नाम से व्रजभाषा में एक सवैया लिखकर 'रसमय सिद्ध' को दिखाया था। उन्होंने वेद, इतिहास, पुराण तथा साहित्य शास्त्र का अत्यंत गंभीर अध्ययन किया था। वे बाग-बगीचे तथा भोजन बनाने के शौकीन थे और शतरंज के खिलाड़ी भी थे। वे नियमित व्यायाम करने वाले, सात्विक खान पान एवं गंभीर प्रकृति के व्यक्ति थे। वे नागरीप्रचारिणी सभा के उपाध्यक्ष भी थे। क्षय रोग से नवम्बर 15, 1937 (दिन-सोमवार) को प्रातःकाल (उम्र 47) उनका देहांत काशी में हुआ।

कृतियाँ

काव्य

प्रसाद की काव्य रचनाएँ दो वर्गो में विभक्त है—काव्यपथ अनुसंधान की रचनाएँ और रससिद्ध रचनाएँ। आँसू, लहर तथा कामायनी दूसरे वर्ग की रचनाएँ हैं। उन्होंने काव्य रचना ब्रजभाषा में आरम्भ की और धीर-धीरे खड़ी बोली को अपनाते हुए इस भाँति अग्रसर हुए कि खड़ी बोली के मूर्धन्य कवियों में उनकी गणना की जाने लगी और वे युगवर्तक कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

कानन कुसुम
महाराणा का महत्त्व
झरना (1918)
आंसू
लहर
कामायनी 1935

प्रेम पथिक

उन्होंने हिंदी काव्य में छायावाद की स्थापना की जिसके द्वारा खड़ी बोली के काव्य में कमनीय माधुर्य की रससिद्ध धारा प्रवाहित हुई और वह काव्य की

सिद्ध भाषा बन गई। उनकी सर्वप्रथम छायावादी रचना 'खोलो द्वार' 1914 ई. में इंदु में प्रकाशित हुई। वे छायावाद के प्रतिष्ठापक ही नहीं, अपितु छायावादी पद्धति पर सरस संगीतमय गीतों के लिखने वाले श्रेष्ठ कवि भी हैं। उन्होंने हिंदी में 'करुणालय' द्वारा गीत नाट्य का भी आरंभ किया। उन्होंने भिन्न तुकांत काव्य लिखने के लिये मौलिक छंदचयन किया और अनेक छंद का संभवत: उन्होंने सबसे पहले प्रयोग किया। उन्होंने नाटकीय ढंग पर काव्य-कथा-शैली का मनोवैज्ञानिक पथ पर विकास किया। साथ ही कहानी कला की नई टेकनीक का संयोग काव्यकथा से कराया। प्रगीतों की ओर विशेष रूप से उन्होंने गद्य साहित्य को संपुष्ट किया और नीरस इतिवृत्तात्मक काव्यपद्धति को भावपद्धति के सिंहासन पर स्थापित किया।

काव्यक्षेत्र में प्रसाद की कीर्ति का मूलाधार 'कामायनी' है। खड़ी बोली का यह अद्वितीय महाकव्य मनु और श्रद्धा को आधार बनाकर रचित मानवता को विजयिनी बनाने का संदेश देता है। यह रूपक कथाकाव्य भी है। जिसमें मन, श्रद्धा और इड़ा (बुद्धि) के योग से अखंड आनंद की उपलब्धि का रूपक प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आधार पर संयोजित किया गया है। उनकी यह कृति छायावाद ओर खड़ी बोली की काव्य गरिमा का ज्वलंत उदाहरण है। सुमित्रनंदन पंत इसे 'हिंदी में ताजमहल के समान' मानते हैं। शिल्पविधि, भाषासौष्ठव एवं भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से इसकी तुलना खड़ी बोली के किसी भी काव्य से नहीं की जा सकती है।

कहानी

कथा के क्षेत्र में प्रसाद जी आधुनिक ढंग की कहानियों के आरंभयिता माने जाते हैं। सन् 1912 ई. में 'इंदु' में उनकी पहली कहानी 'ग्राम' प्रकाशित हुई। उन्होंने कुल 72 कहानियाँ लिखी हैं। कहानी संग्रह

छाया
प्रतिध्वनि
आकाशदीप
आंधी
इन्द्रजाल

उनकी अधिकतर कहानियों में भावना की प्रधानता है, किंतु उन्होंने यथार्थ की दृष्टि से भी कुछ श्रेष्ठ कहानियाँ लिखी हैं। उनकी वातावरण प्रधान कहानियाँ

अत्यंत सफल हुई हैं। उन्होंने ऐतिहासिक, प्रागैतिहासिक एवं पौराणिक कथानकों पर मौलिक एवं कलात्मक कहानियाँ लिखी हैं। भावना-प्रधान प्रेमकथाएँ, समस्यामूलक कहानियाँ लिखी हैं। भावना प्रधान प्रेमकथाएँ, समस्यामूलक कहानियाँ, रहस्यवादी, प्रतीकात्मक और आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उत्तम कहानियाँ, भी उन्होंने लिखी हैं। ये कहानियाँ भावनाओं की मिठास तथा कवित्व से पूर्ण हैं।

प्रसाद जी भारत के उन्नत अतीत का जीवित वातावरण प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त थे। उनकी कितनी ही कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें आदि से अंत तक भारतीय संस्कृति एवं आदर्शो की रक्षा का सफल प्रयास किया गया है। उनकी कुछ श्रेष्ठ कहानियों के नाम हैं–आकाशदीप, गुंडा, पुरस्कार, सालवती, स्वर्ग के खंडहर में आँधी, इंद्रजाल, छोटा जादूगर, बिसाती, मधुआ, विरामचिह्न, समुद्रसंतरणय अपनी कहानियों में जिन अमर चरित्रों की उन्होंने सृष्टि की है, उनमें से कुछ हैं चंपा, मधुलिका, लैला, इरावती, सालवती और मधुआ का शराबी, गुंडा का नन्हकूसिंह और घीसू जो अपने अमिट प्रभाव छोड़ जाते हैं।

उपन्यास

प्रसाद ने तीन उपन्यास लिखे हैं। 'कंकाल', में नागरिक सभ्यता का अंतर यथार्थ उद्घाटित किया गया है। 'तितली' में ग्रामीण जीवन के सुधार के संकेत हैं। प्रथम यथार्थवादी उन्यास हैं य दूसरे में आदर्शोन्मुख यथार्थ है। इन उपन्यासों के द्वारा प्रसाद जी हिंदी में यथार्थवादी उपन्यास लेखन के क्षेत्र में अपनी गरिमा स्थापित करते हैं। 'इरावती' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया इनका अधूरा उपन्यास है, जो रोमांस के कारण ऐतिहासिक रोमांस के उपन्यासों में विशेष आदर का पात्र है। इन्होंने अपने उपन्यासों में ग्राम, नगर, प्रकृति और जीवन का मार्मिक चित्रण किया है, जो भावुकता और कवित्व से पूर्ण होते हुए भी प्रौढ़ लोगों की शैल्पिक जिज्ञासा का समाधान करता है।

नाटक

प्रसाद ने आठ ऐतिहासिक, तीन पौराणिक और दो भावात्मक, कुल 13 नाटकों की सर्जना की। 'कामना' और 'एक घूँट' को छोड़कर ये नाटक मूलत: इतिहास पर आधृत हैं। इनमें महाभारत से लेकर हर्ष के समय तक के इतिहास से सामग्री ली गई है। वे हिंदी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। उनके नाटकों में सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना इतिहास की भित्ति पर संस्थित है।

स्कंदगुप्त
चंद्रगुप्त
ध्रुवस्वामिनी
जन्मेजय का नाग यज्ञ
राज्यश्री
कामना
एक घूंट

जयशंकर प्रसाद ने अपने दौर के पारसी रंगमंच की परंपरा को अस्वीकारते हुए भारत के गौरवमय अतीत के अनमोल चरित्रों को सामने लाते हुए अविस्मरनीय नाटकों की रचना की। उनके नाटक स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त आदि में स्वर्णिम अतीत को सामने रखकर मानों एक सोये हुए देश को जागने की प्रेरणा दी जा रही थी। उनके नाटकों में देशप्रेम का स्वर अत्यंत दर्शनीय है और इन नाटकों में कई अत्यंत सुंदर और प्रसिद्ध गीत मिलते हैं। 'हिमाद्रि तुंग श्रृंग से', 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' जैसे उनके नाटकों के गीत सुप्रसिद्ध रहे हैं।

इनके नाटकों पर अभिनेय न होने का आरोप है। आक्षेप लगता रहा है कि वे रंगमंच के हिसाब से नहीं लिखे गए है। जिसका कारण यह बताया जाता है कि इनमें काव्यतत्त्व की प्रधानता, स्वगत कथनों का विस्तार, गायन का बीच बीच में प्रयोग तथा दृश्यों का त्रुटिपूर्ण संयोजन है। किंतु उनके अनेक नाटक सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। उनके नाटकों में प्राचीन वस्तुविन्यास और रसवादी भारतीय परंपरा तो है ही, साथ ही पारसी नाटक कंपनियों, बँगला तथा भारतेंदुयुगीन नाटकों एवं शेक्सपियर की नाटकीय शिल्पविधि के योग से उन्होंने नवीन मार्ग ग्रहण किया है। उनके नाटकों के आरंभ और अंत में उनका अपना मौलिक शिल्प है, जो अत्यंत कलात्मक है। उनके नायक और प्रतिनायक दोनों चारित्रिक दृष्टि के गठन से अपनी विशेषता से मंडित हैं। इनकी नायिकाएँ भी नारीसुलभ गुणों से, प्रेम, त्याग, उत्सर्ग, भावुक उदारता से पूर्ण हैं। उन्होंने अपने नाटकों में जहाँ राजा, आचार्य, सैनिक, वीर और कूटनीतिज्ञ का चित्रण किया है वहीं ओजस्वी, महिमाशाली स्त्रियों और विलासिनी, वासनामयी तथा उग्र नायिकाओं का भी चित्रण किया है। चरित्रचित्रण उनके अत्यंत सफल हैं। चरित्रचित्रण की दृष्टि से उन्होंने नाटकों में राजश्री एवं चाणक्य को अमर कर दिया है। नाटकों में इतिहास के आधार पर वर्तमान समस्याओं के समाधान का मार्ग प्रस्तुत करते हुए वे मिलते हैं। किंतु गंभीर चिंतन के साथ स्वच्छंद

काव्यात्मक दृष्टि उनके समाधान के मूल में है। कथोपकथन स्वाभाविक है, किंतु उनकी भाषा संस्कृतगर्भित है। नाटकों में दार्शनिक गंभीतरता का बाहुल्य है पर वह गद्यात्मक न होकर सरस है। उन्होंने कुछ नाटकों में स्वगत का भी प्रयोग किया है, किंतु ऐसे नाटक केवल चार हैं। भारतीय नाट्य परंपरा में विश्वास करने के कारण उन्होंने नाट्यरूपक 'कामना' के रूप में प्रस्तुत किया। ये नाटक प्रभाव की एकता लाने में पूर्ण सफल हैं। अपनी कुछ त्रुटियों के बावजूद प्रसाद जी नाटककार के रूप में हिंदी में अप्रतिम हैं।

रामकुमार वर्मा

रामकुमार वर्मा आधुनिक हिन्दी साहित्य में 'एकांकी सम्राट' के रूप में जाने जाते हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा हिन्दी भाषा के सुप्रसिद्ध साहित्यकार, व्यंग्यकार और हास्य कवि के रूप में जाने जाते हैं। रामकुमार वर्मा की हास्य और व्यंग्य दोनों विधाओं में समान रूप से पकड़ है। नाटककार और कवि के साथ-साथ उन्होंने समीक्षक, अध्यापक तथा हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखक के रूप में भी हिन्दी साहित्य-सर्जन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। रामकुमार वर्मा एकांकीकार, आलोचक और कवि हैं। इनके काव्य में 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' की झलक है।

जीवन परिचय

डॉ. रामकुमार वर्मा का जन्म मध्य प्रदेश के सागर जिले में 15 सितंबर सन् 1950 ई. में हुआ। इनके पिता लक्ष्मी प्रसाद वर्मा डिप्टी कलैक्टर थे। वर्माजी को प्रारम्भिक शिक्षा इनकी माता श्रीमती राजरानी देवी ने अपने घर पर ही दी, जो उस समय की हिन्दी कवयित्रियों में विशेष स्थान रखती थीं। बचपन में इन्हें 'कुमार' के नाम से पुकारा जाता था। रामकुमार वर्मा में प्रारम्भ से ही प्रतिभा के स्पष्ट चिह्न दिखाई देते थे। ये सदैव अपनी कक्षा में प्रथम आया करते थे। पठन-पाठन की प्रतिभा के साथ ही साथ रामकुमार वर्मा शाला के अन्य कार्यों में भी काफी सहयोग देते थे। अभिनेता बनने की रामकुमार वर्मा की बड़ी प्रबल इच्छा थी। अतएव इन्होंने अपने विद्यार्थी जीवन में कई नाटकों में एक सफल अभिनेता का कार्य किया है। रामकुमार वर्मा सन् 1922 ई. में दसवीं कक्षा में पहुँचे। इसी समय प्रबल वेग से असहयोग की आँधी उठी और रामकुमार वर्मा राष्ट्र सेवा में हाथ बँटाने लगे तथा एक राष्ट्रीय कार्यकर्ता के रूप में जनता के

सम्मुख आये। इसके बाद वर्माजी ने पुनः अध्ययन प्रारम्भ किया और सब परीक्षाओं में सफलता प्राप्त करते हुए प्रयाग विश्वविद्यालय से हिन्दी विषय में एम. ए. में सर्वप्रथम आये। रामकुमार वर्मा ने नागपुर विश्वविद्यालय की ओर से 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पर पीएचडी की उपाधि प्राप्त की। अनेक वर्षों तक रामकुमार वर्मा प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक तथा फिर अध्यक्ष रहे हैं।

सुप्रसिद्ध कवि

रामकुमार वर्मा आधुनिक हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध कवि, एकांकी नाटक-लेखक और आलोचक हैं। 'चित्ररेखा' काव्य-संग्रह पर इन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ 'देव पुरस्कार' मिला है। साथ ही 'सप्त किरण' एकांकी संग्रह पर अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन पुरस्कार और मध्यप्रदेश शासन परिषद से 'विजयपर्व' नाटक पर प्रथम पुरस्कार मिला है। रामकुमार वर्मा रूसी सरकार के विशेष आमंत्रण पर मास्को विश्वविद्यालय के अंतर्गत प्रायः एक वर्ष तक शिक्षा कार्य कर चुके हैं। हिन्दी एकांकी के जनक रामकुमार वर्मा ने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और साहित्यिक विषयों पर 150 से अधिक एकांकी लिखीं। भगवतीचरण वर्मा ने कहा था, 'डॉ. रामकुमार वर्मा रहस्यवाद के पंडित हैं। उन्होंने रहस्यवाद के हर पहलू का अध्ययन किया है। उस पर मनन किया है। उसको समझना हो और उसका वास्तविक और वैज्ञानिक रूप देखना हो तो उसके लिए श्री वर्मा की 'चित्ररेखा' सर्वश्रेष्ठ काव्य ग्रंथ होगा।'

ठसवबाुनवजम-वचमद.हर्पा ''जिस देश के पास हिंदी जैसी मधुर भाषा है वह देश अंग्रेजी के पीछे दीवाना क्यों है? स्वतंत्र देश के नागरिकों को अपनी भाषा पर गर्व करना चाहिए। हमारी भावभूमि भारतीय होनी चाहिए। हमें जूठन की ओर नहीं ताकना चाहिए'' ठसवबाुनवजम-बसवेम.हर्पा

-डॉ. रामकुमार वर्मा

रुचि

डॉ. रामकुमार वर्मा की कविता, संगीत और कलाओं में गहरी रुचि थी। 1921 तक आते-आते युवक रामकुमार गाँधी जी के उनके असहयोग आंदोलन में सम्मिलित हो गए। उन्होंने 17 वर्ष की आयु में एक कविता प्रतियोगिता में 51 रुपए का पुरस्कार जीता था। यहीं से उनकी साहित्यिक यात्र आरंभ हुई थी। डॉ.

रामकुमार वर्मा ने देश ही नहीं विदेशों में भी हिन्दी का परचम लहराया। 1957 में वे मास्को विश्वविद्यालय के अध्यक्ष के रूप में सोवियत संघ की यात्र पर गए। 1963 में उन्हें नेपाल के त्रिभुवन विश्वविद्यालय ने शिक्षा सहायक के रूप में आमंत्रित किया। 1967 में वे श्रीलंका में भारतीय भाषा विभाग के अध्यक्ष के रूप में भेजे गए।

कृतियाँ

रूस में रामकुमार वर्मा की रचनाएँ सन् 1922 ई. से प्रारम्भ हुई। इनकी कृतियाँ इस प्रकार हैं–

‘वीर हमीर’ (काव्य-सन 1922 ई.)
‘चित्तौड़ की चिंता’ (काव्य सन् 1929 ई.)
‘साहित्य समालोचना’ (सन 1929 ई.)
‘अंजलि’ (काव्य-सन 1930 ई.)
‘अभिशाप’ (कविता-सन 1931 ई.)
‘हिन्दी गीतिकाव्य’ (संग्रह-सन 1931 ई.)
‘निशीथ’ (कविता-सन 1935 ई.)
‘चित्ररेखा’ (कविता-सन 1936 ई.)
‘पृथ्वीराज की आँखें’ (एकांकी संग्रह-सन 1938 ई.)
‘कबीर पदावली’ (संग्रह सम्पादन-सन 1938 ई.)
‘हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास’ (सन 1939 ई.)
‘आधुनिक हिन्दी काव्य’ (संग्रह सम्पादन-सन 1939 ई.)
‘जौहर’ (कविता संग्रह–1941 ई.)
‘रेशमी टाई’ (एकांकी संग्रह-सन 1941 ई.)
‘शिवाजी’ (सन 1943 ई.)
‘चार ऐतिहासिक एकांकी’ (संग्रह-सन 1950 ई.)
‘रूपरंग’ (एकांकी संग्रह-सन 1951 ई.)
‘कौमुदी महोत्सव’
ऐतिहासिक नाटक
‘एकलव्य’
‘उत्तरायण’
‘ओ अहल्या’

रचनाऐं

ये गजरे तारों वाले
इस सोते संसार बीच,
जग कर, सज कर रजनी बाले।
कहाँ बेचने ले जाती हो,
ये गजरे तारों वाले?
मोल करेगा कौन,
सो रही हैं उत्सुक आँखें सारी।
मत कुम्हलाने दो,
सूनेपन में अपनी निधियाँ न्यारी।
निर्झर के निर्मल जल में,
ये गजरे हिला हिला धोना।
लहर हहर कर यदि चूमे तो,
किंचित् विचलित मत होना।
होने दो प्रतिबिम्ब विचुम्बित,
लहरों ही में लहराना।
श्लो मेरे तारों के गजरे।
निर्झर-स्वर में यह गाना।
यदि प्रभात तक कोई आकर,
तुम से हाय! न मोल करे।
तो फूलों पर ओस-रूप में
बिखरा देना सब गजरे।।
एक दीपक किरण-कण हूँ
धूम्र जिसके क्रोड़ में है, उस अनल का हाथ हूँ मैं,
नव प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं
सिद्धि पाकर भी, तुम्हारी साधना का..
ज्वलित क्षण हूँ।
एक दीपक किरण-कण हूँ
व्योम के उर में, अपार भरा हुआ है, जो अँधेरा
और जिसने विश्व को, दो बार क्या सौ बार घेरा
उस तिमिर का नाश करने के लिए,

मैं अटल प्रण हूँ।
एक दीपक किरण-कण हूँ।
शलभ को अमरत्व देकर,प्रेम पर मरना सिखाया
सूर्य का संदेश लेकर,रात्रि के उर में समाया
पर तुम्हारा स्नेह खोकर भी
तुम्हारी ही शरण हूँ।
एक दीपक किरण-कण हूँ।
खोलो प्रियतम खोलो द्वार...
शिशिर कणों से लदी हुई
कमली के भीगे हैं सब तार
चलता है पश्चिम का मारुत
ले कर शीतलता का भार
अरुण किरण सम कर से छू लो
खोलो प्रियतम खोलो द्वार....
डरो ना इतना धूल धूसरित
होगा नहीं तुम्हारा द्वार
धो डाले हैं इनको प्रियतम
इन आँखों से आँसू ढ़ार
अरुण किरण सम कर से छू लो
खोलो प्रियतम खोलो द्वार...

छायावाद

डॉ. वर्मा का कवि-व्यक्तित्त्व द्विवेदीयुगीन प्रवृत्तियों से उदित होकर छायावाद क्षेत्र में मूल्यवान उपलब्धि सिद्ध हुआ। इनकी काव्यगत विशेषताओं में कल्पनावृत्ति, संगीतात्मकता, रहस्यमय सौन्दर्य-दृष्टि (रहस्यवाद) का स्थान अनन्य है। छायावादकाल की कविताएँ इनकी कवि प्रतिभा का सुन्दर प्रतिनिधित्व करती हैं।

रहस्यवाद

हिन्दी रहस्यवाद के क्षेत्र में इनकी अपनी विशेष देन है। अपनी रहस्यवादी कृतियों में इन्होंने प्रकृति और मानवीय हृदय के सूक्ष्म तत्त्वों, जिनमें अलौकिक

सत्ता का अबाध प्रकाश है, बहुत बड़ा सहारा लिया है। इन्होंने प्रकृति की विराट सत्ता में सर्वत्र ईश्वरीय संकेत की अनुभूति की है। इस प्रकार जहाँ इन्होंने अपने इस धरातल के काव्य-जगत में एक ओर मानव आत्मा की सफल प्रेममय प्रवृत्तियों की थाह ली है, वहाँ उन्होंने प्रकृति के रहस्यों का भी सफल अंवेषण किया है। सर्वत्र भावना क्षेत्र में तद्विषयक अभिव्यक्ति के लिए प्राय: रूपकों का सहारा लिया है, जिनमें एक ओर आध्यात्मिक संकेत हैं और दूसरी ओर एक अलौकिक व्यंजना।

नाटककार

नाटककार रामकुमार वर्मा का व्यक्तित्त्व कवि-व्यक्तित्त्व से अधिक शाक्तिशाली और लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। नाटककार धरातल से उनका एकांकीकार स्वरूप ही उनकी विशेष महत्ता है और इस दिशा में वे आधुनिक हिन्दी एकांकी के जनक कहे जाते हैं, जो निर्विवाद सत्य है। प्रारम्भिक प्रभाव की दृष्टि से इन पर शा, इब्सन मैटरलिंक, चेखब आदि का विशेष प्रभाव पड़ा है, किंतु यह सत्य है कि डॉ. वर्मा इस क्षेत्र में, विशेषकर मनोवेगों की अभिव्यक्ति और अपने दृष्टिकोण में सदा मौलिक और भारतीय रहे हैं। 'बादल की मृत्यु' इनका सर्वप्रथम एकांकी नाटक था, जो 1930 ई. में 'विश्वामित्र' में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद डॉ. वर्मा ने क्रमश: दस मिनट, नहीं का रहस्य, पृथ्वीराज की आँखें, चम्पक और एक्ट्रेस आदि नाटकों (एकांकी) की रचना की तथा इस उदय के बाद इनका एकांकीकार व्यक्तित्त्व आधुनिक हिन्दी नाटय साहित्य का प्रकाश-स्तभ हो गया।

कृतित्त्व

रेशमीटाई के उपरांत डॉ. वर्मा के कृतित्त्व में एक विशेष धारा ऐतिहासिक एकांकियों की विकसित हुई, जिसमें डॉ. रामकुमार एक ऐसे आदर्शवादी कलाकार के रूप में हिन्दी नाटय जगत् के सामने आये, जिनमें उनके सांस्कृतिक और साहित्यिक मान्यताओं का सुन्दरतम समंवय स्थापित हुआ है। 'वे कलुष के भीतर से पवित्रता, दैन्य के भीतर से शालीनता, वासना के भीतर से आत्मसंयम एवं क्षुद्रता से महानता का अंवेषण करने में समर्थ हुए हैं और यह सब उन्होंने पात्रों और परिस्थितियों के संघर्ष से स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया है।'

आलोचक

रामकुमार वर्मा एकांकीकार, आलोचक और कवि हैं। इनके काव्य में रहस्यवाद और छायावाद की झलक है। आलोचना के क्षेत्र में रामकुमार वर्मा की कबीरविषयक खोज और उनके पदों का प्रथम शुद्ध पाठ तथा कबीर के रहस्यवाद और योगसाधना की पद्धति की समालोचना विशेष उपलब्धि है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन क्षेत्र में उनके प्रसिद्ध ग्रंथ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (1938 ई.) का विशेष महत्त्व है। सामाजिक तथा शाक्तियों के अध्ययन परिप्रेक्ष्य में हिन्दी साहित्य के आदि युग और मध्य युग को समग्र रूप में देखने का यह पहला सफल प्रयास है। इसके अतिरिक्त काव्य, कला और साहित्य के विभिन्न अंगों तथा माध्यमों पर ललित लेख डॉ. वर्मा के निबन्धकार व्यक्तित्त्व के सुन्दरतम उदाहरण हैं। ''जिस देश के पास हिंदी जैसी मधुर भाषा है वह देश अंग्रेजी के पीछे दीवाना क्यों है? स्वतंत्र देश के नागरिकों को अपनी भाषा पर गर्व करना चाहिए। हमारी भावभूमि भारतीय होनी चाहिए। हमें जूठन की ओर नहीं ताकना चाहिए'' हिंदी को लेकर यह पीड़ा अपनी भाषा के प्रति गहरी प्रतिबद्धता और आस्था रखने वाले डॉ रामकुमार वर्मा की है।

हिंदी एकांकी के जनक

हिंदी की लघु नाट्य परंपरा को एक नया मोड़ देने वाले डॉ. रामकुमार वर्मा आधुनिक हिंदी साहित्य में 'एकांकी सम्राट्' के रूप में समादृत हैं। उन्होंने हिंदी नाटक को एक नया संरचनात्मक आदर्श सौंपा। नाट्य कला के विकास की संभावनाओं के नए पाट खोलते हुए नाट्य साहित्य को जन जीवन के निकट पहुँचा दिया। नाटककार और कवि के साथ-साथ उन्होंने समीक्षक, अध्यापक तथा हिंदी साहित्येतिहास-लेखक के रूप में भी हिंदी साहित्य-सृजन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। नाटककार के रूप में उन्होंने मनोविज्ञान के अनेकानेक स्तरों पर मानव-जीवन की विविध संवेदनाओं को स्वर दिया तो छाया वादी कवियों की कतार में खड़े होकर रहस्य और अध्यात्म की पृष्ठभूमि में अपने काव्यात्मक संस्कारों को विकसित कर रहस्यमयी जगत् के स्वप्नों में सहृदय को प्रवेश कराया। डॉ. वर्मा के साहित्यिक व्यक्तित्त्व को नाटककार और कवि के रूप में अधिक प्रमुखता मिली सन् 1930 में रचित 'बादल की मृत्यु' उनका पहला एकांकी है, जो फेंटेसी के रूप में अत्यंत लोकप्रिय हुआ। भारतीय आत्मा और पाश्चात्य तकनीक के समन्वय से उन्होंने हिंदी एकांकी कला को निखार

दिया। उन्होंने ऐतिहासिक और सामाजिक दो तरह के एकांकी नाटकों की सृष्टि की। ऐतिहासिक नाटकों में उन्होंने भारतीय इतिहास से स्वर्णिम पृष्ठों से नाटकों की विषय-वस्तु को ग्रहण कर चरित्रों की ऐसी सुदृढ़ रूप रेखा प्रस्तुत की, जो पाठकों में उच्च चारित्रिक संस्कार भर सके और सामयिक जीवन की समस्याओं को समाधान की दिशा दे सके। उनके नाटक भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीय उद्‌बोधन के स्वर बखूबी समेटे हुए हैं। गर्व के साथ वे कहते हैं, 'ऐतिहासिक एकांकियों में भारतीय संस्कृति का मेरुदंड-नैतिक मूल्यों में आस्था और विश्वास का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है।' उनके सामाजिक एकांकी प्रेम और सेक्स की समस्याओं से संबंधित हैं। ये एकांकी मानसिक अंर्तइन्द्र की आधार भूमि पर यथार्थवादी कलेवर में समाज और जीवन की वस्तु-स्थिति तक पहुँचते हैं। पर इन एकांकियों में लेखक की आदर्शवादी सोच इतनी गहरी है कि वे आदर्शवादी झोंक में यथार्थ को मनमाना नाटकीय मोड़ दे बैठते हैं। इसलिए उनके स्त्री पात्र शिक्षा और नए संस्कारों के बावजूद प्रेम और जीवन के संघर्ष में जीवन का मोह त्यागकर प्रेम के लिए उत्सर्ग कर बैठते हैं मानो उत्सर्ग या प्राणांत ही सच्चे प्रेम की कसौटी हो। आधुनिक पात्रों पर भी लेखक ने अपनी आदर्शवादी सोच को थोप दिया है।

आलोचकों का दृष्टिकोण

डॉ. रामकुमार वर्मा बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। लेखन की ऐसी कोई विधा नहीं जो उनकी कलम से अछूती रह गई हो। कभी कवि तो कभी एकांकीकार, कभी नाटककार तो कभी संपादक, कभी शोधकर्ता तो कभी साहित्य के इतिहास लेखक, न जाने कितने-कितने रूपों में इस कृतिकार ने हिंदी के साहित्य आकाश को अपनी आभा से चमत्कृत किया। 101 से अधिक कृतियाँ उनकी सृजनशीलता का दस्तावेज हैं। कोई उन्हें नाटक सम्राट मानता है तो कोई हिंदी एकांकी का जनक। कोई कहता है आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद अगर किसी ने प्रमाणिक हिंदी साहित्य का इतिहास लिखा है तो वे डॉ रामकुमार वर्मा ही है। सच तो यह है कि किसी एक व्यक्ति का साहित्य की इतनी विधाओं पर ऐसा अधिकार होना आलोचकों के लिए हैरत का प्रश्न है। महात्मा बुद्ध, भगवान महावीर, अशोक, समुद्र गुप्त, चंद्रगुप्त और शिवाजी से लेकर 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के महानायकों तक सभी उनके नाटकों के पात्र रहे हैं। अपने 26 से अधिक नाटकों के माध्यम से वे देशवासियों में भारतीयता, देश प्रेम

और इतिहास से प्रेरणा लेने की चेतना भरते रहे हैं। साहित्यकार कमलेश्वर कहते हैं, डॉ. वर्मा ने एकांकी विधा का सृजन करके साहित्य में प्रयोगवाद को बढ़ावा दिया। डॉ. धर्मवीर भारती, अजित कुमार, जगदीश गुप्त, मार्कण्डेय, दुष्यंत कुमार, राजनारायण, कन्हैयालाल नंदन, रमानाथ अवस्थी, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, उमाकांत मालवीय और स्वयं मैं उनका छात्र रहा हूँ। ऐतिहासिक नाटकों का यही स्रष्टा जब भावुक हो उठा तो उसके कवि मन से 'एकलव्य', 'उत्तरायण', एवं 'ओ अहल्या' जैसे कालजई सांस्कृतिक महाकाव्य लिख डाले। हिंदी एकांकी के इस जनक ने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और साहित्यिक विषयों पर रंगमंच पर खेले जा सकने वाले 150 से अधिक एकांकी लिख सबको हतप्रभ कर दिया। यही वजह थी कि भगवतीचरण वर्मा ने कहा था, " डॉ. रामकुमार वर्मा रहस्यवाद के पंडित हैं। उन्होंने रहस्यवाद के हर पहलू का अध्ययन किया है। उस पर मनन किया है। उसको समझना हो और उसका वास्तविक और वैज्ञानिक रूप देखना हो तो उसके लिए श्री वर्मा की 'चित्ररेखा' सर्वश्रेष्ठ काव्य ग्रंथ होगा"

6

शुक्लोत्तर युग में हिन्दी गद्य शैली का विकास

जैनेंद्र कुमार

प्रेमचंदोत्तर उपन्यासकारों में जैनेंद्रकुमार (2 जनवरी, 1905–24 दिसंबर, 1988) का विशिष्ट स्थान है। वह हिंदी उपन्यास के इतिहास में मनोविश्लेषणात्मक परंपरा के प्रवर्तक के रूप में मान्य हैं। जैनेंद्र अपने पात्रों की सामान्यगति में सूक्ष्म संकेतों की निहिति की खोज करके उन्हें बड़े कौशल से प्रस्तुत करते हैं। उनके पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ इसी कारण से संयुक्त होकर उभरती हैं। जैनेंद्र के उपन्यासों में घटनाओं की संघटनात्मकता पर बहुत कम बल दिया गया मिलता है। चरित्रों की प्रतिक्रियात्मक संभावनाओं के निर्देशक सूत्र ही मनोविज्ञान और दर्शन का आश्रय लेकर विकास को प्राप्त होते हैं।

जीवन परिचय

जैनेंद्र कुमार का जन्म 2 जनवरी सन 1905, में अलीगढ़ के कौड़ियागंज गाँव में हुआ। उनके बचपन का नाम आनंदीलाल था। इनकी मुख्य देन उपन्यास तथा कहानी है। एक साहित्य विचारक के रूप में भी इनका स्थान मान्य है। इनके जन्म के दो वर्ष पश्चात इनके पिता की मृत्यु हो गई। इनकी माता एवं मामा ने

ही इनका पालन–पोषण किया। इनके मामा ने हस्तिनापुर में एक गुरुकुल की स्थापना की थी। वहीं जैनेंद्र की प्रारंभिक शिक्षा–दीक्षा हुई। उनका नामकरण भी इसी संस्था में हुआ। उनका घर का नाम आनंदी लाल था। सन 1912 में उन्होंने गुरुकुल छोड़ दिया। प्राइवेट रूप से मैट्रिक परीक्षा में बैठने की तैयारी के लिए वह बिजनौर आ गए। 1919 में उन्होंने यह परीक्षा बिजनौर से न देकर पंजाब से उत्तीर्ण की। जैनेंद्र की उच्च शिक्षा काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हुई। 1921 में उन्होंने विश्वविद्यालय की पढ़ाई छोड़ दी और कांग्रेस के असहयोग आंदोलन में भाग लेने के उद्देश्य से दिल्ली आ गए। कुछ समय के लिए ये लाला लाजपत राय के 'तिलक स्कूल ऑफ पॉलिटिक्स' में भी रहे, परंतु अंत में उसे भी छोड़ दिया।

सन 1921 से 23 के बीच जैनेंद्र ने अपनी माता की सहायता से व्यापार किया, जिसमें इन्हें सफलता भी मिली। परंतु सन 23 में वे नागपुर चले गए और वहाँ राजनीतिक पत्रों में संवाददाता के रूप में कार्य करने लगे। उसी वर्ष इन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और तीन माह के बाद छूट गए। दिल्ली लौटने पर इन्होंने व्यापार से अपने को अलग कर लिया। जीविका की खोज में ये कलकत्ते भी गए, परंतु वहाँ से भी इन्हें निराश होकर लौटना पड़ा। इसके बाद इन्होंने लेखन कार्य आरंभ किया। 24 दिसम्बर 1988 को उनका निधन हो गया।

प्रकाशित कृतियाँ

उपन्यास: 'परख' (1929), 'सुनीता' (1935), 'त्यागपत्र' (1937), 'कल्याणी' (1939), 'विवर्त' (1953), 'सुखदा' (1953), 'व्यतीत' (1953) तथा 'जयवर्धन' (1956)।

कहानी संग्रह: 'फाँसी' (1929), 'वातायन' (1930), 'नीलम देश की राजकन्या' (1933), 'एक रात' (1934), 'दो चिड़ियाँ' (1935), 'पाजेब' (1942), 'जयसंधि' (1949) तथा 'जैनेंद्र की कहानियाँ' (सात भाग)।

निबंध संग्रह: 'प्रस्तुत प्रश्न' (1936), 'जड़ की बात' (1945), 'पूर्वोदय' (1951), 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' (1953), 'मंथन' (1953), 'सोच विचार' (1953), 'काम, प्रेम और परिवार' (1953), तथा 'ये और वे' (1954)।

अनूदित ग्रंथ: 'मंदालिनी' (नाटक–1935), 'प्रेम में भगवान' (कहानी संग्रह–1937), तथा 'पाप और प्रकाश' (नाटक–1953)।

सह लेखन: 'तपोभूमि' (उपन्यास, ऋषभचरण जैन के साथ-1932)।

संपादित ग्रंथ: 'साहित्य चयन' (निबंध संग्रह-1951) तथा 'विचारवल्लरी' (निबंध संग्रह-1952)। (सहायक ग्रंथ—जैनेंद्र—साहित्य और समीक्षा: रामरतन भटनागर।)

समालोचन

जैनेन्द्र अपने पथ के अनूठे अन्वेषक थे। उन्होंने प्रेमचन्द के सामाजिक यथार्थ के मार्ग को नहीं अपनाया, जो अपने समय का राजमार्ग था। लेकिन वे प्रेमचन्द के विलोम नहीं थे, जैसा कि बहुत से समीक्षक सिद्ध करते रहे हैं, वे प्रेमचन्द के पूरक थे। प्रेमचन्द और जैनेन्द्र को साथ-साथ रखकर ही जीवन और इतिहास को उसकी समग्रता के साथ समझा जा सकता है। जैनेन्द्र का सबसे बड़ा योगदान हिन्दी गद्य के निर्माण में था। भाषा के स्तर पर जैनेन्द्र द्वारा की गई तोड़-फोड़ ने हिन्दी को तराशने का अभूतपूर्व काम किया। जैनेन्द्र का गद्य न होता तो अज्ञेय का गद्य संभव न होता। हिन्दी कहानी ने प्रयोगशीलता का पहला पाठ जैनेन्द्र से ही सीखा। जैनेन्द्र ने हिन्दी को एक पारदर्शी भाषा और भंगिमा दी, एक नया तेवर दिया, एक नया, सिंटेक्स' दिया। आज के हिन्दी गद्य पर जैनेन्द्र की अमिट छाप है।--रवींद्र कालिया जैनेंद्र के प्राय: सभी उपन्यासों में दार्शनिक और आध्यात्मिक तत्त्वों के समावेश से दुरूहता आई है परंतु ये सारे तत्त्व जहाँ-जहाँ भी उपन्यासों में समाविष्ट हुए हैं, वहाँ वे पात्रों के अंतर का सृजन प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि जैनेंद्र के पात्र बाह्य वातावरण और परिस्थितियों से अप्रभावित लगते हैं और अपनी अंतर्मुखी गतियों से संचालित। उनकी प्रतिक्रियाएँ और व्यवहार भी प्राय: इन्हीं गतियों के अनुरूप होते हैं। इसी का एक परिणाम यह भी हुआ है कि जैनेंद्र के उपन्यासों में चरित्रों की भरमार नहीं दिखाई देती। पात्रों की अल्पसंख्या के कारण भी जैनेंद्र के उपन्यासों में वैयक्तिक तत्त्वों की प्रधानता रही है।

क्रांतिकारिता तथा आतंकवादिता के तत्त्व भी जैनेंद्र के उपन्यासों के महत्त्वपूर्ण आधार है। उनके सभी उपन्यासों में प्रमुख पुरुष पात्र सशक्त क्रांति में आस्था रखते हैं। बाह्य स्वभाव, रुचि और व्यवहार में एक प्रकार की कोमलता और भीरुता की भावना लिए होकर भी ये अपने अंतर में महान विध्वंसक होते हैं। उनका यह विध्वंसकारी व्यक्तित्त्व नारी की प्रेमविषयक अस्वीकृतियों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप निर्मित होता है। इसी कारण जब वे किसी नारी का

थोड़ा भी आश्रय, सहानुभूति या प्रेम पाते हैं, तब टूटकर गिर पड़ते हैं और तभी उनका बाह्य स्वभाव कोमल बन जाता है। जैनेंद्र के नारी पात्र प्राय: उपन्यास में प्रधानता लिए हुए होते हैं। उपन्यासकार ने अपने नारी पात्रों के चरित्र-चित्रण में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है। स्त्री के विविध रूपों, उसकी क्षमताओं और प्रतिक्रियाओं का विश्वसनीय अंकन जैनेंद्र कर सके हैं। 'सुनीता', 'त्यागपत्र' तथा 'सुखदा' आदि उपन्यासों में ऐसे अनेक अवसर आए हैं, जब उनके नारी चरित्र भीषण मानसिक संघर्ष की स्थिति से गुजरे हैं। नारी और पुरुष की अपूर्णता तथा अंतर्निर्भरता की भावना इस संघर्ष का मूल आधार है। वह अपने प्रति पुरुष के आकर्षण को समझती है, समर्पण के लिए प्रस्तुत रहती है और पूरक भावना की इस क्षमता से आल्हादित होती है, परंतु कभी-कभी जब वह पुरुष में इस आकर्षण मोह का अभाव देखती है, तब क्षुब्ध होती है, व्यथित होती है। इसी प्रकार से जब पुरुष से कठोरता की अपेक्षा के समय विनम्रता पाती है, तब यह भी उसे असह्य हो जाता है।

पुरस्कार/सम्मान

1971 में पद्म भूषण
1979 में साहित्य अकादमी पुरस्कार

अज्ञेय

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' (7 मार्च, 1911–4 अप्रैल, 1987) को कवि, शैलीकार, कथा-साहित्य को एक महत्त्वपूर्ण मोड़ देने वाले कथाकार, ललित-निबन्धकार, सम्पादक और अध्यापक के रूप में जाना जाता है। इनका जन्म 7 मार्च 1911 को उत्तर प्रदेश के कसया, पुरातत्त्व-खुदाई शिविर में हुआ। बचपन लखनऊ, कश्मीर, बिहार और मद्रास में बीता। बी.एससी. करके अंग्रेजी में एम.ए. करते समय क्रांतिकारी आन्दोलन से जुड़कर बम बनाते हुए पकड़े गये और वहाँ से फरार भी हो गए। सन1930 ई. के अन्त में पकड़ लिये गये। अज्ञेय प्रयोगवाद एवं नई कविता को साहित्य जगत में प्रतिष्ठित करने वाले कवि हैं। अनेक जापानी हाइकु कविताओं को अज्ञेय ने अनूदित किया। बहुआयामी व्यक्तित्त्व के एकान्तमुखी प्रखर कवि होने के साथ-साथ वे एक अच्छे फोटोग्राफर और सत्यान्वेषी पर्यटक भी थे।

जीवन परिचय

प्रारंभिक शिक्षा–दीक्षा पिता की देख रेख में घर पर ही संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी और बांग्ला भाषा व साहित्य के अध्ययन के साथ हुई। 1925 में पंजाब से एंट्रेंस की परीक्षा पास की और उसके बाद मद्रास क्रिस्चन कॉलेज में दाखिल हुए। वहाँ से विज्ञान में इंटर की पढ़ाई पूरी कर 1927 में वे बी.एससी. करने के लिए लाहौर के फॅरमन कॉलेज के छात्र बने। 1929 में बी. एससी. करने के बाद एम.ए. में उन्होंने अंग्रेजी विषय लियाय पर क्रांतिकारी गतिविधियों में हिस्सा लेने के कारण पढ़ाई पूरी न हो सकी।

कार्यक्षेत्र

1930 से 1936 तक विभिन्न जेलों में कटे। 1936–37 में सैनिक और विशाल भारत नामक पत्रिकाओं का संपादन किया। 1943 से 1946 तक ब्रिटिश सेना में रहेय इसके बाद इलाहाबाद से प्रतीक नामक पत्रिका निकाली और ऑल इंडिया रेडियो की नौकरी स्वीकार की। देश–विदेश की यात्रएं कीं। जिसमें उन्होंने कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय से लेकर जोधपुर विश्वविद्यालय तक में अध्यापन का काम किया। दिल्ली लौटे और दिनमान साप्ताहिक, नवभारत टाइम्स, अंग्रेजी पत्र वाक् और एवरीमैंस जैसी प्रसिद्ध पत्र–पत्रिकाओं का संपादन किया। 1980 में उन्होंने वत्सलनिधि नामक एक न्यास की स्थापना की जिसका उद्देश्य साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में कार्य करना था। दिल्ली में ही 4 अप्रैल 1987 को उनकी मृत्यु हुई। 1964 में आँगन के पार द्वार पर उन्हें साहित्य अकादमी का पुरस्कार प्राप्त हुआ और 1978 में कितनी नावों में कितनी बार पर भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार।

प्रमुख कृतियाँ

कविता संग्रह–भग्नदूत 1933, चिन्ता 1942,इत्यलम्1946,हरी घास पर क्षण भर 1949, बावरा अहेरी 1954,इन्द्रधनुष रौंदे हुये ये 1957,अरी ओ करुणा प्रभामय 1959,आँगन के पार द्वार 1961, कितनी नावों में कितनी बार (1967), क्योंकि मैं उसे जानता हूँ (1970), सागर मुद्रा (1970), पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ (1974), महावृक्ष के नीचे (1977), नदी की बाँक पर छाया (1981), प्रिजन डेज एण्ड अदर पोयम्स (अंग्रेजी में,1946)।

कहानियाँ–विपथगा 1937, परम्परा 1944, कोठरीकी बात 1945, शरणार्थी 1948, जयदोल 1951

उपन्यास–शेखर एक जीवनी–प्रथम भाग(उत्थान)1941, द्वितीय भाग(संघर्ष)1944,नदीके द्वीप 1951, अपने अपने अजनबी 1961।

यात्र वृतान्त– अरे यायावर रहेगा याद? 1943,एक बूँद सहसा उछली 1960।

निबंध संग्रह–सबरंग, त्रिशंकु, आत्मनेपद, आधुनिक साहित्यरू एक आधुनिक परिदृश्य, आलवाल।

आलोचना– त्रिशंकु 1945, आत्मनेपद 1960, भवन्ती 1971, अद्यतन 1971 ई.।

संस्मरण: स्मृति लेखा

डायरियां: भवंती, अंतरा और शाश्वती।

विचार गद्य: संवत्सर

नाटक: उत्तरप्रियदर्शी

जीवनी : रामकमल राय द्वारा लिखित शिखर से सागर तक

संपादित ग्रंथ– आधुनिक हिन्दी साहित्य (निबन्ध संग्रह)1942, तार सप्तक (कविता संग्रह) 1943, दूसरा सप्तक (कविता संग्रह)1951, तीसरा सप्तक (कविता संग्रह), सम्पूर्ण 1959, नये एकांकी 1952, रूपांबरा 1960।

उनका लगभग समग्र काव्य सदानीरा (दो खंड) नाम से संकलित हुआ है तथा अन्यान्य विषयों पर लिखे गए सारे निबंध सर्जना और सन्दर्भ तथा केंद्र और परिधि नामक ग्रंथो में संकलित हुए हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के संपादन के साथ-साथ अज्ञेय ने तारसप्तक, दूसरा सप्तक और तीसरा सप्तक जैसे युगांतरकारी काव्य संकलनों का भी संपादन किया तथा पुष्करिणी और रूपांबरा जैसे काव्य-संकलनों का भी। वे वत्सलनिधि से प्रकाशित आधा दर्जन निबंध–संग्रहों के भी संपादक हैं। प्रख्यात साहित्यकार अज्ञेय ने यद्यपि कहानियां कम ही लिखीं और एक समय के बाद कहानी लिखना बिलकुल बंद कर दिया, परंतु हिन्दी कहानी को आधुनिकता की दिशा में एक नया और स्थायी मोड़ देने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। नि:संदेह वे आधुनिक साहित्य के एक शलाका-पुरूष थे जिसने हिंदी साहित्य में भारतेंदु के बाद एक दूसरे आधुनिक युग का प्रवर्तन किया।

अज्ञेय रचनावली

अज्ञेय रचनावली के 18 खंडों में उनकी समस्त रचनाओं को संग्रहित करने का प्रयास किया गया है। इसके संपादक कृष्णदत्त पालीवाल हैं।

इन खंडों की सामग्री का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

काव्य
काव्य
कहानियाँ
उपन्यास
उपन्यास
उपन्यास
भूमिकाएँ
यात्र–वृत्त
डायरी
निबन्ध
निबन्ध
निबन्ध
निबन्ध
संस्मरण, नाटक, निबन्ध
साक्षात्कार
साक्षात्कार और पत्र
अनुवाद
अनुवाद
पुरस्कार/सम्मान
साहित्य अकादमी
भारतीय ज्ञानपीठ

यशपाल

यशपाल (3 दिसम्बर 1903–26 दिसम्बर 1976) हिन्दी साहित्य के प्रेमचंदोत्तर युगीन कथाकार हैं। ये विद्यार्थी जीवन से ही क्रांतिकारी आन्दोलन से जुड़े थे। इन्हें साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में भारत सरकार द्वारा सन् 1970 में पद्म भूषण से सम्मानित किया गया था।

जीवनी

यशपाल का जन्म 3 दिसम्बर 1903 को पंजाब में, फीरोजपुर छावनी में एक साधारण खत्री परिवार में हुआ था। उनकी माँ श्रीमती प्रेमदेवी वहाँ अनाथालय के एक स्कूल में अध्यापिका थी। यशपाल के पिता हीरालाल एक साधारण कारोबारी व्यक्ति थे। उनका पैतृक गाँव रंघाड़ था, जहाँ कभी उनके पूर्वज हमीरपुर से आकर बस गए थे। पिता की एक छोटी-सी दुकान थी और लोग उन्हें 'लाला' कहते-पुकारते थे। बीच-बीच में वे घोड़े पर सामान लादकर फेरी के लिए आस-पास के गाँवों में भी जाते थे। अपने व्यवसाय से जो थोड़ा-बहुत पैसा उन्होंने इकट्ठा किया था उसे वे, बिना किसी पुखह्ता लिखा-पढ़ी के, हथ उधारू तौर पर सूद पर उठाया करते थे। अपने परिवार के प्रति उनका ध्यान नहीं था। इसीलिए यशपाल की माँ अपने दो बेटों/यशपाल और धर्मपालकृको लेकर फिरोजपुर छावनी में आर्य समाज के एक स्कूल में पढ़ाते हुए अपने बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के बारे में कुछ अधिक ही सजग थीं। यशपाल के विकास में गरीबी के प्रति तीखी घृणा आर्य समाज और स्वाधीनता आंदोलन के प्रति उपजे आकर्षण के मूल में उनकी माँ और इस परिवेश की एक निर्णायक भूमिका रही है। यशपाल के रचनात्मक विकास में उनके बचपन में भोगी गई गरीबी की एक विशिष्ट भूमिका थी।

अंग्रेजी राज और यशपाल जी

अपने बचपन में यशपाल ने अंग्रेजों के आतंक और विचित्र व्यवहार की अनेक कहानियाँ सुनी थीं। बरसात या धूप से बचने के लिए कोई हिन्दुस्तानी अंग्रेजों के सामने छाता लगाए नहीं गुजर सकता था। बड़े शहरों और पहाड़ों पर मुख्य सड़कें उन्हीं के लिए थीं, हिन्दुस्तानी इन सड़कों के नीचे बनी कच्ची सड़क पर चलते थे। यशपाल ने अपने होश में इन बातों को सिर्फ सुना, देखा नहीं, क्योंकि तब तक अंग्रेजों की प्रभुता को अस्वीकार करनेवाले क्रांतिकारी आंदोलन की चिंगारियाँ जगह-जगह फूटने लगी थीं। लेकिन फिर भी अपने बचपन में यशपाल ने जो भी कुछ देखा, वह अंग्रेजों के प्रति घृणा भर देने को काफी था। वे लिखते हैं, ''मैंने अंग्रेजों को सड़क पर सर्व साधारण जनता से सलामी लेते देखा है। हिन्दुस्तानियों को उनके सामने गिड़गिड़ाते देखा है, इससे अपना अपमान अनुमान किया है और उसके प्रति विरोध अनुभव किया।..'

अंग्रेजों और प्रकारांतर से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपनी घृणा के संदर्भ में यशपाल अपने बचपन की दो घटनाओं का उल्लेख विशेष रूप से करते हैं। इनमें से पहली घटना उनके चार-पाँच वर्ष की आयु की है। तब उनके एक संबंधी युक्तप्रांत के किसी कस्बे में कपास ओटने के कारखघने में मैनेजर थे। कारखघना स्टेशन के पास ही काम करने वाले अंग्रेजों के दो-चार बँगले थे। आस-पास ही इन लोगों का खूब आतंक था। इनमें से एक बँगले में मुर्गियाँ पली थीं, जो आस-पास की सड़क पर घूमती-फिरती थीं। एक शाम यशपाल उन मुर्गियों से छेड़खानी करने लगे। बँगले में रहनेवाली मेम साहिबा ने इस हरकत पर बच्चों के फटकार दिया। शायद 'गधा' या 'उल्लू' जैसी कोई गाली भी दी। चार-पाँच वर्ष के बालक यशपाल ने भी उसकी गाली का प्रत्युत्तर गाली से ही दिया। जब उस स्त्री ने उन्हें मारने की धमकी दी, तो उन्होंने भी उसे वैसे ही धमकाते हुए जवाब दिया और फिर भागकर कारखघने में छिप गए। लेकिन घटना यूँ ही टाल दी जानेवाली नहीं थी। इसकी शिकायत उनके संबंधी से की गई। उन्होंने यशपाल की माँ से शिकायत की और अनेक आशंकाओं और आतंक के बीच यह भी बताया कि इससे पूरे कारखघने के लोगों पर कैसा संकट आ सकता है। फिर इसके परिणाम का उल्लेख करते हुए यशपाल लिखते हैं, 'मेरी माँ ने एक छड़ी लेकर मुझे खघूब पीटा मैं जमीन पर लोट-पोट गया परंतु पिटाई जारी रही। इस घटना के परिणाम से मेरे मन में अंग्रेजों के प्रति कैसी भावना उत्पन्न हुई होगी, यह भाँप लेना कठिन नहीं है।...'

दूसरी घटना कुछ इसके बाद की है। तब यशपाल की माँ युक्तप्रांत में ही नैनीताल जिले में तिराई के कस्बे काशीपुर में आर्य कन्या पाठशाला में मुख्याध्यापिका थीं। शहर से काफी दूर, कारखाने से ही संबंधी को बड़ा-सा आवास मिला था और यशपाल की माँ भी वहीं रहती थी। घर के पास ही 'द्रोण सागर' नामक एक तालाब था। घर की स्त्रियाँ प्रायः ही वहाँ दोपहर में घूमने चली जाती थीं। एक दिन वे स्त्रियाँ वहाँ नहा रही थीं कि उसके दूसरी ओर दो अंग्रेज शायद फौजी गोरे, अचानक दिखाई दिए। स्त्रियाँ उन्हें देखकर भय से चीखने लगीं और आत्मरक्षा में एक-दूसरे से लिपटते हुए, भयभीत होकर उसी अवस्था में अपने कपड़ेउठाकर भागने लगीं। यशपाल भी उनके साथ भागे। घटित कुछ विशेष नहीं हुआ लेकिन अंग्रेजों से इस तरह डरकर भागने का दृश्य स्थायी रूप से उनकी बाल-स्मृति में टँक गया। 'अंग्रेज से वह भय ऐसा ही था जैसे बकरियों के झुंड को बाघ देख लेने से भय लगता होगा

अर्थात् अंग्रेज कुछ भी कर सकता था। उससे डरकर रोने और चीखने के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं था।..'

आर्य समाज और कांग्रेस वे पड़ाव थे जिन्हें पार करके यशपाल अंततः क्रांतिकारी संगठन की ओर आए। उनकी माँ उन्हें स्वामी दयानंद के आदर्शों का एक तेजस्वी प्रचारक बनाना चाहती थीं। इसी उद्देश्य से उनकी आरंभिक शिक्षा गुरुकुल कांगड़ी में हुई। आर्य समाजी दमन के विरुद्ध उग्र प्रतिक्रिया के बीज उनके मन की धरती पर यहीं पड़े। यहीं उन्हें पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों को भी निकट से देखने-समझने का अवसर मिला। अपनी निर्धनता का कचोट-भरा अनुभव भी उन्हें यहीं हुआ। अपने बचपन में भी गरीब होने के अपराध के प्रति वे अपने को किसी प्रकार उत्तरदायी नहीं समझ पाते। इन्हीं संस्कारों के कारण वे गरीब के अपमान के प्रति कभी उदासीन नहीं हो सके।

कांग्रेस यशपाल का दूसरा पड़ाव थी। अपने दौर के अनेक दूसरे लोगों की तरह वे भी कांग्रेस के माध्यम से ही राजनीति में आए। राजनैतिक दृष्टि से फिरोजपुर छावनी एक शांत जगह थी। छावनी से तीन मील दूर शहर के लेक्चर और जलसे होते रहते थे। खद्दर का प्रचार भी होता था। 1921 में, असहयोग आंदोलन के समय यशपाल अठारह वर्ष के नवयुवक थेकृदेश-सेवा और राष्ट्रभक्ति के उत्साह से भरपूर, विदेशी कपड़ों की होली के साथ वे कांग्रेस के प्रचार-अभियान में भी भाग लेते थे। घर के ही लुग्गड़ से बने खद्दर के कुर्त्ता-पायजामा और गांधी टोपी पहनते थे। इसी खद्दर का एक कोट भी उन्होंने बनवाया था। बार-बार मैला हो जाने से ऊबकर उन्होंने उसे लाल रँगवा लिया था। इस काल में अपने भाषणों में, ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोधी आँकड़ों के स्त्रोत के रूप में, वे देश-दर्शन नामक जिस पुस्तक का उल्लेख करते हैं वह संभवतः 1904 में प्रकाशित सखाराम गणेश देउस्कर की बांला पुस्तक देशेरकथा है, भारतीय जन-मानस पर जिसकी छाप व्यापक प्रतिक्रिया और लोकप्रियता के कारण ब्रिटिश सरकार ने जिस पर पाबंदी लगा दी थी।

महात्मा गाँधी और गाँधीवाद से यशपाल के तात्कालिक मोहभंग का कारण भले ही 12 फरवरी सन् 22 को, चौरा-चौरी काण्ड के बाद महात्मा गाँधी द्वारा आंदोलन के स्थगन की घोषणा रहा हो, लेकिन इसकी शुरुआत और पहले हो चुकी थी। यशपाल और उनके क्रांतिकारी साथियों का सशस्त्र क्रांति का जो एजेंडा था, गाँधी का अहिंसा का सिद्धांत उसके विरोध में जाता था। महात्मा गाँधी द्वारा धर्म और राजनीति का घाल-मेल उन्हें कहीं बुनियादी रूप से गलत लगता

था। मैट्रिक के बाद लाहौर आने पर यशपाल नेशनल कॉलेज में भगतसिंह, सुखदेव और भगवतीचरण बोहरा के संपर्क में आए। नौजवान भारत सभा की गतिविधियों में उनकी व्यापक और सक्रिय हिस्सेदारी वस्तुत: गाँधी और गाँधीवाद से उनके मोहभंग की एक अनिवार्य परिणाम थी। नौजवान भारत सभा के मुख्य सूत्रधार भगवतीचरण और भगत सिंह थे।

सके लक्ष्यों पर टप्पणी करते हुए यशपाल लिखते हैं, 'नौजवान भारत सभा का कार्यक्रम गाँधीवादी कांग्रेस की समझौतावादी नीति की आलोचना करके जनता को उस राजनैतिक कार्यक्रम की प्रेरणा देना और जनता में क्रांतिकारियों और महात्मा गाँधी तथा गाँधीवादियों के बीच एक बुनियादी अंतर की ओर संकेत करना उपयोगी होगा। लाला लाजपतराय की हिन्दूवादी नीतियों से घोर विरोध के बावजूद उनपर हुए लाठी चार्ज के कारण, जिससे ही अंतत: उनकी मृत्यु हुई, भगतसिंह और उनके साथियों ने सांडर्स की हत्या की। इस घटना को उन्होंने एक राष्ट्रीय अपमान के रूप में देखा जिसके प्रतिरोध के लिए आपसी मतभेदों को भुला देना जरूरी था। भगतसिंह द्वारा असेम्बली में बम-कांड इसी सोच की एक तार्किक परिणति थी, लेकिन भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु की फाँसी के विरोध में महात्मा गाँधी ने जनता की ओर से व्यापक दबाव के बावजूद, कोई औपचारिक अपील तक जारी नहीं की।

अपने क्रांतिकारी जीवन के जो संस्मरण यशपाल ने सिंहावलोकन में लिखे, उनमें अपनी दृष्टि से उन्होंने उस आंदोलन और अपने साथियों का मूल्यांकन किया। तार्किकता, वास्तविकता और विश्वसनीयता पर उन्होंने हमेशा जोर दिया है। यह संभव है कि उस मूल्यांकन से बहुतों को असहमति हो या यशपाल पर तथ्यों को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करने का आरोप हो। आज भी कुछ लोग ऐसे हैं, जो यशपाल को बहुत अच्छा क्रांतिकारी नहीं मानते। उनके क्रांतिकारी जीवन के प्रसंग में उनके चरित्रहनन की दुरभसंधियों को ही वे पूरी तरह सच मानकर चलते हैं और शायद इसीलिए यशपाल की ओर मेरी निरंतर और बार-बार वापसी को वे 'रेत की मूर्ति' गढ़ने-जैसा कुछ मानते हैं।

'क्रांति' को भी वे बम-पिस्तौलवाली राजनीति क्रांति तक ही सीमित करके देखते हैं। राजनीतिक क्रांति यशपाल के लिए सामाजिक व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन का ही एक हिस्सा थी। साम्राज्यवाद को वे एक शोषणकारी व्यवस्था के रूप में देखते थे, जो भगतसिंह के शब्दों में, 'मनुष्य के हाथों मनुष्य के और राष्ट्र के हाथों राष्ट्र के शोषण का चरम रूप है'..(भगतसिंह और उनके

साथियों के दस्तावेज (सं.) जगमोहन और चमनलाल, संस्करण '19, पृ.321) इस व्यवस्था के आधार स्तंभ-जागीरदारी और जमींदारी व्यवस्था भी उसी तरह उनके विरोध के मुख्य एजेंडे के अंतर्गत आते थे। देश में जिस रूप में स्वाधीनता आई और बहुतों की तरह, वे भी संतुष्ट नहीं थे। स्वाधीनता से अधिक वे इसे सत्ता का हस्तांतरण मानते थे। और यह लगभग वैसा ही था जिसे कभी प्रेमचंद ने जॉन की जगह गोविंद को गद्दी पर बैठ जाने के रूप में अपनी आशंका व्यक्त की थी।

क्रांतिकारी राष्ट्र भक्ति और बलिदान की भावना से प्रेरित-संचालित युवक थे। अवसर आने पर उन्होंने हमेशा बलिदान से इसे प्रमाणित भी किया। लेकिन यशपाल अपने साथियों को ईर्ष्या-द्वेष, स्पर्धा-आकांक्षावाले साधारण मनुष्यों के रूप में देखे जाने पर बल देते हैं। अपने संस्मरणों में आज राजेन्द्र यादव जिसे आदर्श घोषित करते हैं-'वे देवता नहीं हैं'-उसकी शुरुआत हिन्दी में वस्तुतः यशपाल के इन्हीं संस्मरणों से होती है। ये क्रांतिकारी सामान्य मनुष्यों से कुछ अलग, विशिष्ठ और अपने लक्ष्यों के लिए एकांतिक रूप से समर्पित होने पर भी सामान्य मानवीय अनुभूतियों से अछूते नहीं थे। हो भी सकते थे। शरतचंद्र ने पथेरदावी में क्रांतिकारियों का जो आदर्श रूप प्रस्तुत किया, यशपाल उसे आवास्तविक मानते थे, जिससे राष्ट्रभक्ति की प्रेरणा मिलती हो, उसे क्रांतिकारी आंदोलन और उस जीवन को वास्तविकता का एक प्रतिनिधि और प्रामाणिक चित्र नहीं माना जा सकता। सुबोधचंद्र सेन गुप्त पथेरदावी में बिजली पानी वाली झंझावाती रात में सव्यसाची के निषक्रमण को भावी महानायक सुभाषचंद्र बोस के पलायन के एक रूपक के तौर पर देखते हैं, जबकि यशपाल सव्यसाची के अतिमानवीय से लगने वाले कार्य-कलापों और खोह-खंडहरों में बिताए जाने वाले जीवन को वास्तविक और प्रामाणिक नहीं मानते। क्रांतिकारी जीवन के अपने लंबे अनुभवों को ही वे अपनी इस आलोचना के मुख्य आधार के रूप में इस्तेमाल करते हैं।

2 मार्च सन् 38 को जेल से रिहाई के बाद, जब उसी वर्ष नवंबर में यशपाल ने विप्लव का प्रकाशन-संपादन शुरू किया तो अपने इस काम को उन्होंने 'बुलेट बुलेटिन' के रूप में परिभाषित किया। जिस अहिंसक और समतामूलक समाज का निर्माण वे राजनीतिक क्रांतिकारी के माध्यम से करना चाहते थे, उसी अधूरे काम को आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने लेखन को अपना आधार बनाया। अपने समय की सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं के केन्द्र में

रखकर लिखे गए साहित्य को प्राय: हमेशा ही विचारवादी कहकर लांछित किया जाता है। नंद दुलारे वाजपेयी का प्रेमचंद के विरुद्ध बड़ा आरोप यही था। अपने ऊपर लगाए गए प्रचार के आरोप का यशपाल ने उत्तर भी लगभग प्रेमचंद की ही तरह दिया।

अपने पहले उपन्यास दादा कॉमरेड की भूमिका में उन्होंने लिखा, 'कला के प्रेमियों को एक शिकायत मेरे प्रति है कि (मैं) कला को गौण और प्रचार को प्रमुख स्थान देता हूँ। मेरे प्रति दिए गए इस फैसले के विरुद्ध मुझे अपील नहीं करनी। संतोष है अपना अभिप्राय स्पष्ट कर पाता हूँ...(दादा कॉमरेड, संस्करण' 59, पृ.4) अपने लेखकीय सरोकारों पर और विस्तार से टिप्पणी करते हुए बाद में उन्होंने लिखा, 'मनुष्य के पूर्ण विकास और मुक्ति के लिए संघर्ष करना ही लेखक की सार्थकता है। जब लेखक अपनी कला के माध्यम से मनुष्य की मुक्ति के लिए पुरानी व्यवस्था और विचारों में अंतर्विरोध दिखाता है और नए आदर्श सामने रखता है तो उस पर आदर्शहीन और भौतिकवादी होने का लांछन लगाया जाता है। आज के लेखक की जड़ें वास्तविकता में हैं, इसलिए वह भौतिकवादी तो है ही परंतु वह आदर्शहीन भी नहीं है। उसके आदर्श अधिक यथार्थ हैं। आज का लेखक जब अपनी कला द्वारा नए आदर्शों का समर्थन करता है तो उस पर प्रचारक होने का लांछन लगाया जाता है। लेखक सदा ही अपनी कला से किसी विचार या आदर्श के प्रति सहानुभूति या विरोध पैदा करता है। साहित्य विचारपूर्ण होगा।

साहित्य और यशपाल जी

यशपाल के लेखन की प्रमुख विधा उपन्यास है, लेकिन अपने लेखन की शुरूआत उन्होने कहानियों से ही की। उनकी कहानियाँ अपने समय की राजनीति से उस रूप में आक्रांत नहीं हैं, जैसे उनके उपन्यास। नई कहानी के दौर में स्त्री के देह और मन के कृत्रिम विभाजन के विरुद्ध एक संपूर्ण स्त्री की जिस छवि पर जोर दिया गया, उसकी वास्तविक शुरूआत यशपाल से ही होती है। आज की कहानी के सोच की जो दिशा है, उसमें यशपाल की कितनी ही कहानियाँ बतौर खाद इस्तेमाल हुई है। वर्तमान और आगत कथा-परिदृश्य की संभावनाओं की दृष्टि से उनकी सार्थकता असंदिग्ध है। उनके कहानी-संग्रहों में पिंजरे की उड़ान, ज्ञानदान, भस्मावृत्त चिनगारी, फूलों का कुर्ता, धर्मयुद्ध, तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ और उत्तमी की माँ प्रमुख हैं।

जो और जैसी दुनिया बनाने के लिए यशपाल सक्रिय राजनीति से साहित्य की ओर आए थे, उसका नक्शा उनके आगे शुरू से बहुत कुछ स्पष्ट था। उन्होंने किसी युटोपिया की जगह व्यवस्था की वास्तविक उपलब्धियों को ही अपना आधार बनाया था। यशपाल की वैचारिक यात्र में यह सूत्र शुरू से अंत तक सक्रिय दिखाई देता है कि जनता का व्यापक सहयोग और सक्रिय भागीदारी ही किसी राष्ट्र के निर्माण और विकास के मुख्य कारक हैं। यशपाल हर जगह जनता के व्यापक हितों के समर्थक और संरक्षक लेखक हैं। अपनी पत्रकारिता और लेखन-कर्म को जब यशपाल 'बुलेट की जगह बुलेटिन' के रूप में परिभाषित करते हैं तो एक तरह से वे अपने रचनात्मक सरोकारों पर ही टिप्पणी कर रहे होते हैं। ऐसे दुर्धर्ष लेखक के प्रतिनिधि रचनाकर्म का यह संचयन उसे संपूर्णता में जानने-समझने के लिए प्रेरित करेगा, ऐसा हमारा विश्वास है। वर्षों 'विप्लव' पत्र का संपादन-संचालन। समाज के शोषित, उत्पीड़ित तथा सामाजिक बदलाव के लिए संघर्षरत व्यक्तियों के प्रति रचनाओं में गहरी आत्मीयता। धार्मिक ढोंग और समाज की झूठी नैतिकताओं पर करारी चोट। अनेक रचनाओं के देशी-विदेशी भाषाओं में अनुवाद। 'मेरी तेरी उसकी बात' नामक उपन्यास पर साहित्य अकादमी पुरस्कार।

पुरस्कार

'देव पुरस्कार' (1955)
'सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार' (1970)
'मंगला प्रसाद पारितोषिक' (1971)
'पद्म भूषण'
साहित्य अकादमी पुरस्कार
प्रमुख प्रकाशित कृतियाँ

दिव्या, देशद्रोही, झूठा सच, दादा कामरेड, अमिता, मनुष्य के रूप, मेरी तेरी उसकी बात (उपन्यास), पिंजड़े की उड़ाना, फूलो का कुर्ता, भस्मावृत चिंगारी, धर्मयुद्ध, सच बोलने की भूल (कहानी-संग्रह) तथा चक्कर क्लब (व्यंग्य-संग्रह)।

उपन्यास
दिव्या
देशद्रोही

झूठा सच
दादा कामरेड
अमिता
मनुष्य के रूप
तेरी मेरी उसकी बात
कहानी संग्रह
पिंजरे की उड़ान
फूलो का कुर्ता
धर्मयुद्ध
सच बोलने की भूल
भस्मावृत चिंगारी
उत्तनी की माँ
चित्र का शीर्षक
तुमने क्यों कहा था मैं सुंदर हूँ
ज्ञान दान
वो दुनिया
व्यंग्य संग्रह
चक्कर क्लब
कुत्ते की पूंछ

रांगेय राघव

रांगेय राघव असाधारण प्रतिभा के धनी रचनाकार थे। हिन्दी के विशिष्ट और बहुमुखी प्रतिभावालों में से एक थे। इनका मूल नाम टी.एन. बी.आचार्य (तिरूमल्लै नंबकम् वीरराघव आचार्य) था। हिन्दी साहित्य का सभंवत: ऐसा कोई अंग नहीं है, जहाँ हिन्दी साहित्य के साधक डॉ. रांगेय राघव ने अपनी साधना का प्रयोग न किया हो। ये गौर वर्ण, उन्नत ललाट, लम्बी नासिका और चेहरे पर गंभीरतामयी मुस्कान बिखेरे हुए हिन्दी साहित्य के अनन्य उपासक थे। वे रामानुजाचार्य परम्परा के तमिल देशीय आयंगर ब्राह्मण थे।

जीवन परिचय

रांगेय राघव का जन्म 17 जनवरी, 1923 ई. में आगरा में हुआ था। पिता श्री रंगाचार्य के पूर्वज लगभग तीन सौ वर्ष पहले जयपुर और फिर भरतपुर के बयाना कस्बे में आकर रहने लगे थे। रांगेय राघव का जन्म हिन्दी प्रदेश में हुआ। उन्हें तमिल और कन्नड़ भाषा का भी ज्ञान था। रांगेय की शिक्षा आगरा में हुई थी। 'सेंट जॉन्स कॉलेज' से 1944 में स्नातकोत्तर और 1949 में 'आगरा विश्वविद्यालय' से गुरु गोरखनाथ पर शोध करके उन्होंने पी.एच.डी. की थी। रांगेय राघव का हिन्दी, अंग्रेजी, ब्रज और संस्कृत पर असाधारण अधिकार था।

कार्यक्षेत्र

13 वर्ष की आयु में लिखना शुरू किया। 1942 में अकालग्रस्त बंगाल की यात्र के बाद एक रिपोर्ताज लिखा—तूफानों के बीच। यह रिपोर्ताज हिंदी में चर्चा का विषय बना। साहित्य के अतिरिक्त चित्रकला, संगीत और पुरातत्त्व में विशेष रुचि। मात्र 39 वर्ष की आयु में कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, रिपोर्ताज के अतिरिक्त आलोचना, संस्कृति और सभ्यता पर कुल मिलाकर 150 से अधिक पुस्तकें लिखीं। रांगेय राघव के कहानी-लेखन का मुख्य दौर भारतीय इतिहास की दृष्टि से बहुत हलचल-भरा विरल कालखंड है। कम मौकों पर भारतीय जनता ने इतने स्वप्न और दुरूस्वप्न एक साथ देखे थे। आशा और हताशा ऐसे अड़ोस-पड़ोस में खड़ी देखी थी। रांगेय राघव की कहानियों की विशेषता यह है कि इस पूरे समय की शायद ही कोई घटना हो जिसकी गूँजें-अनुगूँजे उनमें न सुनी जा सकें। सच तो यह है कि रांगेय राघव ने हिंदी कहानी को भारतीय समाज के उन धूल-काँटों भरे रास्तों, आवारे-लफंडरों-परजीवियों की फक्कड़ जिंदगी, भारतीय गाँवों की कच्ची और कीचड़-भरी पगडंडियों की गश्त करवाई, जिनसे वह भले ही अब तक पूर्णतः अपरिचित न रही हो पर इस तरह हिली-मिली भी नहीं थी और इन 'दुनियाओं' में से जीवन से लबलबाते ऐसे-ऐसे कद्दावर चरित्र प्रकट किए जिन्हें हम विस्मृत नहीं कर सकेंगे। 'गदल' भी एक ऐसा ही चरित्र है।

सृजन-यात्र

अपनी सृजन-यात्र के बारे में रांगेय राघव ने स्वयं कोई खघस ब्योरा नहीं छोड़ा है। खघसकर अपने प्रारंभिक रचनाकाल के बारे में, लेकिन एक जगह

उन्होंने लिखा है, ‘‘चित्रकला का अभ्यास कुछ छूट गया था। 1938 ई. की बात है, तब ही मैंने कविता लिखना शुरू किया। सांध्या-भ्रमण का व्यसन था। एक दिन रंगीन आकाश को देखकर कुछ लिखा था। वह सब खो गया है और तब से संकोच से मन ने स्वीकार किया कि मैं कविता कर सकता हूँ। ‘प्रेरणा कैसे हुई’ पृष्ठ लिखना अत्यंत दुरुह है। इतना ही कह सकता हूँ कि चित्रों से ही कविता प्रारंभ हुई थी और एक प्रकार की बेचैनी उसके मूल में थी। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक प्राचीन ब्राह्मण कहानियाँ की प्रस्तावना में रांगेय राघव लिखते है कि ‘आर्य परम्पराओं का अनेक अनार्य परम्परओं से मिलन हुआ है। भारत की पुरातन कहानियों में हमें अनेक परम्परओं के प्रभाव मिलते हैं। महाभारत के युद्ध के बाद हिन्दू धर्म में वैष्णव और शिव चिन्तन की धारा वही और इन दोनों सम्प्रदयों ने पुरातन ब्राह्मण परम्पराओं को अपनी अपनी तरह स्वीकार किया। इसी कारण से वेद और उपनिषद में वर्णित पौराणिक चरित्रों के वर्णन में बदलाव देखने को मिलता है। और बाद के लेखन में हमें अधिक मानवीय भावों की छाया देखने को मिलती है। मैं ये महसूस करता हूँ कि मेरे से पहले के लेखकों ने अपने विश्वास और धारणाओं के आलोक में मुख्य पात्रो का वर्णन किया है और ऊँचे मानवीय आदर्श खडे किये हैं और अपने पात्रों को साम्प्रदायिकता से बचाये रखा है इसलिये मैंने पुरातन भारतीय चिन्तन को पाठकों तक पहुचाने का प्रयास किया है।’ उनके बारे में कहा जाता था कि वो दोनो हाथों से रात दिन लिखते थे और उनके लिखे ढेर को देखकर समकालीन ये भी कयास लगाते थे कि शायद वो तन्त्र सिद्ध है नहीं तो इतने कम समय में कोई भी इतना ज्यादा और इतना बढिया कैसे लिख सकता है। उन्हें हिन्दी का पहला मसिजीवी कलमकार भी कहा जाता है जिनकी जीविका का साधन सिर्फ लेखन था।

हिंदी के शेक्सपीयर

शायद बहुत कम लोग यह जानते होंगे कि हिन्दी साहित्य का यह अनूठा व्यक्तित्त्व वस्तुत: तमिल भाषी था, जिसने हिन्दी साहित्य और भाषा की सेवा करके अपने अलौकिक प्रतिभा से हिन्दी के ‘शेक्सपीयर’ की संज्ञा ग्रहण की। रांगेय राघव नाम के पीछे उनके व्यक्तित्त्व और साहित्य में दृष्टिगत होने वाली समन्वय की भावना परिलक्षित होती है। अपने पिता रंगाचार्य के नाम से उन्होंने रांगेय स्वीकार किया और अपने स्वयं के नाम राघवाचार्य से राघव शब्द लेकर

अपना नाम रांगेय राघव रख लिया। उनके साहित्य में जैसे सादगी परिलक्षित होती है वैसे ही उनका जीवन सीधा-सधा और सादगीपूर्ण रहा है।

साहित्य की साधना

भरतपुर जिले में एक तहसील है वैर। शहर के कोलाहल से दूर प्राकृतिक वातावरण, ग्रामीण सादगी और संस्कृति तथा वहाँ के वातावरण की अद्‌भुत शक्ति ने रांगेय राघव को साहित्य की साधना में इस सीमा तक प्रयुक्त किया कि वह उस छोटी-सी नगरी वैर में ही बस गये। वैर भरतपुर के जाट राजाओं के एक छोटे से कलि के कारण तो प्रसिद्ध है ही, परन्तु वहाँ तमिलनाडु के स्वामी रंगाचार्य का दक्षिण शैली का सीतारामजी का मंदिर भी बहुत प्रसिद्ध है। इस मंदिर के महंत डॉ. रांगेय राघव के बड़े भाई रहे हैं। मंदिर की शाला में बिल्कुल तपस्वी जैसा जीवन व्यतीत करने वाले तमिल भाषी व्यक्ति ने हिन्दी साहित्य की देवी की पुजारी की तरह आराधना-अर्चना की। नारियल की जटाओं के गद्दे पर लेटे-लेटे और अपने पैर के अँगूठे में छत पर टंगे पंखे की डोरी को बाँधकर हिलाते हुए वह घंटों तक साहित्य की विभिन्न विधाओं और अयामों के बारे में सोचते रहते थे। जब डॉ. रांगेय राघव सोचते तो सोचते ही रहते थे—कई दिनों तक न वह कुछ लिखते और न पढ़ते। और जब उन्हें पढ़ने की धुन सवार होती तो वह लगातार कई दिनों तक पढ़ते ही रहते। सोचने और पढ़ने के बाद जब कभी उनका मूड बनता तो वह लिखने बैठ जाते और निरन्तर लिखते ही रहते। लिखने की उनकी कला अद्‌भुत थी। एक बार तो लिखने बैठे तो वह उस रचना को समाप्त करके ही छोड़ते थे। इसी कारण जितनी कृतियाँ उन्होंने लिखीं वह सब पूरी की पूरी लिखी गईं। उनका अंतिम उपन्यास 'आखिरी आवाज' कुछ अर्थों में इस कारण अधूरा रह गया कि वह कई महीनों तक मौत से जूझते रहे। काश ऐसा होता कि वह मौत से जूझने के बाद जीवित रहे होते तो शायद एक और उपन्यास मौत के संघर्ष के बारे में हिन्दी साहित्य को मिल गया होता।

जानपील सिगरेट

सिगरेट पीने का उन्हें बेहद शौक था। वह सिगरेट पीते तो केवल जानपील ही, दूसरी सिगरेट को वह हाथ तक नहीं लगाते थे। एक दर्जन सिगरेट की डिब्बी उनकी लिखने की मेज पर रखी रहती थीं और ऐश-ट्रे के नाम पर रखा गया चीनी का प्याला दिन में तीन-चार बार साफ करना पड़ता। उनका कमरा था कि

सिगरेट की गंध और धुएँ से भरा रहता था। किसी भी आँगन्तुक ने आकर उनके कमरे का दरवाजा खोला तो सिगरेट का एक भभका उसे लगता, परन्तु हिन्दी साहित्य के इस साधक के लिये सिगरेट पीना एक आवश्यकता बन गई थी। बिना सिगरेट पिये वह कुछ भी कर सकने में असमर्थ थे। परन्तु शायद सिगरेट पीने की यह आदत ही उनकी मृत्यु का कारण बनी, जिसने 1962 में हिन्दी के इस अनुपम योद्धा को हमसे हमेशा के लिये छीन लिया।

शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद

विदेशी साहित्य को हिन्दी भाषा के माध्यम से हिन्दी भाषी जनता तक पहुँचाने का महान् कार्य डॉ. रांगेय राघव ने किया। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से कुछ फ्राँसिसी और जर्मन साहित्यकारों का अध्ययन करने के पश्चात् उनके बारे में हिन्दी जगत् को अवगत कराने का कार्य उन्होंने किया। विश्व प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटककार शेक्सपीयर को तो उन्होंने पूरी तरह हिन्दी में उतार ही दिया। शेक्सपीयर की अनेक रचनाओं को हिन्दी में अनुवादित करके हिन्दी जगत् को विश्व की महान् कृतियों से धनी बनाया। शेक्सपीयर को दुखांत नाटकों में हेमलेट, ओथेलो और मैकबेथ को तो जिस खूबी से डॉ.-रांगेय राघव ने हिन्दी के पाँडाल में उतारा वह उनके जीवन की विशेष उपलब्धियों में गिनी जाती है। उनके अनुवाद की यह विशेषता थीं कि वह अनुवाद न लगकर मूल रचना ही प्रतीत होती है। शेक्सपीयर की लब्ध प्रतिष्ठित कृतियों को हिन्दी में प्रस्तुत कर उनकी भावनाओं के अनुरूप शेक्सपीयर को हिन्दी साहित्य में प्रकट करने का श्रेय डॉ. रांगेय राघव को ही जाता है और इसी कारण वह हिन्दी के शेक्सपीयर कहे जाते हैं।

जीवनी प्रधान उपन्यास

डॉ. रांगेय राघव जी ने 1950 ई. के पश्चात् कई जीवनी प्रधान उपन्यास लिखे हैं, इनका पहला उपन्यास सन् 1951-1953 ई. के बीच प्रकाशित हुआ।

भारती का सपूत जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की जीवनी पर आधारित है।
लखिमा की आंखें जो विद्यापति के जीवन पर आधारित है।
मेरी भव बाधा हरो जो बिहारी के जीवन पर आधारित है।
रत्ना की बात जो तुलसी के जीवन पर आधारित है।
लोई का ताना जो कबीर–जीवन पर आधारित है।
धूनी का धुंआं जो गोरखनाथ के जीवन पर कृति है।

यशोधरा जीत गई जो गौतम बुद्ध पर लिखा गया है।
देवकी का बेटा' जो कृष्ण के जीवन पर आधारित है।

लेखकों का दृष्टिकोण

प्रसिद्ध लेखक राजेंद्र यादव ने कहा है–''उनकी लेखकीय प्रतिभा का ही कमाल था कि सुबह यदि वे आद्यैतिहासिक विषय पर लिख रहे होते थे तो शाम को आप उन्हें उसी प्रवाह से आधुनिक इतिहास पर टिप्पणी लिखते देख सकते थे।''

दिल्ली विश्वविद्यालय में प्राध्यापक विभास चन्द्र वर्मा ने कहा कि आगरा के तीन 'र' का हिंदी साहित्य में महत्त्वपूर्ण योगदान है और ये हैं रांगेय राघव, रामविलास शर्मा और राजेंद्र यादव। वर्मा ने कहा कि रांगेय राघव हिंदी के बेहद लिक्खाड़ लेखकों में शुमार रहे हैं। उन्होंने करीब करीब हर विधा पर अपनी कलम चलाई और वह भी बेहद तीक्ष्ण दृष्टि के साथ। उनकी रचनाओं में स्त्री पात्र अत्यंत मजबूत होती थीं और लगभग पूरा कथानक उनके इर्द-गिर्द घूमता था। सिंधु घाटी सभ्यता के एक प्रमुख केंद्र मोअन-जो-दड़ो पर आधारित उनका काल्पनिक उपन्यास 'मुर्दों का टीला' से लेकर कहानी तक में स्त्री पात्र कथा संसार की धुरी होती थी। साथ ही स्त्री के चिंतन विश्व को दर्शाती उनकी कृतियाँ 'रत्ना की बात', 'लोई का ताना और लखिमा की आँखें' बेमिसाल हैं, जो क्रमशः तुलसी की पत्नी, कबीर की प्रेरणा और विद्यापित की प्रेमिका की दृष्टि से पेश विश्व-दर्शन है।

रचनाएँ

रांगेय राघव हिन्दी के प्रगतिशील विचारों के लेखक थे, किन्तु मार्क्स के दर्शन को उन्होंने संशोधित रूप में ही स्वीकार किया। उन्होंने अल्प समय में ही कितने साहित्य का सृजन किया, इसका अनुमान इस विवरण से लगाया जा सकता है। उनके प्रकाशित ग्रन्थों में 42 उपन्यास, 11 कहानी, 12 आलोचनात्मक ग्रन्थ, 8 काव्य, 4 इतिहास, 6 समाजशास्त्र विषयक, 5 नाटक और लगभग 50 अनूदित पुस्तकें हैं। ये सब रचनाएँ उनके जीवन काल में प्रकाशित हो चुकी थीं। 39 वर्ष की कच्ची उम्र में इनका देहान्त हुआ, लगभग 20 पुस्तकें प्रकाशन की प्रतीक्षा में थीं। यद्यपि उन्होंने कुछ अंग्रेजी ग्रन्थों के भी अनुवाद किए, किन्तु उनके अधिकांश साहित्य का परिवेश भारतीय संस्कृति और ऐतिहासिक जीवन ही रहा है।

रांगेय राघव की कृतियाँ
उपन्यास
घरौंदा
विषाद मठ
मुरदों का टीला
सीधा साधा रास्ता
हुजूर
चीवर
प्रतिदान
अँधेरे के जुगनू
काका
उबाल
पराया
देवकी का बेटा
यशोधरा जीत गई
उपन्यास
लोई का ताना
रत्ना की बात
भारती का सपूत
आँधी की नावें
अँधेरे की भूख
बोलते खंडहर
कब तक पुकारूँ
पक्षी और आकाश
बौने और घायल फूल
लखिमा की आँखें
राई और पर्वत
बंदूक और बीन
राह न रुकी
उपन्यास
जब आवेगी काली घटा

धूनी का धुआँ
छोटी सी बात
पथ का पाप
मेरी भव बाधा हरो
धरती मेरा घर
आग की प्यास
कल्पना
प्रोफेसर
दायरे
पतझर
आखिरी आवाज
कहानी संग्रह
साम्राज्य का वैभव
देवदासी
समुद्र के फेन
अधूरी मूरत
जीवन के दाने
अंगारे न बुझे
ऐयाश मुरदे
इन्सान पैदा हुआ
पाँच गधे
एक छोड़ एक
काव्य
अजेय
खंडहर
पिघलते पत्थर
मेधावी
राह के दीपक
पांचाली
रूपछाया
नाटक

स्वर्णभूमि की यात्र
रामानुज
विरूढ़क
रिपोर्ताज
तूफानों के बीच
आलोचना
भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका
भारतीय संत परंपरा और समाज
संगम और संघर्ष
प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास
प्रगतिशील साहित्य के मानदंड
समीक्षा और आदर्श
काव्य यथार्थ और प्रगति
काव्य कला और शास्त्र
महाकाव्य विवेचन
तुलसी का कला शिल्प
आधुनिक हिंदी कविता में प्रेम और शृंगार
आधुनिक हिंदी कविता में विषय और शैली
गोरखनाथ और उनका युग
पुरस्कार
हिंदुस्तानी अकादमी पुरस्कार (1947)
डालमिया पुरस्कार (1954)
उत्तर प्रदेश शासन पुरस्कार (1957 तथा 1959)
राजस्थान साहित्य अकादमी पुरस्कार (1961)
महात्मा गाँधी पुरस्कार (1966)

निधन

रांगेय राघव का निधन मात्र 39 वर्ष की उम्र में मुंबई में सन् 1962 में हो गया था। इस अद्‌भुत रचनाकार को मृत्यु ने इतनी जल्दी न उठा लिया होता तो वे और भी नये मापदण्ड स्थापित करते। विरले ही ऐसे सपूत हुए हैं जिन्होंने विधाता की ओर से कम उम्र मिलने के बावजूद इस विश्व को इतना कुछ

अवदान दे दिया कि आज भी अच्छे–अच्छे लेखक दांतों तले अंगुलियां दबाने को विवश हो जाते हैं। उपन्यास, कहानी, कविता, आलोचना, नाटक, रिपोर्ताज, इतिहास–संस्कृति तथा समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और अनुवाद, चित्रकारी... या यूं कहें कि सभी विधाओं पर उनकी लेखनी बेबाक चलती रही और उससे जो निःसृत हुआ, उससे साहित्यप्रेमी आज भी आनंदित होते हैं, प्रेरणा लेते हैं। 12 सितम्बर 1962 को उनका शरीर पंततत्त्व में विलीन हो गया, लेकिन उनका यश आज भी विद्यमान है। 39 वर्ष की अल्पायु में डेढ़ सौ से अधिक कृतियाँ भेंट कर निस्संदेह उन्होंने सृजन जगत् को आश्चर्यचकित कर दिया। बंगाल के अकाल की विभीषिका पर रिपोर्ताज 'तूफानों के बीच' में उन्होंने जो कीर्तिमान स्थापित किया, वह आज भी अविस्मरणीय है।

राहुल सांकृत्यायन

राहुल सांकृत्यायन जिन्हें महापंडित की उपाधि दी जाती है हिन्दी के एक प्रमुख साहित्यकार थे। वे एक प्रतिष्ठित बहुभाषाविद् थे और बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में उन्होंने यात्र वृतांत/यात्रा साहित्य तथा विश्व–दर्शन के क्षेत्र में साहित्यिक योगदान किए। वह हिंदी यात्रासहित्य के पितामह कहे जाते हैं। बौद्ध धर्म पर उनका शोध हिन्दी साहित्य में युगान्तरकारी माना जाता है, जिसके लिए उन्होंने तिब्बत से लेकर श्रीलंका तक भ्रमण किया था। इसके अलावा उन्होंने मध्य–एशिया तथा कॉकेशस भ्रमण पर भी यात्र वृतांत लिखे जो साहित्यिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

21वीं सदी के इस दौर में जब संचार–क्रान्ति के साधनों ने समग्र विश्व को एक 'ग्लोबल विलेज' में परिवर्तित कर दिया हो एवं इण्टरनेट द्वारा ज्ञान का समूचा संसार क्षण भर में एक क्लिक पर सामने उपलब्ध हो, ऐसे में यह अनुमान लगाना कि कोई व्यक्ति दुर्लभ ग्रन्थों की खोज में हजारों मील दूर पहाड़ों व नदियों के बीच भटकने के बाद, उन ग्रन्थों को खच्चरों पर लादकर अपने देश में लाए, रोमांचक लगता है, पर ऐसे ही थे भारतीय मनीषा के अग्रणी विचारक, साम्यवादी चिन्तक, सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत, सार्वदेशिक दृष्टि एवं घुमक्कड़ी प्रवृत्ति के महान पुरूष राहुल सांकृत्यायन।

राहुल सांकृत्यायन के जीवन का मूलमंत्र ही घुमक्कड़ी यानी गतिशीलता रही है। घुमक्कड़ी उनके लिए वृत्ति नहीं वरन् धर्म था। आधुनिक हिन्दी साहित्य

में राहुल सांकृत्यायन एक यात्रकार, इतिहासविद्, तत्त्वान्वेषी, युगपरिवर्तनकार साहित्यकार के रूप में जाने जाते है।

आरंभिक जीवन

राहुल सांकृत्यायन का जन्म उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के पंदहा गाँव में 9 अप्रैल 1893 को हुआ था। उनके बाल्यकाल का नाम केदारनाथ पाण्डेय था। उनके पिता गोवर्धन पाण्डेय एक धार्मिक विचारों वाले किसान थे। उनकी माता कुलवंती अपने माता-पिता की अकेली पुत्री थीं। दीप चंद पाठक कुलवंती के छोटे भाई थे। वह अपने माता-पिता के साथ रहती थी। बचपन में ही इनकी माता का देहांत हो जाने के कारण इनका पालन-पोषण इनके नाना श्री राम शरण पाठक और नानी ने किया था। 1898 में इन्हे प्राथमिक शिक्षा के लिए गाँव के ही एक मदरसे में भेजा गया। राहुल जी का विवाह बचपन में कर दिया गया। यह विवाह राहुल जी के जीवन की एक संक्रान्तिक घटना थी। जिसकी प्रतिक्रिया में राहुल जी ने किशोरावस्था में ही घर छोड़ दिया। घर से भाग कर ये एक मठ में साधु हो गए। लेकिन अपनी यायावरी स्वभाव के कारण ये वहा भी टिक नहीं पाये। चौदह वर्ष की अवस्था में ये कलकत्ता भाग आए। इनके मन में ज्ञान प्राप्त करने के लिए गहरा असंतोष था। इसीलिए यहाँ से वहा तक सारे भारत का भ्रमण करते रहे।

राहुल जी का समग्र जीवन ही रचना/धर्मिता की यात्र थी। जहाँ भी वे गए वहाँ की भाषा व बोलियों को सीखा और इस तरह वहाँ के लोगों में घुलमिल कर वहाँ की संस्कृति, समाज व साहित्य का गूढ़ अध्ययन किया। राहुल सांकृत्यायन उस दौर की उपज थे जब ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारतीय समाज, संस्कृति, अर्थव्यवस्था और राजनीति सभी संक्रमणकालीन दौर से गुजर रहे थे। वह दौर समाज सुधारकों का था एवं काग्रेस अभी शैशवावस्था में थी। इन सब से राहुल अप्रभावित न रह सके एवं अपनी जिज्ञासु व घुमक्कड़ प्रवृत्ति के चलते घर-बार त्याग कर साधु वेषधारी संन्यासी से लेकर वेदान्ती, आर्यसमाजी व किसान नेता एवं बौद्ध भिक्षु से लेकर साम्यवादी चिन्तक तक का लम्बा सफर तय किया। सन् 1930 में श्रीलंका जाकर वे बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये एवं तभी से वे 'रामोदर साधु' से 'राहुल' हो गये और सांकृत्य गोत्र के कारण सांकृत्यायन कहलाये। उनकी अद्‌भुत तर्कशक्ति और अनुपम ज्ञान भण्डार को देखकर काशी के पंडितों ने उन्हें महापंडित की उपाधि दी एवं इस प्रकार वे केदारनाथ पाण्डे

से महापंडित राहुल सांकृत्यायन हो गये। सन् 1937 में रूस के लेनिनग्राद में एक स्कूल में उन्होंने संस्कृत अध्यापक की नौकरी कर ली और उसी दौरान ऐलेना नामक महिला से दूसरी शादी कर ली, जिससे उन्हें इगोर राहुलोविच नामक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। छत्तीस भाषाओं के ज्ञाता राहुल ने उपन्यास, निबंध, कहानी, आत्मकथा, संस्मरण व जीवनी आदि विधाओं में साहित्य सृजन किया परन्तु अधिकांश साहित्य हिन्दी में ही रचा। राहुल तथ्यान्वेषी व जिज्ञासु प्रवृत्ति के थे सो उन्होंने हर धर्म के ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया। अपनी दक्षिण भारत यात्र के दौरान संस्कृत-ग्रन्थों, तिब्बत प्रवास के दौरान पालि-ग्रन्थों तो लाहौर यात्र के दौरान अरबी भाषा सीखकर इस्लामी धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया। निश्चिततः राहुल सांकृत्यायन की मेधा को साहित्य, अध्यात्म, ज्योतिष, विज्ञान, इतिहास, समाज शास्त्र, राजनीति, भाषा, संस्कृति, धर्म एवं दर्शन के टुकड़ों में बाँटकर नहीं देखा जा सकता वरन् समग्रतः ही देखना उचित है।

बौद्ध-धर्म की ओर झुकाव

1916 तक आते-आते इनका झुकाव बौद्ध-धर्म की ओर होता गया। बौद्ध धर्म में दीक्षा लेकर, वे राहुल सांकृत्यायन बने। बौद्ध धर्म में लगाव के कारण ही ये पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, आदि भाषाओ के सीखने की ओर झुके। 1917 की रुसी क्रांति ने राहुल जी के मन को गहरे में प्रभावित किया। वे अखिल भारतीय किसान सभा के महासचिव भी रहे। उन्होंने तिब्बत की चार बार यात्र की और वहा से विपुल साहित्य ले कर आए। 1932 को राहुल जी यूरोप की यात्र पर गए। 1935 में जापान, कोरिया, मंचूरिया की यात्र की। 1937 में मास्को में यात्र के समय भारतीय-तिब्बत विभाग की सचिव लोला येलेना से इनका प्रेम हो गया। और वे वही विवाह कर के रूस में ही रहने लगे। लेकिन किसी कारण से वे 1948 में भारत लौट आए।

राहुल जी को हिन्दी और हिमालय से बड़ा प्रेम था। वे 1950 में नैनीताल में अपना आवास बना कर रहने लगे। यहाँ पर उनका विवाह कमला सांकृत्यायन से हुआ। इसके कुछ बर्षो बाद वे दार्जिलिंग (पश्चिम बंगाल) में जाकर रहने लगे, लेकिन बाद में उन्हें मधुमेह से पीड़ित होने के कारण रूस में इलाज कराने के लिए भेजा गया। 1963 में सोवियत रूस में लगभग सात महीनो के इलाज के बाद भी उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं हुआ। 14 अप्रैल 1963 को उनका दार्जिलिंग (पश्चिम बंगाल) में देहांत हो गया।

साहित्यिक रुझान

राहुल जी वास्तव के ज्ञान के लिए गहरे असंतोष में थे, इसी असंतोष को पूरा करने के लिए वे हमेशा तत्पर रहे। उन्होंने हिन्दी साहित्य को विपुल भण्डार दिया। उन्होंने मात्र हिन्दी साहित्य के लिए ही नहीं, बल्कि वे भारत के कई अन्य क्षेत्रों के लिए भी उन्होंने शोध कार्य किया। वे वास्तव में महापंडित थे। राहुल जी की प्रतिभा बहुमुखी थी और वे संपन्न विचारक थे। धर्म, दर्शन, लोकसाहित्य, यात्रासहित्य, इतिहास, राजनीति, जीवनी, कोष, प्राचीन ग्रंथो का संपादन कर उन्होंने विविध क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनकी रचनाओ में प्राचीन के प्रति आस्था, इतिहास के प्रति गौरव और वर्तमान के प्रति सधी हुई दृष्टि का समन्वय देखने को मिलता है। यह केवल राहुल जी थे, जिन्होंने प्राचीन और वर्तमान भारतीय साहित्य चिंतन को पूर्ण रूप से आत्मसात् कर मौलिक दृष्टि देने का प्रयास किया। उनके उपन्यास और कहानियाँ बिल्कुल नए दृष्टिकोण को हमारे सामने रखते हैं। तिब्बत और चीन के यात्र काल में उन्होंने हजारों ग्रंथों का उद्धार किया और उनके सम्पादन और प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त किया, ये ग्रन्थ पटना संग्रहालय में है। यात्रा साहित्य में महत्त्वपूर्ण लेखक राहुल जी रहे है। उनके यात्र वृतांत में यात्र में आने वाली कठिनाइयों के साथ उस जगह की प्राकृतिक सम्पदा, उसका आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन और इतिहास अन्वेषण का तत्त्व समाहित होता है। 'किन्नर देश की ओर', 'कुमाऊ', 'दार्जिलिंग परिचय' तथा 'यात्र के पन्ने' उनके ऐसे ही ग्रन्थ है।

राहुल सांकृत्यायन का मानना था कि घुमक्कड़ी मानव-मन की मुक्ति का साधन होने के साथ-साथ अपने क्षितिज विस्तार का भी साधन है। उन्होंने कहा भी था कि–'कमर बाँध लो भावी घुमक्कड़ों, संसार तुम्हारे स्वागत के लिए बेकरार है।' राहुल ने अपनी यात्र के अनुभवों को आत्मसात् करते हुए 'घुमक्कड़ शास्त्र' भी रचा। वे एक ऐसे घुमक्कड़ थे, जो सच्चे ज्ञान की तलाश में था और जब भी सच को दबाने की कोशिश की गई तो वह बागी हो गया। उनका सम्पूर्ण जीवन अन्तर्विरोधों से भरा पड़ा है। वेदान्त के अध्ययन के पश्चात जब उन्होंने मंदिरों में बलि चढ़ाने की परम्परा के विरूद्ध व्याख्यान दिया तो अयोध्या के सनातनी पुरोहित उन पर लाठी लेकर टूट पड़े। बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बावजूद वह इसके 'पुनर्जन्मवाद' को नहीं स्वीकार पाए। बाद में जब वे मार्क्सवाद

की ओर उन्मुख हुए तो उन्होंने तत्कालीन सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी में घुसे सत्तालोलुप सुविधापरस्तों की तीखी आलोचना की और उन्हें आन्दोलन के नष्ट होने का कारण बताया। सन् 1947 में अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष रूप में उन्होंने पहले से छपे भाषण को बोलने से मना कर दिया एवं जो भाषण दिया, वह अल्पसंख्यक संस्कृति एवं भाषाई सवाल पर कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों के विपरीत था। नतीजन पार्टी की सदस्यता से उन्हें वंचित होना पड़ा, पर उनके तेवर फिर भी नहीं बदले। इस कालावधि में वे किसी बंदिश से परे प्रगतिशील लेखन के सरोकारों और तत्कालीन प्रश्नों से लगातार जुड़े रहे। इस बीच मार्क्सवादी विचारधारा को उन्होंने भारतीय समाज की ठोस परिस्थितियों का आकलन करके ही लागू करने पर जोर दिया। अपनी पुस्तक 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' एवं 'दर्शन-दिग्दर्शन' में इस सम्बन्ध में उन्होंने सम्यक् प्रकाश डाला। अन्ततः सन् 1953-54 के दौरान पुनः एक बार वे कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बनाये गये।

एक कर्मयोगी योद्धा की तरह राहुल सांकृत्यायन ने बिहार के किसान-आन्दोलन में भी प्रमुख भूमिका निभाई। सन् 1940 के दौरान किसान-आन्दोलन के सिलसिले में उन्हें एक वर्ष की जेल हुई तो देवली कैम्प के इस जेल-प्रवास के दौरान उन्होंने 'दर्शन-दिग्दर्शन' ग्रन्थ की रचना कर डाली। 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के पश्चात् जेल से निकलने पर किसान आन्दोलन के उस समय के शीर्ष नेता स्वामी सहजानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित साप्ताहिक पत्र 'हुंकार' का उन्हें सम्पादक बनाया गया। ब्रिटिश सरकार ने फूट डालो और राज करो की नीति अपनाते हुए गैर कांग्रेसी पत्र-पत्रिकाओं में चार अंकों हेतु 'गुण्डों से लड़िए' शीर्षक से एक विज्ञापन जारी किया। इसमें एक व्यक्ति गाँधी टोपी व जवाहर बण्डी पहने आग लगाता हुआ दिखाया गया था। राहुल सांकृत्यायन ने इस विज्ञापन को छापने से इन्कार कर दिया पर विज्ञापन की मोटी धनराशि देखकर स्वामी सहजानन्द ने इसे छापने पर जोर दिया। अन्ततः राहुल ने अपने को पत्रिका के सम्पादन से ही अलग कर लिया। इसी प्रकार सन् 1940 में 'बिहार प्रान्तीय किसान सभा' के अध्यक्ष रूप में जमींदारों के आतंक की परवाह किए बिना वे किसान सत्याग्रहियों के साथ खेतों में उतर हँसिया लेकर गन्ना काटने लगे। प्रतिरोध स्वरूप जमींदार के लठैतों ने उनके सिर पर वार कर लहुलुहान कर दिया पर

वे हिम्मत नहीं हारे। इसी तरह न जाने कितनी बार उन्होंने जनसंघर्षों का सक्रिय नेतृत्व किया और अपनी आवाज को मुखर अभिव्यक्ति दी।

घुमक्कड़ी स्वभाव

ग्यारह वर्ष की उम्र में हुए अपने विवाह को नकारकर वे बता चुके थे कि उनके अंतःकरण में कहीं न कहीं विद्रोह के बीजों का वपन हुआ है। यायावरी और विद्रोह ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ कालांतर में विकसित हो गई, जिसके कारण पंदहा गाँव, आजमगढ़ में जन्मा यह केदारनाथ पांडेय नामक बालक देशभर में महापंडित राहुल सांकृत्यायन के नाम से प्रख्यात हो गया।

राहुल सांकृत्यायन सदैव घुमक्कड़ ही रहे। सन् 1923 से उनकी विदेश यात्रओं का सिलसिला शुरू हुआ तो फिर इसका अंत उनके जीवन के साथ ही हुआ। ज्ञानार्जन के उद्देश्य से प्रेरित उनकी इन यात्रओं में श्रीलंका, तिब्बत, जापान और रूस की यात्रएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। वे चार बार तिब्बत पहुँचे। वहाँ लम्बे समय तक रहे और भारत की उस विरासत का उद्धार किया, जो हमारे लिए अज्ञात, अलभ्य और विस्मृत हो चुकी थी।

अध्ययन-अनुसंधान की विभा के साथ वे वहाँ से प्रभूत सामग्री लेकर लौटे, जिसके कारण हिन्दी भाषा एवं साहित्य की इतिहास संबंधी कई पूर्व निर्धारित मान्यताओं एवं निष्कर्षों में परिवर्तन होना अनिवार्य हो गया। साथ ही शोध एवं अध्ययन के नए क्षितिज खुले।

भारत के सन्दर्भ में उनका यह काम किसी ह्वेनसांग से कम नहीं आँका जा सकता। बाह्य यात्रओं की तरह इन निबंधों में उनकी एक वैचारिक यात्र की ओर भी संकेत किया गया है, जो पारिवारिक स्तर पर स्वीकृत वैष्णव मत से शुरू हो, आर्य समाज एवं बौद्ध मतवाद से गुजरती हुई मार्क्सवाद पर जाकर खत्म होती है। अनात्मवाद, बुद्ध का जनतंत्र में विश्वास तथा व्यक्तिगत संपत्ति का विरोध जैसी कुछेक ऐसी समान बातें हैं, जिनके कारण वे बौद्ध दर्शन एवं मार्क्सवाद दोनों को साथ लेकर चले थे।

राष्ट्र के लिए एक राष्ट्र भाषा के वे प्रबल हिमायती थे। बिना भाषा के राष्ट्र गूँगा है, ऐसा उनका मानना था। वे राष्ट्रभाषा तथा जनपदीय भाषाओं के विकास व उन्नति में किसी प्रकार का विरोध नहीं देखते थे।

समय का प्रताप कहें या 'मार्क्सवादी के रूप में उनके मरने की इच्छा' कहें, उन्होंने इस आयातित विचार को सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान 'परमब्रह्म'

मान लिया और इस झोंक में वे भारतीय दर्शन, धर्म, संस्कृति, इतिहास आदि के बारे में कुछ ऐसी बातें कह बैठे या निष्कर्ष निकाल बैठे, जो उनकी आलोचना का कारण बने।

उनकी भारत की जातीय-संस्कृति संबंधी मान्यता, उर्दू को हिन्दी (खड़ी बोली हिन्दी) से अलग मानने का विचार तथा आर्यों से 'वोल्गा से गंगा' की ओर कराई गई यात्र के पीछे रहने वाली उनकी धारणा का डॉक्टर रामविलास शर्मा ने तर्कसम्मत खंडन किया है। मत-मतांतर तो चलते रहते हैं, इससे राहुलजी का प्रदेय और महत्त्व कम नहीं हो जाता।

बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद दोनों का मिलाजुला चिंतन उनके पास था, जिसके आधार पर उन्होंने नए भारत के निर्माण का 'मधुर स्वप्न' सँजोया था, जिसकी झलक हमें उनकी पुस्तक 'बाईसवीं सदी' में भी मिल जाती है। श्री राहुल ने अपने कर्तृत्व से हमें अपनी विरासत का दर्शन कराया तथा उसके प्रति हम सबमें गौरव का भाव जगाया।

उनके शब्दों में—''समदर्शिता घुमक्कड़ का एकमात्र दृष्टिकोण है और आत्मीयता उसके हरेक बर्ताव का सार।'' यही कारण था कि सारे संसार को अपना घर समझने वाले राहुल सन् 1910 में घर छोड़ने के पश्चात पुनः सन् 1943 में ही अपने ननिहाल पन्दहा पहुँचे। वस्तुतः बचपन में अपने घुमक्कड़ी स्वभाव के कारण पिताजी से मिली डाँट के पश्चात् उन्होंने प्रण लिया था कि वे अपनी उम्र के पचासवें वर्ष में ही घर में कदम रखेंगे। चूँकि उनका पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा ननिहाल में ही हुआ था, सो ननिहाल के प्रति ज्यादा स्नेह स्वाभाविक था। बहरहाल जब वे पन्दहा पहुँचे तो कोई उन्हें पहचान न सका पर अन्ततः लोहार नामक एक वृद्ध व्यक्ति ने उन्हें पहचाना और स्नेहासक्ति रूधे कण्ठ से 'कुलवन्ती के पूत केदार' कहकर राहुल को अपनी बाँहों में भर लिया। अपनी जन्मभूमि पर एक बुजुर्ग की परिचित आवाज ने राहुल को भावविभोर कर दिया। उन्होंने अपनी डायरी में इसका उल्लेख भी किया है—''लाहौर नाना ने जब यह कहा कि 'अरे ई जब भागत जाय त भगइया गिरत जाय' तब मेरे सामने अपना बचपन नाचने लगा। उन दिनों गाँव के बच्चे छोटी पतली धोती भगई पहना करते थे। गाँववासी बड़े बुजुर्गों का यह भाव देखकर मुझे महसूस होने लगा कि तुलसी बाबा ने यह झूठ कहा है कि—'तुलसी तहाँ न जाइये, जहाँ जन्म को ठाँव, भाव भगति को मरम न जाने धरे पाछिलो नाँव।।''

घुमक्कड़ी स्वभाव वाले राहुल सांकृत्यायन सार्वदेशिक दृष्टि की ऐसी प्रतिभा थे, जिनकी साहित्य, इतिहास, दर्शन संस्कृति सभी पर समान पकड़ थी। विलक्षण व्यक्तित्त्व के अद्‌भुत मनीषी, चिन्तक, दार्शनिक, साहित्यकार, लेखक, कर्मयोगी और सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत रूप में राहुल ने जिन्दगी के सभी पक्षों को जिया। यही कारण है कि उनकी रचनाधर्मिता शुद्ध कलावादी साहित्य नहीं है, वरन् वह समाज, सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, विज्ञान, धर्म, दर्शन इत्यादि से अनुप्राणित है, जो रूढ़ धारणाओं पर कुठाराघात करती है तथा जीवन-सापेक्ष बनकर समाज की प्रगतिशील शक्तियों को संगठित कर संघर्ष एवं गतिशीलता की राह दिखाती है। ऐसे मनीषी को अपने जीवन के अंतिम दिनों में 'स्मृति लोप' जैसी अवस्था से गुजरना पड़ा एवं इलाज हेतु उन्हें मास्को भी ले जाया गया। पर घुमक्कड़ी को कौन बाँध पाया है, सो अप्रैल 1963 में वे पुनः मास्को से दिल्ली आ गए और 14 अप्रैल 1963 को सत्तर वर्ष की आयु में दार्जिलिंग में सन्यास से साम्यवाद तक का उनका सफर पूरा हो गया पर उनका जीवन दर्शन और घुमक्कड़ी स्वभाव आज भी हमारे बीच जीवित है।

राहुल जी घुमक्कड़ी के बारे में कहते हैं–

"मेरी समझ में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है घुमक्कड़ी। घुमक्कड़ से बढ़कर व्यक्ति और समाज का कोई हितकारी नहीं हो सकता। दुनिया दुख में हो चाहे सुख में, सभी समय यदि सहारा पाती है तो घुमक्कड़ों की ही ओर से। प्राकृतिक आदिम मनुष्य परम घुमक्कड़ था। आधुनिक काल में घुमक्कड़ों के काम की बात कहने की आवश्यकता है, क्योंकि लोगों ने घुमक्कड़ों की कृतियों को चुरा के उन्हें गला फाड़दृफाड़कर अपने नाम से प्रकाशित किया। जिससे दुनिया जानने लगी कि वस्तुतः तेली के कोल्हू के बैल ही दुनिया में सब कुछ करते हैं। आधुनिक विज्ञान में चार्ल्स डारविन का स्थान बहुत ऊँचा है। उसने प्राणियों की उत्पत्ति और मानव-वंश के विकास पर ही अद्वितीय खोज नहीं की, बल्कि कहना चाहिए कि सभी विज्ञानों को डारविन के प्रकाश में दिशा बदलनी पड़ी। लेकिन, क्या डारविन अपने महान आविष्कारों को कर सकता था, यदि उसने घुमक्कड़ी का व्रत न लिया होता। आदमी की घुमक्कड़ी ने बहुत बार खून की नदियाँ बहायी है, इसमें संदेह नहीं और घुमक्कड़ों से हम हरगिज नहीं चाहेंगे कि वे खून के रास्ते को पकड़ें। किन्तु घुमक्कड़ों के काफले न आते जाते, तो सुस्त मानव जातियाँ सो जाती और पशु से ऊपर नहीं उठ पाती। अमेरिका अधिकतर निर्जन सा पड़ा था। एशिया के कूपमंडूक को घुमक्कड़ धर्म की

महिमा भूल गयी, इसलिए उन्होंने अमेरिका पर अपनी झंडी नहीं गाड़ी। दो शताब्दियों पहले तक आस्ट्रेलिया खाली पड़ा था। चीन, भारत को सभ्यता का बड़ा गर्व है, लेकिन इनको इतनी अक्ल नहीं आयी कि जाकर वहाँ अपना झंडा गाड़ आते।"

व्यक्तित्त्व के आयाम

राहुल सांकृत्यायन उन विशिष्ट साहित्य सर्जकों में हैं जिन्होंने जीवन और साहित्य दोनों को एक तरह से जिया। उनके जीवन के जितने मोड आये, वे उनकी तर्क बुद्धि के कारण आये। बचपन की परिस्थिति व अन्य सीमाओं को छोडकर उन्होंने अपने जीवन में जितनी राहों का अनुकरण किया वे सब उनके अंतर्मन की छटपटाहट के द्वारा तलाशी गई थी। जिस राह को राहुलजी ने अपनाया उसे निर्भय होकर अपनाया। वहाँ न द्विविधा थी न ही अनिश्चय का कुहासा। ज्ञान और मन की भीतरी पर्तों के स्पंदन से प्रेरित होकर उन्होंने जीवन को एक विशाल परिधि दी। उनके व्यक्तित्त्व के अनेक आयाम हैं। उनकी रचनात्मक प्रतिभा का विस्तार भी राहुलजी के गतिशील जीवन का ही प्रमाण है। उनके नाम के साथ जुडे हुए अनेक विशेषण हैं। शायद ही उनका नाम कभी बिना विशेषण के लिया गया हो। उनके नाम के साथ जुडे हुए कुछ शब्द हैं महापंडित, शब्द-शास्त्री, त्रिपिटकाचार्य, अन्वेषक, यायावर, कथाकार, निबंध-लेखक, आलोचक, कोशकार, अथक यात्री और भी जाने क्या-क्या। जो यात्र उन्होंने अपने जीवन में की, वही यात्र उनकी रचनाधर्मिता की भी यात्र थी। राहुलजी के कृतियों की सूची बहुत लंबी है। उनके साहित्य को कई वर्गों में बाँटा जा सकता है। कथा साहित्य, जीवनी, पर्यटन, इतिहास दर्शन, भाषा-ज्ञान, भाषाविज्ञान, व्याकरण, कोश-निर्माण, लोकसाहित्य, पुरातत्त्व आदि। बहिर्जगत् की यात्राएँ और अंतर्मन के आंदोलनों का समन्वित रूप है राहुलजी का रचना-संसार। घुमक्कडी उनके बाल-जीवन से ही प्रारंभ हो गई और जिन काव्य-पंक्तियों से उन्होंने प्रेरणा ली, वे है ''सैर कर दुनिया की गाफिल, जिंदगानी फिर कहाँ, जंदगानी गर रही तो, नौजवानी फिर कहाँ?"

राहुलजी जीवन-पर्यन्त दुनियाँ की सैर करते रहे। इस सैर में सुविधा-असुविधा का कोई प्रश्न ही नहीं था। जहाँ जो साधन उपलब्ध हुए उन्हें स्वीकार किया। वे अपने अनुभव और अध्ययन का दायरा बढाते रहे। ज्ञान के अगाध भण्डार थे राहुलजी। राहुलजी का कहना था कि 'उन्होंने ज्ञान को सफर में नाव की तरह लिया है। बोझ की तरह नहीं।' उन्हें विश्व पर्यटक का विशेषण भी दिया गया।

उनकी घुमक्कडी प्रवृत्ति ने कहा "घुमक्कडों संसार तुम्हारे स्वागत के लिए बेकरार है।" अनेक ग्रंथों की रचना में उनके यात्र-अनुभव प्रेरणा के बिंदु रहे हैं। न केवल देश में वरन् विदेशों में भी उन्होंने यात्राएँ की, दुर्गम पथ पार किए। इस वर्ग की कृतियों में कुछेक के नाम हैं–लद्दाख यात्रा, लंका यात्र, तिब्बत में सवा वर्ष, एशिया के दुर्गम भूखण्डों में, मेरी यूरोप-यात्र, दार्जिलिंग परिचय, नेपाल, कुमाऊँ जौनसार, देहरादून आदि। जहाँ भी वे गये वहाँ की भाषा और वहाँ की संस्कृति और साहित्य का गहराई से अध्ययन किया। अध्ययन से घुलमिल कर वहाँ की संस्कृति और साहित्य का गहराई से अध्ययन किया। अध्ययन की विस्तृति, अनेक भाषाओं का ज्ञान, घूमने की अद्‌भुत ललक, पुराने साहित्य की खोज, शोध-परक पैनी दृष्टि, समाजशास्त्र की अपनी अवधारणाएँ, प्राकृत-इतिहास की परख आदि वे बिंदु हैं, जो राहुलजी की सोच में यायावरी में, विचारणा में और लेखन में गतिशीलता देते रहे। उनकी यात्राएँ केवल भूगोल की यात्र नहीं है। यात्र मन की है, अवचेतन की भी है चेतना के स्थानांतरण की है। व्यक्तिगत जीवन में भी कितने नाम रूप बदले इस रचनाधर्मी ने। बचपन में नाम मिला केदारनाथ पाण्डे, फिर वही बने दामोदर स्वामी, कहीं राहुल सांकृत्यायन, कहीं त्रिपिटकाचार्य आदि नामों के बीच से गुजरना उनके चिंतक का प्रमाण था। राहुल बाह्य यात्रा और अंतर्यात्र के विरले प्रतीक हैं।

ज्ञान की खोज में घूमते रहना राहुलजी की जीवनचर्या थी। उनकी दृष्टि सदैव विकास को खोजती थी। भाषा और साहित्य के संबंध में राहुलजी कहते हैं–"भाषा और साहित्य, धारा के रूप में चलता है फर्क इतना ही है कि नदी को हम देश की पृष्ठभूमि में देखते हैं जबकि भाषा देश और भूमि दोनों की पृष्ठभूमि को लिए आगे बढती है।..... कालक्रम के अनुसार देखने पर ही हमें उसका विकास अधिक सुस्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद से लेकर 19वीं सदी के अंत तक की गद्य धारा और काव्य धारा के संग्रहों की आवश्यकता है।"

राहुलजी का पूरा जीवन साहित्य को समर्पित था। साहित्य-रचना के मार्ग को उन्होंने बहुत पहले से चुन लिया था। सत्यव्रत सिन्हा के शब्दों में–"वास्तविक बात तो यह है कि राहुलजी ने किशोरावस्था पार करने के बाद ही लिखना शुरू कर दिया था। जिस प्रकार उनके पाँव नहीं रुके उसी प्रकार उनके हाथ की लेखनी भी नहीं रुकी। उनकी लेखनी की अजस्रधारा से विभिन्न विषयों के प्रायः एक सौ पचास से अधिक ग्रंथ प्रणीत हुए।"

राहुलजी के व्यक्तित्त्व का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है-स्वतंत्रता आंदोलन में उनकी भागीदारी। भारत को आजादी मिले यह उनका सपना था और इस सपने को साकार करने के लिए वे असहयोग आंदोलन में निर्भय कूद पडे। शहीदों का बलिदान उन्हें भीतर तक झकझोरता था। उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था-"चौरी-चौरा कांड में शहीद होने वालों का खून देश-माता का चंदन होगा।"

राहुलजी के व्यक्तित्त्व में परहेज जैसी कोई संकीर्णता नहीं थी। विगत को जानना ओर उसमें पैठना, वर्तमान की चुनौती को समझना और समस्याओं से संघर्ष करना, भविष्य का स्वप्न सँवारना-यह राहुलजी की जीवन पद्धति थी। अतीत का अर्थ उनके लिए महज इतिहास को जानना नहीं था, वरन् प्रकृत इतिहास को भी समझना और जानना था। इतिहास का उन्होंने नये अर्थ में उपयोग किया। उनके शब्दों में," -जल्दी ही मुझे मालूम हो गया कि ऐतिहासिक उपन्यासों का लिखना मुझे हाथ में लेना चाहिए..... कारण यह कि अतीत के प्रगतिशील प्रयत्नों को सामने लाकर पाठकों के हृदय में आदर्शों के प्रति प्रेरणा पैदा की जा सकती है।" उनकी अनेक कृतियाँ जैसे, सतमी के बच्चे, जोंक, बोल्गा से गंगा, जययौधेय, सिंह सेनापति आदि इस बात के परिचायक हैं कि राहुलजी इतिहास, पुरातत्त्व, परंपरा, व्यतीत और अतीत को अपनी निजी विवेचना दे रहे थे। राहुलजी की इतिहास-दृष्टि विलक्षण थी। वे उसमें वर्तमान और भविष्य की कडयाँ जोडते थे। इतिहास उनके लिए केवल 'घटित' का विवरण नहीं था। उसमें से वे दार्शनिक चिंतन का आधार ढूँढते थे।

पूरे विश्व साहित्य के प्रति राहुलजी के मन में अपार श्रद्धा थी। वह साहित्य चाहे इतिहास से संबंधित हो, या संस्कृति से, अध्यात्म से संबंधित हो या यथार्थ से-सबको वे शोधार्थी की तरह परखते थे। उनकी प्रगतिशीलता में अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य को देखने का आग्रह था ओढी हुई विदेशी सभ्यता उनकी दृष्टि में हेय थी। वे अपनी भाषा, अपने साहित्य के पुजारी थे। वह साहित्य चाहे संस्कृत का हो, चाहे हिन्दी का, चाहे उर्दू का, चाहे भोजपुरी का। राष्ट्रीय चेतना के सन्दर्भ में वे कहते थे कि "यदि कोई 'गंगा मइया' की जय बोलने के स्थान पर 'बोल्गा' की जय बोलने के लिए कहे, तो मैं इसे पागल का प्रलाप ही कहूँगा।"

बोलियों और जनपदीय भाषा का सम्मान करना राहुलजी की स्वभावगत विशेषता थी। भोजपुरी उन्हें प्रिय थी। क्योंकि वह उनकी माटी की भाषा थी। लोक-नाट्य परंपरा को वे संस्कृति का वाहक मानते थे। लोकनाटक और लोकमंच किसी भी जनआंदोलन में अपनी सशक्त भूमिका निभाते हैं, यह दृष्टि

राहुलजी की थी। इसीलिए उन्होंने भोजपुरी नाटकों की रचना की। इसमें उन्होंने अपना नाम ''राहुल बाबा'' दिया। सामाजिक विषमता के विरोध में इन नाटकों में और गीतों में अनेक स्थलों पर मार्मिक उक्तियाँ कही गई हैं। बेटा और बेटी के भेदभाव पर कही गई ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं–"एके माई बापता से एक ही उदवा में दूनों में जनमवाँ भइल रे पुरखवा, पूत के जनमवाँ में नाच और सोहर होला बैटी जनम धरे सोग रे पुरखवा।" भोजपुरी के इन नाटकों को वे वैचारिक धरातल पर लाए और जन-भाषा में सामाजिक बदलाव के स्वर को मुखरित किया। ज्ञान की इतनी तीव्र पिपासा और जन-चेतना के प्रति निष्ठा ने राहुलजी के व्यक्तित्त्व को इतना प्रभा-मंडल दिया कि उसे मापना किसी आलोचक की सामर्थ्य के परे है। इसके अलावा जो सबसे बडी विशेषता थी-की वह यह थी कि यश और प्रशंसा के ऊँचे शिखर पर पहुँचकर भी वे सहृदय मानव थे राहुलजी भाषात्मक एकता के पोषक थे। वह सांप्रदायिक सद्भाव के समर्थक थे। अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। वे हर भाषा और उसके साहित्य को महत्त्व ही नहीं देते थे, वरन् उसे अपनाने की बात कहते थे। हिन्दी के अनन्य प्रेमी होने के बावजूद वे उर्दू और फारसी के साहित्यकारों की कद्र करते थे, वे कहते हैं, ''सौदा और आतिश हमारे हैं। गालिब और दाग हमारे हैं। निश्चय ही यदि हम उन्हें अस्वीकृत कर देते हैं तो संसार में कहीं और उन्हें अपना कहने वाला नहीं मिलेगा।''

राहुलजी अद्भुत वक्ता थे। उनका भाषण प्रवाहपूर्ण और स्थायी प्रभाव डालने वाला होता था। एक बार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने राहुलजी की भाषण शक्ति की प्रशंसा करते हुए कहा था, ''मैं गोष्ठियों, समारोहों, सम्मेलनों, में वैसे तो बेधडक बोलता हूँ लेकिन जिस सभा, सम्मेलन या गोष्ठी में महापंडत राहुल सांकृत्यायन होते हैं, वहाँ बोलने में सहमता हूँ। उनके व्यक्तित्त्व एवं अगाध विद्वत्ता के समक्ष अपने को बौना महसूस करता हूँ।" द्विवेदीजी का यह प्रशस्तिभाव इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि द्विवेदीजी स्वयं हिन्दी के असाधारण वक्ता और असाधारण विद्वान् थे। राहुलजी की कृतज्ञ भावना उनकी पुस्तक 'जिनका मैं कृतज्ञ' में देखने को मिलती है। इसके प्राक्कथन में उन्होंने लिखा है, 'जिनका मैं कृतज्ञ' लिखकर उस ऋण से उऋण होना चाहता हूँ, जो इन बुजुर्गों और मित्रों का मेरे ऊपर है। उनमें से कितने ही इस संसार में नहीं हैं। वे इन पंक्तियों को नहीं देख सकते। इनमें सिर्फ वही नहीं हैं जिनसे मैंने मार्गदर्शन पाया था। बल्कि ऐसे भी पुरुष हैं जिनका संफ मानसिक संबल के रूप में जीवन

यात्र के रूप में हुआ। कितनो से बिना उनकी जानकारी, उनके व्यवहार और बर्ताव से मैंने बहुत कुछ सीखा। मनुष्य को कृतज्ञ होना चाहिए।''

राहुलजी का व्यक्तित्त्व इतना बहुआयामी था कि उसको शब्दों की परिधि में बाँधना दु:साध्य है। उनका अध्ययन और लेखन इतना विशाल है कि कई-कई शोधार्थी भी मिलकर कार्य करें तो भी श्रम और समय की कोई एक सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। प्रवाहपूर्ण लेखनी और पैनी दृष्टि से वे ऐसे रचनाधर्मी थे, जिसने अपने जीवनकाल में ही यश के ऊँचे शिखर छू लिए थे। राहुलजी शब्द-सामर्थ्य और सार्थक-अभिव्यक्ति के मूर्तिमान रूप थे।

हिन्दी प्रेम

हिन्दी को राहुलजी ने बहुत प्यार दिया। उन्हीं के अपने शब्द है, "मैंने नाम बदला, वेशभूषा बदली, खान-पान बदला, संप्रदाय बदला लेकिन हिन्दी के संबंध में मैंने विचारों में कोई परिवर्तन नहीं किया।" राहुलजी के विचार आज बेहद प्रासंगिक हैं। उनकी उक्तियाँ सूत्र-रूप में हमारा मार्गदर्शन करती हैं। हिन्दी को खड़ी बोली का नाम भी राहुल जी ने ही दिया था।

हिन्दी के प्रसंग में वह कहते हैं–

" हिंदी, अंग्रेजी के बाद दुनिया के अधिक संख्या वाले लोगों की भाषा है। इसका साहित्य 750 इसवी से शुरू होता है और सरहपा, कन्हापा, गोरखनाथ, चन्द्र, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, बिहारी, हरिश्चंद्र, जैसे कवि और लल्लूलाल, प्रेमचंद जैसे प्रलेखक दिए हैं इसका भविष्य अत्यंत उज्जवल, भूत से भी अधिक प्रशस्त है। हिंदी भाषी लोग भूत से ही नहीं आज भी सब से अधिक प्रवास निरत जाति हैं। गायना (दक्षिण अमेरिका), फिजी, मर्शेस, दक्षिण अफ्रीका, तक लाखों की संख्या में आज भी हिंदी भाषा भाषी फैले हुए हैं।"

पुरस्कार व सम्मान

राहुल सांकृत्यायन की स्मृति में भारतीय डाकतार विभाग की ओर से 1993 में उनकी जन्मशती के अवसर पर 100 पैसे मूल्य का एक डाक टिकट जारी किया गया। पटना में राहुल सांकृत्यायन साहित्य संस्थान की स्थापना की गई है। यहाँ उनसे संबंधित वस्तुओं का एक संग्रहालय भी है। उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के पंदहा गाँव में राहुल सांकृत्यायन साहित्य संग्रहालय की स्थापना की गई है, जहाँ उनका जन्म हुआ था। वहाँ उनकी एक वक्षप्रतिमा भी

है। साहित्यकार प्रभाकर मावचे ने राहुलजी की जीवनी लिखी है और उनके व्यक्तित्त्व के उस हिस्से को उजागर किया है, जिससे लोग अनभिज्ञ थे। यह पुस्तक 1978 में पहली बार प्रकाशित हुई थी। इसका अनुवाद अंग्रेजी, रूसी आदि अनेक विदेशी भाषाओं में भी प्रकाशित हुआ। राहुल जी की कई पुस्तकों के अंग्रेजी रूपांतर तो हुए ही हैं, चीनी, रूसी आदि अनेक विदेशी भाषाओं में भी उनकी कृतियाँ लोकप्रिय हुई हैं। उन्हें 1958 में साहित्य अकादमी पुरस्कार, तथा 1963 में भारत सरकार के पद्मभूषण अलंकरण से विभूषित किया गया।

साहित्यिक कृतियाँ
कहानियाँ
सतमी के बच्चे
वोल्गा से गंगा
बहुरंगी मधुपुरी
कनैला की कथा
उपन्यास
बाईसवीं सदी
जीने के लिए
सिंह सेनापति
जय यौधेय
भागो नहीं, दुनिया को बदलो
मधुर स्वप्न
राजस्थान निवास
विस्मृत यात्री
दिवोदास
आत्मकथा
मेरी जीवन यात्रा
जीवनियाँ
सरदार पृथ्वीसिंह
नए भारत के नए नेता
बचपन की स्मृतियाँ
अतीत से वर्तमान
स्तालिन

लेनिन
कार्ल मार्क्स
माओ-त्से-तुंग
घुमक्कड़ स्वामी
मेरे असहयोग के साथी
जिनका मैं कृतज्ञ
वीर चन्द्रसिंह गढ़वाली
सिंहल घुमक्कड़ जयवर्धन
कप्तान लाल
सिंहल के वीर पुरुष
महामानव बुद्ध
यात्र साहित्य
लंका
जापान
इरान
किन्नर देश की ओर
चीन में क्या देखा
मेरी लद्दाख यात्र
मेरी तिब्बत यात्र
तिब्बत में सवा वर्ष
रूस में पच्चीस मास
विश्व की रूपरेखा

डॉ. धर्मवीर भारती

डॉ. धर्मवीर भारती आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख लेखक, कवि, नाटककार और सामाजिक विचारक थे। वे साप्ताहिक पत्रिका 'धर्मयुग' के प्रधान संपादक भी रहे। डॉ. धर्मवीर भारती को 1972 में पद्मश्री से सम्मानित किया गया। उनका उपन्यास 'गुनाहों का देवता' हिन्दी साहित्य के इतिहास में सदाबहार माना जाता है।

जन्म

धर्मवीर भारती का जन्म 25 दिसंबर 1926 को इलाहाबाद के 'अतरसुइया' नामक मोहल्ले में हुआ था। उनके पिता का नाम श्री. चिरंजीवलाल वर्मा और माता का नाम श्रीमती चंदादेवी था। भारती के पूर्वज पश्चिमी उत्तर प्रदेश में शाहजहाँपुर जिले के 'खुघ्दागंज' नामक कस्बे के जमीदार थे। पेड़, पौधों, फूलों और जानवरों तथा पक्षियों से प्रेम बचपन से लेकर जीवन पर्यन्त रहा। संस्कार देते हुए बड़े लाड़ प्यार से माता पिता अपने दोनों बच्चों धर्मवीर और उनकी छोटी बहन वीरबाला का पालन कर रहे थे कि अचानक उनकी माँ सख्त बीमार पड़ गयीं दो साल तक बीमारी चलती रही। बहुत खर्च हुआ और पिता पर कर्ज चढ़ गया। माँ की बीमारी और कर्ज से वे मन से टूट से गये और स्वयं भी बीमार पड़ गये। 1939 में उनकी मृत्यु हो गई।

शिक्षा

इन्हीं दिनों पाठ्य पुस्तकों के अलावा कविता पुस्तकें तथा अंग्रेजी उपन्यास पढ़ने का बेहद शौकघ जागा। स्कूल खत्म होते ही घर में बस्ता पटक कर वाचनालय में भाग जाते वहाँ देर शाम तक किताबें पढ़ते रहते। इंटरमीडियेट में पढ़ रहे थे कि गांधी जी के आह्वान पर पढ़ाई छोड़ दी ओर आजादी की लड़ाई में कूद पड़े। सुभाष के प्रशंसक थे, बचपन से ही शास्त्रों के प्रति आकर्षण भी जाग उठा था सो हर समय हथियार साथ में लेकर चलने लगे और 'सशस्त्र क्रांतिकारी दल' में शामिल होने के सपने मन में सँजोने लगे, पर अंततः मामा जी के समझाने बुझाने के बाद एक वर्ष का नुकसान करने के बाद इलाहाबाद विश्वविद्यालय में स्नातक की पढ़ाई के लिए दाखलिा लिया। कोर्स की पढ़ाई के साथ साथ उन्हीं दिनों शैली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ, टॅनीसन, एमिली डिकिन्सन तथा अनेक फ्रांसीसी, जर्मन और स्पेन के कवियों के अंग्रेजी अनुवाद पढ़े, एमिल जोला, शरदचंद्र, गोर्की, क्युप्रिन, बालजाक, चार्ल्स डिकेन्स, विक्टर हयूगो, दॉस्तोयव्स्की और तॉल्सतोय के उपन्यास खूब डूब कर पढ़े।

लेखन और पत्रकारिता

स्नातक, स्नातकोत्तर की पढ़ाई ट्यूशनों के सहारे चल रही थी। उन्हीं दिनों कुछ समय श्री पद्मकांत मालवीय के साथ 'अभ्युदय' में काम किया, इलाचन्द्र

जोशी के साथ 'संगम' में काम किया। इन्हीं दोनों से उन्होंने 'पत्रकारिता' के गुर सीखे थे। कुछ समय तक 'हिंदुस्तानी एकेडेमी' में भी काम किया। उन्हीं दिनों खूब कहानियाँ भी लिखीं। 'मुर्दों का गाँव' और 'स्वर्ग और पृथ्वी' नामक दो कहानी संग्रह छपे। छात्र जीवन में भारती पर शरत चंद्र चट्टोपाध्याय, जयशंकर प्रसाद और ऑस्कर वाइल्ड का बहुत प्रभाव था। उन्हीं दिनों वे माखन लाल चतुर्वेदी के सम्पर्क में आये और उन्हे पिता तुल्य मानने लगे। दादा माखनलाल चतुर्वेदी ने भारती को बहुत प्रोत्साहित किया।

उच्च शिक्षा संघ

स्नातक में हिन्दी में सर्वाधिक अंक मिलने पर प्रख्यात 'चिंतामणि गोल्ड मैडल' मिला। स्नातकोत्तर अंग्रेजी में करना चाहते थे, पर इस मैडल के कारण डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के कहने पर उन्होंने हिन्दी में नाम लिखा लिया। स्नातकोत्तर की पढ़ाई करते समय 'मार्क्सवाद' का उन्होंने धुंआधार अध्ययन किया। 'प्रगतिशील लेखक संघ' के स्थानीय मंत्री भी रहे लेकिन कुछ ही समय बाद साम्यवादियों की कट्टरता तथा देशद्रोही नीतियों से उनका मोहभंग हुआ। तभी उन्होंने छहों भारतीय दर्शन, वेदांत तथा बड़े विस्तार से वैष्णव और संत साहित्य पढ़ा और भारतीय चिंतन की मानववादी परम्परा उनके चिंतन का मूल आधार बन गयी।

शोध कार्य

डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन में 'सिद्ध साहित्य' पर शोध कार्य चल रहा था। साथ ही साथ उस समय कई कविताएँ लिखी गई जो बाद में 'ठंडा लोहा' नामक पुस्तक के रूप में छपी। और उन्हीं दिनों 'गुनाहों का देवता' उपन्यास लिखा। साम्यवाद से मोहभंग के बाद 'प्रगतिवाद: एक समीक्षा' नामक पुस्तक लिखी। कुछ अंतराल बाद ही 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' जैसा अनोखा उपन्यास भी लिखा।

इलाहबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी प्राध्यापक

शोधकार्य पूरा करने के बाद वहीं विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति हो गई। देखते ही देखते बहुत लोकप्रिय अध्यापक के रुप में उनकी प्रशंसा होने लगी। उसी दौरान 'नदी प्यासी थी' नामक 'एकांकी नाटक संग्रह' और 'चाँद और टूटे हुए लोग' नाम से कहानी संग्रह छपे। 'ठेले पर

हिमालय' नाम से ललित रचनाओं का संग्रह छपा और शोध प्रबंध 'सिद्ध साहित्य' भी छप गया। मौलिक लेखन की गति बड़ी तेजी से बढ़ रही थी। साथ ही अध्ययन भी पूरी मेहनत से किया जाता रहा। उस दौरान 'अस्तित्त्ववाद' तथा पश्चिम के अन्य नये दर्शनों का विशद अध्ययन किया। रिल्के की कविताओं, कामू के लेख और नाटकों, ज्याँ पॉल सार्त्र की रचनाओं और कार्ल मार्क्स की दार्शनिक रचनाओं में मन बहुत डूबा। साथ ही साथ महाभारत, गीता, विनोबा और लोहिया के साहित्य का भी गहराई से अध्ययन किया। गांधीजी को नयी दृष्टि से समझने की कोशिश की। भारतीय संत और सूफी काव्य और विशेष रूप से कबीर, जायसी और सूर को परिपक्व मन और पैनी हो चुकी समझ के साथ पुनः और समझा।

मुम्बई और संपादन

इसी बीच 1954 में श्रीमती कौशल्या अश्क द्वारा सुझाई गई एक पंजाबी शरणार्थी लड़की 'कांता कोहली' से विवाह हो गया। संस्कारों के तीव्र वैषम्य के कारण वह विवाह असफल रहा। बाद में सम्बंध विच्छेद हो गया। लेखन का काम अबाध चल रहा था। 'सात गीत वर्ष', 'अंधायुग', 'कनुप्रिया ' और 'देशांतर' प्रकाशित हो चुके थे। कुछ ही समय बाद बम्बई से एक प्रस्ताव 'धर्मयुग' के संपादन का आया। 'निकष' को आगे न चला पाने की कसक मन में थी ही, संपादन की ललक ने प्रस्ताव पर विचार किया और विश्वविद्यालय से एक वर्ष की छुट्टी लेकर 1960 में बम्बई चले आये।

पुनर्विवाह

धर्मयुग के संपादन में नये क्षितिज नजर आने लगे, साहित्यिक लेखन से इतर अपने देश के लिये बहुत कुछ बड़े काम किये जा सकते हैं यह समझ में आने लगा तो विश्वविद्यालय की नौकरी से त्यागपत्र देकर पूरे समर्पण के साथ धर्मयुग के संपादन में ध्यान केंद्रित किया। इस दौरान एक अत्यंत शिक्षित और संभ्रांत परिवार में जन्मी इलाहाबाद विश्वविद्यालय की शोध छात्र जो कलकत्ता के 'शिक्षायतन कॉलेज' में हिन्दी की प्राध्यापक बन चुकी थी, उससे विवाह किया। यही 'पुष्पलता शर्मा' बाद में पुष्पा भारती नाम से प्रख्यात हुई।

धर्मयुग पत्रिका

धर्मवीर भारती के द्वारा संपादित 'धर्मयुग' पत्रकारिता की कसौटी बन चुका है। आज के पत्रकारिता के विद्यार्थी उनकी शैली को 'धर्मवीर भारती स्कूल ऑफ जर्नलिज्म' के नाम से जानते हैं। सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, खेलकूद, साहित्यिक सभी पक्षों को समेटते हुए राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर हर अंक में सामग्री दी जाती थी। बच्चों और महिलाओं के लिये भी रोचक और ज्ञानप्रद सामग्री 'धर्मयुग' की अतिरिक्त विशेषता थी। उच्चतम स्तर का निर्वाह करते हुए असाधारण लोकप्रियता के साथ लाखों की संख्या में सर्वाधिक बिक्री के आँकड़े किसी चमत्कार से कम नहीं थे।

धर्मवीर भारती द्वारा की गयी यात्राएँ

1961 में 'कॉमनवेल्थ रिलेशन्स कमेटी' के आमंत्रण पर प्रथम विदेश यात्र–इंग्लैंड तथा यूरोप के कई देशों की की।

1962 में 'पश्चिम जर्मन सरकार' के आमंत्रण पर जर्मनी गये।

1966 में 'भारतीय दूतावास' के निमंत्रण पर इंडोनेशिया तथा थाइलैंड गये।

1971 मुक्तिवाहिनी के साथ बाँग्लादेश की गुप्त यात्र करने के बाद क्रांति का आँखों देखा वर्णन लिखा।

1971 में भारत-पाक युद्ध के दौरान भारतीय सेना के साथ स्वयं युद्ध क्षेत्र में जा कर वास्तविक युद्ध होते देखा और विस्तृत रिपोर्ताज लिखा।

1974 मॉरिशस यात्रा के दौरान भारतीय मूल की जनता से सीधा सम्पर्क करके 'धर्मयुग' का जो अंक निकाला, उससे दोनों देशों के बीच मजबूत सांस्कृतिक पुल बना।

1976 पुनः मॉरिशस यात्रा की।

1978 'चीन सरकार' के आमंत्रण पर चीन और सिंगापुर की यात्रा की।

1990 अमेरिका की निजी यात्रा की।

रचनाएँ

कविता

ठंडा लोहा (1952)
सात गीत वर्ष (1959)
कनुप्रिया (1959)

सपना अभी भी (1993)
आद्यन्त (1999)
पद्यनाटक
अंधायुग (1954)
कहानी संग्रह
मुर्दों का गाँव (1946)
स्वर्ग और पृथ्वी (1949)
चाँद और टूटे हुए लोग (1955)
बंद गली का आखरी मकान (1969)
साँस की कलम से (पुष्पा भारती द्वारा संपादित सम्पूर्ण कहानियाँ) (2000)

रेखाचित्र

कुछ चेहरे कुछ चिंतन (1997)

संस्मरण

शब्दिता (1997)

उपन्यास

गुनाहों का देवता(1949)
सूरज का सातवाँ घोडा (1952)
ग्यारह सपनों का देश (प्रारंभ और समापन) 1960

निबंध

ठेले पर हिमालय (1958)
कहनी अनकहनी (1970)
पश्यंती (1969)
साहित्य विचार और स्मृति (2003)

रिपोर्ताज

मुक्त क्षेत्रे–युद्ध क्षेत्रे (1973)
युद्ध यात्र (1972)

आलोचना

प्रगतिवाद: एक समीक्षा (1949)
मानव मूल्य और साहित्य (1960)
एकांकी नाटक
नदी प्यासी थी (1954)

अनुवाद

ऑस्कर वाइल्ड की कहानियाँ (1946)
देशांतर (21 देशों की आधुनिक कवितायें) 1960

यात्रा विवरण

यात्र चक्र (1994)
मृत्यु के बाद प्रकाशित
धर्मवीर भारती की साहित्य साधना (संपादन पुष्पा भारती) 2001
धर्मवीर भारती से साक्षात्कार (संपादन पुष्पा भारती) (1998)
अक्षर अक्षर यज्ञ (पत्र–संपादन पुष्पा भारती 1998)

संपादन

अभ्युदय
संगम
हिन्दी साहित्य कोष (कुछ अंश)
आलोचना
निकष
धर्मयुग

अवकाश ग्रहण

धर्मयुग को पत्रकारिता का आकाश छूती ऊँचाइयों तक पहुंचा कर सत्ताईस वर्षों तक लगातार पूरी एकाग्रता के साथ काम करने के उपरांत 1987 में अवकाश ग्रहण कर लिया।

बीमारी

1989 में हृदय रोग से गंभीर रूप से बीमार हो गये। बम्बई अस्पताल के डॉ. बोर्जेस के अथक प्रयासों और गहन चिकित्सा के बाद बच तो गये किंतु स्वास्थ्य फिर कभी पूरी तरह सुधरा नहीं। कई प्रकार के तनावों को झेलते हुए सत्ताईस बरस की रात और दिन की बेइंतिहा दिमागी मेहनत से शरीर काफी अशक्त हो चुका था। वे केवल अद्‌भुत इच्छा शक्ति के साथ काम करते रहे थे।

निधन

अंततः 4 सितंबर 1997 को नींद में ही मृत्यु को वरण कर लिया।

सम्मान एवं पुरस्कार

डॉ. धर्मवीर भारती को मिले सम्मान एवं पुरस्कार

1967	संगीत नाटक अकादमी सदस्यता–दिल्ली
1984	हल्दीघाटी श्रेष्ठ पत्रकारिता पुरस्कार–राजस्थान
1985	साहित्य अकादमी रत्न सदस्यता–दिल्ली
1986	संस्था सम्मान–उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
1988	सर्वश्रेष्ठ नाटककार पुरस्कार–संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली
1988	सर्वश्रेष्ठ लेखक सम्मान–महाराणा मेवाड़ फाउंडेशन–राजस्थान
1989	गणेश शंकर विद्यार्थी पुरस्कार–केंद्रीय हिन्दी संस्थान–आगरा
1989	राजेन्द्र प्रसाद शिखर सम्मान–बिहार सरकार
1990	भारत भारती सम्मान–उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
1990	महाराष्ट्र गौरव–महाराष्ट्र सरकार
1991	साधना सम्मान–केडिया हिन्दी साहित्य न्यास–मध्यप्रदेश
1992	महाराष्ट्राच्या सुपुत्रंचे अभिनंदन–वसंतराव नाईक प्रतिष्ठान–महाराष्ट्र
1994	व्यास सम्मान–के. के. बिड़ला फाउंडेशन–दिल्ली
1996	शासन सम्मान–उत्तर प्रदेश सरकार–लखनऊ
1997	उत्तर प्रदेश गौरव–अभियान संस्थान–बम्बई

फणीश्वरनाथ रेणु

फणीश्वरनाथ रेणु एक सुप्रसिद्ध हिन्दी साहित्यकार थे। हिन्दी कथा साहित्य के महत्त्वपूर्ण रचनाकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' का जन्म 4 मार्च 1921 को बिहार के पूर्णिया जिला के 'औराही हिंगना' गाँव में हुआ था। रेणु के पिता शिलानाथ मंडल संपन्न व्यक्ति थे। भारत के स्वाधीनता संघर्ष में उन्होंने भाग लिया था। रेणु के पिता कांग्रेसी थे। रेणु का बचपन आजादी की लड़ाई को देखते समझते बीता। रेणु ने स्वंय लिखा है–पिताजी किसान थे और इलाके के स्वराज–आंदोलन के प्रमुख कार्यकर्ता। खादी पहनते थे, घर में चरखा चलता था। स्वाधीनता संघर्ष की चेतना रेणु में उनके पारिवारिक वातावरण से आयी थी। रेणु भी बचपन और किशोरावस्था में ही देश की आजादी की लड़ाई से जुड़ गए थे। 1930–31 ई. में जब रेणु 'अररिया हाईस्कूल' के चौथे दर्जे में पढ़ते थे तभी महात्मा गाँधी की गिरफ्तारी के बाद अररिया में हड़ताल हुई, स्कूल के सारे छात्र भी हड़ताल पर रहे। रेणु ने अपने स्कूल के असिस्टेंट हेडमास्टर को स्कूल में जाने से रोका। रेणु को इसकी सजा मिली लेकिन इसके साथ ही वे इलाके के बहादुर सुराजी के रूप में प्रसिद्ध हो गए।

शिक्षा

रेणु की प्रारंभिक शिक्षा 'फॉरबिसगंज' तथा 'अररिया' में हुई। रेणु ने प्रारम्भिक शिक्षा के बाद मैट्रिक नेपाल के 'विराटनगर' के 'विराटनगर आदर्श विद्यालय' से कोईराला परिवार में रहकर किया। रेणु ने इन्टरमीडिएट काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 1942 में किया और उसके बाद वह स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े। 1950 में रेणु ने 'नेपाली क्रांतिकारी आन्दोलन' में भी भाग लिया।

उपन्यास 'परती परिकथा'

बाद में रेणु पढ़ने के लिए बनारस चले गये। बनारस में रेणु ने 'स्टुडेंट फेडरेशन' के कार्यकर्ता के रूप में भी कार्य किया। आगे चलकर रेणु समाजवाद से प्रभावित हुए। 1938 ई. में सोनपुर, बिहार में 'समर स्कूल ऑफ पॉलिटिक्स' में रेणु शामिल हुए। इस स्कूल के प्रिंसिपल जयप्रकाश नारायण थे और कमला देवी चट्टोपाध्याय, मीनू मसानी, अच्युत पटवर्धन, नरेन्द्र देव, अशोक मेहता जैसे लोगों ने इस स्कूल में शिक्षण कार्य किया था। इसी स्कूल में भाग लेने के बाद रेणु समाजवाद और 'बिहार सोशलिस्ट पार्टी' से जुड़ गए।

समाजवाद के प्रति रुझान पैदा करने वाले लोगों में रेणु रामवृक्ष बेनीपुरी का भी नाम लेते हैं।

राजनीति और आंदोलन

वे सिर्फ सृजनात्मक व्यक्तित्त्व के स्वामी ही नहीं बल्कि एक सजग नागरिक व देशभक्त भी थे। 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' में उन्होंने सक्रिय रूप से योगदान दिया। इस प्रकार एक स्वतंत्रता सेनानी के रूप में उन्होंने अपनी पहचान बनाई। इस चेतना का वे जीवनपर्यंत पालन करते रहे और सत्ता के दमन और शोषण के विरुद्ध आजीवन संघर्षरत रहे। 1950 में बिहार के पड़ोसी देश नेपाल में राजशाही दमन बढने पर वे नेपाल की जनता को राणाशाही के दमन और अत्याचारों से मुक्ति दिलाने के संकल्प के साथ वहां पहुंचे और वहां की जनता द्वारा जो सशस्त्र क्रांति व राजनीति की जा रही थी, उसमें सक्रिय योगदान दिया। दमन और शोषण के विरुद्ध आजीवन संघर्षरत रहे 'रेणु' ने सक्रिय राजनीति में भी हिस्सेदारी की। 1952–53 के दौरान वे बहुत लम्बे समय तक बीमार रहे। फलस्वरूप वे सक्रिय राजनीति से हट गए। उनका झुकाव साहित्य सृजन की ओर हुआ। 1954 में उनका पहला उपन्यास 'मैला आंचल' प्रकाशित हुआ। मैला आंचल उपन्यास को इतनी ख्याति मिली कि रातों-रात उन्हें शीर्षस्थ हिन्दी लेखकों में गिना जाने लगा।

जीवन के सांध्यकाल में राजनीतिक आन्दोलन से उनका पुनः गहरा जुड़ाव हुआ। 1975 में लागू आपातकाल का जे.पी. के साथ उन्होंने भी कड़ा विरोध किया। सत्ता के दमनचक्र के विरोध स्वरूप उन्होंने पद्मश्री की मानद उपाधि लौटा दी। उनको न सिर्फ आपात स्थिति के विरोध में सक्रिय हिस्सेदारी के लिए पुलिस यातना झेलनी पड़ी बल्कि जेल भी जाना पड़ा। 23 मार्च 1977 को जब आपात स्थिति हटी तो उनका संघर्ष सफल हुआ। परन्तु वो इसके बाद अधिक दिनों तक जीवित न रह पाए। रोग से ग्रसित उनका शरीर जर्जर हो चुका था।

लेखन कार्य

फणीश्वरनाथ रेणु ने 1936 के आस-पास से कहानी लेखन की शुरुआत की थी। उस समय कुछ कहानियाँ प्रकाशित भी हुई थीं, किंतु वे किशोर रेणु की अपरिपक्व कहानियाँ थी। 1942 के आंदोलन में गिरफ्तार होने के बाद जब वे 1944 में जेल से मुक्त हुए, तब घर लौटने पर उन्होंने 'बटबाबा' नामक पहली

परिपक्व कहानी लिखी। 'बटबाबा' 'साप्ताहिक विश्वमित्र' के 27 अगस्त 1944 के अंक में प्रकाशित हुई। रेणु की दूसरी कहानी 'पहलवान की ढोलक' 11 दिसम्बर 1944 को 'साप्ताहिक विश्वमित्र' में छ्पी। 1972 में रेणु ने अपनी अंतिम कहानी 'भित्तिचित्र की मयूरी' लिखी। उनकी अब तक उपलब्ध कहानियों की संख्या 63 है। 'रेणु' को जितनी प्रसिद्धि उपन्यासों से मिली, उतनी ही प्रसिद्धि उनको उनकी कहानियों से भी मिली। 'ठुमरी', 'अगिनखोर', 'आदिम रात्रि की महक', 'एक श्रावणी दोपहरी की धूप', 'अच्छे आदमी', 'सम्पूर्ण कहानियाँ', आदि उनके प्रसिद्ध कहानी संग्रह हैं।

फिल्म 'तीसरी कसम'

उनकी कहानी 'मारे गए गुलफाम' पर आधारित फिल्म 'तीसरी कसम' ने भी उन्हें काफी प्रसिद्धि दिलवाई। इस फिल्म में राजकपूर और वहीदा रहमान ने मुख्य भूमिका में अभिनय किया था। 'तीसरी कसम' को बासु भट्टाचार्य ने निर्देशित किया था और इसके निर्माता सुप्रसिद्ध गीतकार शैलेन्द्र थे। यह फिल्म हिंदी सिनेमा में मील का पत्थर मानी जाती है। कथा-साहित्य के अलावा उन्होंने संस्मरण, रेखाचित्र और रिपोर्ताज आदि विधाओं में भी लिखा। उनके कुछ संस्मरण भी काफी मशहूर हुए। 'ऋणजल धनजल', 'वन-तुलसी की गंध', 'श्रुत अश्रुत पूर्व', 'समय की शिला पर', 'आत्म परिचय' उनके संस्मरण हैं। इसके अतिरिक्त वे 'दिनमान पत्रिका' में रिपोर्ताज भी लिखते थे। 'नेपाली क्रांति कथा' उनके रिपोर्ताज का उत्तम उदाहरण है।

आंचलिक कथा

उन्होंने हिन्दी में आंचलिक कथा की नींव रखी। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, एक समकालीन कवि, उनके परम मित्र थे। इनकी कई रचनाओं में कटिहार के रेलवे स्टेशन का उल्लेख मिलता है।

लेखन शैली

इनकी लेखन शैली वर्णनात्मक थी जिसमें पात्र के प्रत्येक मनोवैज्ञानिक सोच का विवरण लुभावने तरीके से किया होता था। पात्रों का चरित्र-निर्माण काफी तेजी से होता था, क्योंकि पात्र एक सामान्य-सरल मानव मन (प्राय:) के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता था। इनकी लगभग हर कहानी में पात्रों की

सोच घटनाओं से प्रधान होती थी। 'एक आदिम रात्रि की महक' इसका एक सुंदर उदाहरण है। इनकी लेखन-शैली प्रेमचंद से काफी मिलती थी और इन्हें आजादी के बाद का प्रेमचंद की संज्ञा भी दी जाती है। अपनी कृतियों में उन्होंने आंचलिक पदों का बहुत प्रयोग किया है।

मैला आंचल

'रेणु' जी का 'मैला आंचल' वस्तु और शिल्प दोनों स्तरों पर सबसे अलग है। इसमें एक नए शिल्प में ग्रामीण-जीवन को चित्रित किया गया है। इसकी विशेषता है कि इसका नायक कोई व्यक्ति (पुरुष या महिला) नहीं वरन् पूरा का पूरा अंचल ही इसका नायक है। मिथिलांचल की पृष्ठभूमि पर रचे इस उपन्यास में उस अंचल की भाषा विशेष का अधिक से अधिक प्रयोग किया गया है। यह प्रयोग इतना सार्थक है कि वह वहां के लोगों की इच्छा-आकांक्षा, रीति-रिवाज, पर्व-त्यौहार, सोच-विचार, को पूरी प्रामाणिकता के साथ पाठक के सामने उपस्थित करता है। इसकी भूमिका, 9 अगस्त 1954, को लिखते हुए फणीश्वरनाथ 'रेणु' कहते हैं, 'यह है मैला आंचल, एक आंचलिक उपन्यास। इस उपन्यास के केन्द्र में है बिहार का पूर्णिया जिला, जो काफी पिछड़ा है।' रेणु कहते हैं,

इसमें फूल भी है, शूल भी, धूल भी है, गुलाब भी, कीचड़ भी है, चंदन भी, सुंदरता भी है, कुरूपता भी—मैं किसी से दामन बचाकर नहीं निकल पाया।

भाषा द्वारा चित्रण

उन्होंने अंचल विशेष की भाषा का अधिक से अधिक प्रयोग किया ताकि उस जन समुदाय को ज्यादा से ज़्यादा प्रमाणिकता से चित्रित किया जा सके। 'रेणु' ने अपनी अनेक रचनाओं में आंचलिक परिवेश के सौंदर्य, उसकी सजीवता और मानवीय संवेदनाओं को अद्वितीय ढंग से वर्णित किया है। दृश्यों को चित्रित करने के लिए उन्होंने गीत, लय-ताल, वाद्य, ढोल, खंजड़ी नृत्य, लोकनाटक जैसे उपकरणों का सुंदर प्रयोग किया है। 'रेणु' ने मिथक, लोकविश्वास, अंधविश्वास, किंवदंतियाँ, लोकगीत—इन सभी को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। उन्होंने 'मैला आँचल' उपन्यास में अपने अंचल का इतना गहरा व व्यापक चित्र खींचा है कि सचमुच यह उपन्यास हिन्दी में आंचलिक औपन्यासिक परंपरा की सर्वश्रेष्ठ कृति बन गया है। उनका साहित्य हिंदी जाति के सौंदर्य बोध को समृद्ध करने

के साथ-साथ अमानवीयता, पराधीनता और साम्राज्यवाद का प्रतिवाद भी करता है। व्यक्ति और कृतिकार दोनों ही रूपों में 'रेणु' अप्रतिम थे।

रचनाएँ

रेणु की कुल 26 पुस्तकें हैं। इन पुस्तकों में संकलित रचनाओं के अलावा भी काफी रचनाएँ हैं, जो संकलित नहीं हो पायी, कई अप्रकाशित आधी अधूरी रचनाएँ हैं। असंकलित पत्र पहली बार 'रेणु रचनावली' में शामिल किये गये हैं।

साहित्यिक कृतियाँ
उपन्यास
मैला आंचल 1954
परती परिकथा 1957
जूलूस 1965
दीर्घतपा 1964 (जो बाद में कलंक मुक्ति (1972) नाम से प्रकाशित हुई)
कितने चौराहे 1966
पल्टू बाबू रोड 1979

कथा-संग्रह

आदिम रात्रि की महक 1967
ठुमरी 1959
अगिनखोर 1973
अच्छे आदमी 1986

❑❑❑